॥ श्रीः ॥

आर्यसमाज प्रवर्तक

स्वामी दयानन्द सरस्वती

का

निजमत

लेखक व प्रकाशक

सनातनधर्मोपदेशक—पं० गङ्गाप्रसाद शास्त्री

तर्करत्न

मू० १० आना

आर्यसमाज प्रवर्तक

स्वामी दयानन्द सरस्वती

का

निजमत

---:o:---

पं० गङ्गाप्रसाद शास्त्रिविरचित

विद्यावाचस्पति

श्रीपं० प्रभुदत्त शास्त्रिसंशोधित

---:*:---

प्रथम बार
२०००

संवत् १९८४

मूल्य ॥=)

भूमिका

आर्यसमाज प्रवर्तक स्वा० दयानन्द सरस्वतीको गुहा प्रवेश किये हुए ५० वर्षके लगभग व्यतीत होचुके परन्तु खेद है कि उनके मुख्य उद्देश्य समझनेके लिये अब तक किसी ने भी सराहनीय चेष्टा नहीं की।

यह एक स्वाभाविक प्रवृत्ति है कि मनुष्य अपने कैसे ही अनुचित विचारोंको दूसरोंपर बलात् लादना चाहता है और दूसरे के विचार चाहे कितने ही उदार तथा मार्जित हों पर उनकी अवहेलना किये बिना नहीं रहता अपने से विरुद्ध विचार रखने वालोंको मिथ्या कलङ्क निन्दा दुर्वचन कहना तो आजकल समालोचनाका अङ्ग ही बन गया है ऐसी दशा में अपने से विरुद्ध विचार रखने वाले स्वा० दयानन्द सरस्वती के विचार पारावारमें मन्थराचलकी भांति निमग्न होकर तात्त्विक गम्भीरता का पता लगाने वाले अनेक मनुष्य नहीं मिल सकते।

इस पुस्तक में यह सिद्ध किया गया है "कि स्वा० दयानन्द सरस्वती सनातनधर्मके ही प्रधानपुरस्कर्ता थे" यद्यपि इसे मानने के लिये आज कोई भी उद्यत नहीं है परन्तु यह किसी के पास प्रमाण नहीं है कि इसको भविष्य में भी कोई न मानेगा।

यदि आज मैं अनुदार मनुष्यसमाजके कटाक्षोंसे भयभीत होकर स्वा० दयानन्द द्वारा की गई सनातनधर्म की सेवाओंके वर्णन करनेमें मौनता स्वीकार करूं तो फिर दो अक्षर का [illegible] करने से लाभ ही क्या हुआ।

विद्वानोंके हृदयमें यह एक असह्य बाण गड़ा रहता है जो गुणवान्के गुण वर्णन करनेमें मौनता स्वीकार की जाती है किसी कविने कहा है कि—

वागजन्मवैफल्यमसह्यशल्यं गुणाद्भुते वस्तुनि मौनिता चेत्

अर्थात्—वाणी का जन्म लेना निष्फल है तथा यह एक असह्य बाण है जो गुणयुक्त वस्तु की प्रशंसामें मौनता स्वीकार की जाती है कोई विक्षिप्त (पागल) पुत्र अपनी माता द्वारा कीगई सेवाओं का प्रतिफल न दे सके तो इसका कोई खेद नहीं परन्तु खेद तो इस बात का है कि वह पागल पुत्र अपनी उस सेवा करती हुई माताको पहचानता तक नहीं। जिस स्वा० दयानन्दने अपने जीवनको हिन्दूजातिके लिये न्यौछावर कर दिया उस जातिवाले उन्हें श्रद्धाञ्जलि समर्पण करके कृतज्ञताका परिचय दें यह तो एक दूरकी बात है परन्तु आज तो वे यह पहिचाननेतकमें असमर्थ हो रहे हैं कि स्वामीजी हमारे हीथे। साधारण मनुष्य कस्तूरी के बाहरी मलिन रङ्ग को देखकर उसे फेंक सकता है। परन्तु भावुक मनुष्यके लिये यह एक कठिन बात है क्योंकि वह उसके बाहरी रङ्ग को न देख कर उसकी सुगन्धि से पहचान करना जानता है।

अनसमझ आदमी को ख्याल हो सकता है कि इस प्रकार स्वा० दयानन्दकी प्रशंसा करके आर्यसमाजकी चापलूसी की गई है परन्तु यह ध्यान रहे कि आर्यसमाजी इतने मूर्ख नहीं हैं जो स्वामीजी को सनातनी कहने पर भी प्रसन्न हो जावें उनकी प्रसन्नता या अप्रसन्नता का ध्यान रखने की आवश्यकता ही क्या है इसलिये अनसमझोंकी बातों पर अधिक लिखना व्यर्थ है।

इस पुस्तक में प्रसंगवश जैन बौद्ध सिक्ख आर्य सनातनी सबकी चर्चा की गई है इसलिये इसको "हिंदुस्तानका मूलमन्त्र" कहा जाय तो कोई अनुचित बात नहीं है अब सनातनी जनताको यह विदित होगा कि स्वामी दयानन्द सरस्वतीने हमारा ही कार्य सम्पादन किया है तो जो आज स्वामीजीका विरोध तथा कर ग्लानि करते हैं उनसे प्रेम करने लगेंगे इस प्रकार आर्य और सनातनियोंका संगठन होकर देश और जातिका अतीव उपकार होना सम्भव है।

स्वामी दयानन्द सरस्वतीजी सनातनधर्मके प्रचार पुरस्कर्ता होनेसे आर्यसमाजी तथा सनातनी दोनोंकी ही नाक भोंहें भिन्न २ कारणोंसे सिकुड़ना सम्भव है परन्तु कभी किसीके संकोचसे सचाईके प्रकट करनेमें संकोच करना न चाहिये।

इस पुस्तकमें केवल स्वामीजीके मतका दिग्दर्शन मात्र कराया गया है क्योंकि उनके वेदभाष्य तथा उर्दूमें लिखे हुए जीवन चरित्रोंके पढ़नेका हमको अवकाश नहीं मिला था और उनसे प्रमाणोंके उद्धृत करनेसे पुस्तकके आकार बढ़ जानेका भी भय था इसलिये विद्वज्जन इस विषयका अधिक विवेचन करना चाहें तो स्वामीजीके लिखे हुए ग्रन्थोंका सूक्ष्मरीतिसे आलोडन तथा उनके जीवनकी घटनाओंका जहां तक होसके पुनर्विवेचन करनेकी कृपा करें।

जहांतक होसका है यह ध्यान रक्खा गया है कि इस पुस्तकमें अप्रमाणिक तथा निस्सार कोई बात न लिखी जावे परन्तु मनुष्य स्वभाव अल्पज्ञ होनेसे ऐसा हो जाना पद २ पर सम्भव है अतएव सज्जन क्षमा करेंगे।

इदं दयानंदसरस्वतीमतं निजं पुरस्ताद्विदुषां समर्प्यते विचारयिष्यान्तितरां विपश्चित उदात्तमत्येति निवेद्यते मया ।

अर्थात्—यह "स्वा० दयानन्दसरस्वती का निजमत" विद्वानोंके सन्मुख उपस्थित किया जाता है आशा है कि पण्डित अपनी उदार बुद्धिसे इस पर विचार करेंगे बस यही अन्तिम निवेदन है ।

(श्रा० शु० १० सं० १९८४ वि०) पं० गङ्गाप्रसाद शास्त्री

रामगढ़ (अलवर)
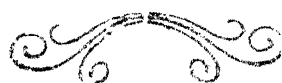
* ओ३म् *

मंगलाचरण

यां मेधां देवगणाः पितरश्चोपासते
तयामामद्यमेधया अग्ने मेधाविनं कुरु स्वाहा (य०)
यस्माज्जातं जगत्सर्वं यस्मिन्नेव विलीयते
येनेदं धार्यते चैव तस्मै ज्ञानात्मने नमः

इस धर्मप्राण आर्यजातिपर सृष्टिके आदिसे लेकर अनेक घोर संकट आये परन्तु आश्चर्यकी बात है कि अभी तक यह जीवित है संसारकी अनेक जातियां बेबिलोनियां आदि आविर्भाव होकर तिरोभावको प्राप्त हो चुकी और अब उनका नाम केवल इतिहासके पृष्ठों पर शेष है परन्तु यह वृद्ध आर्यजाति अब भी तरुण जातियोंसे टक्कर लेनेके लिए सन्नद्ध है जिसका एकमात्र कारण यही है कि इस जातिमें अनेक अवतार तथा बड़े २ योगी सन्यासी महात्माओं का प्रादुर्भाव होता रहता है जो समय २ पर देशकालानुसार इस जातिकी कायाकल्प किया करते हैं इसके लिए इसके पिछले इतिहास पर सिंहावलोकन करना आवश्यक प्रतीत होता है।

महाभारतके अनन्तर देशमें एक महान् विप्लव उत्पन्न हुआ और अविद्याने आर्योंके हृदयों पर अपना प्रभुत्व स्थापन करना प्रारम्भ किया। ब्राह्मणोंको स्वार्थ और क्षत्रियोंको भोग विलास सताने लगा, मांस मदिराकी चर्चा सर्वत्र फैल गई और जिन यज्ञोंको * अध्वर (हिंसारहित) कहते थे वेही हिंसाके केन्द्र बनगये आजकलके बूचड़खानोंसे उस समयकी यज्ञ-शालाओंका भयानक दृश्य था अब पशुवधके अनन्तर चर्म [illegible] अब जीवित पशुओंकी ही चर्म उतारी

जाने लगी और पशुओंकी इन्द्रियोंको नोंच २ कर ओषधियोंकी ही अग्निमें आहुति देने से यज्ञकुण्ड चिताकुण्डकी भांति चटचटाने लगे अग्निपर पकते हुए मांसके पुरोडाशसे वायु सुगन्धित समझा जाने लगा (वाल्मीकीय रामा० बा० स० १४ श्लो० ३६) और बेजुबानों के रक्त की नदी बह निकली (मेघदूत श्लो०) जिसका वर्णन महाभारतमें इस प्रकार है—

सांकृते रन्तिदेवस्य यां रात्रिं न्यवसन् गृहे
आलभ्यन्त शतं गावः सहस्राणि च विंशतिः
तत्र स्म सूदाः क्रोशन्ति सुमृष्टमणिकुण्डलाः
सूपं भूयिष्ठमश्नीध्वं नाद्य मांसं यथा पुरा

(म० शा० अ० २८, १२७—१२९)

संकृतिके पुत्र राजा रन्तिदेवके घर पर जिस रातको अतिथि ठहरे उस रात्रिको २१०० गायें मारी गईं आये हुए अतिथियोंको भोजन समय अच्छे २ कुण्डल पहने हुए रसोइये पुकार कर कह रहे हैं कि अब केवल सूप (दाल) खाइये मांस आज उतना नहीं है जितना पहिले था।

इसके अतिरिक्त इन वाममार्गियोंने किस प्रकार प्रामाणिक ग्रन्थोंमेंभी हेर फेर मिलाकर अध्वरोंमें *पशु हिंसाका प्रचार करना प्रारम्भ किया उसका भी दिग्दर्शन कराना उचित है।

राजा दशरथके ऋष्यशृङ्ग द्वारा प्रारम्भ किये हुए यज्ञका वर्णन वाल्मीकीय रामायणमें इस प्रकार लिख दिया है।

---

*अध्वर इति यज्ञनाम ध्वरति हिंसाकर्मा तत्प्रतिषेधः नि० १।८
अध्वर यज्ञका नाम है क्योंकि इसमें हिंसाका निषेध है—

वेदज्ञ बुद्धिमान् ऋष्यशृंगने ध्यान करके कहा कि मैं तुझे पुत्रेष्टियज्ञ पुत्रोत्पत्तिके लिए कराऊंगा इस प्रकार दशरथके स्थानमें ऋष्यशृंगके बोल उठनेसे प्रत्येक व्यक्ति कह सकता है कि १४ सर्गके अन्तके श्लोकसे १५ सर्गके प्रथम श्लोकसे कोई सम्बन्ध नहीं है। और १३वें सर्गके अन्तिम श्लोकसे १५वें सर्गके प्रथम श्लोकका स्पष्ट सम्बन्ध है।

ततो वशिष्ठप्रमुखाः सर्व एव द्विजोत्तमाः
ऋष्यशृंगं पुरस्कृत्य यज्ञकर्मारभंस्तदा
यज्ञवाटं गताः सर्वे यथाशास्त्रं यथाविधि
श्रीमांश्च सह पत्नीभी राजादीक्षामुपाविशत्
(वा० स० १३ श्लो० ३०)

वसिष्ठ आदि सारे ब्राह्मण ऋष्यशृंगको आगेकरके यज्ञ-स्थानमें आकर यथाविधि यज्ञ करानेलगे और राजा अपनी पत्नियों सहित दीक्षामें बैठा इन श्लोकोंके अनन्तर १५वें सर्गके श्लोकों द्वारा ऋष्यशृंगके ध्यान करके राजाको पुत्र प्राप्तिके लिए कहना और यज्ञका आचार्यत्व स्वीकार करलेना समुचित ही है—

इससे १३वें सर्गका १५वें सर्गसे सम्बन्ध है १४वां सर्ग जिसमें अश्वमेधका प्रकरण है १५वें सर्गसे अन्वय नहीं खाता इसके अतिरिक्त १४वें सर्गका प्रारम्भ भी तेरहवें सर्ग की समाप्तिसे नहीं मिलता—

सरय्वाश्चोत्तरे तीरे राज्ञो यज्ञोऽभ्यवर्तत।
ऋष्यशृंग पुरस्कृत्य, इत्यादि वा० स० १४ श्लोक १
[illegible] के उत्तर किनारे ऋष्यशृंगको आगे करके राजा
[illegible] बात तो उद्धृत किए हुए १३ वें

सर्गके अन्तके श्लोकोंमें कही जाचुकी (स० १३ श्लो० ४०) उसको पुनरुक्त दोषसे वर्णन करना आदिकाव्यको दूषित करना है अतएव चतुर्दश सर्ग प्रक्षिप्त ही समझना चाहिए-

प्रत्येक मनुष्य जानता है कि राजा दशरथ पुत्रेष्टि यज्ञ कर रहेथे पुत्रेष्टि यज्ञमें अश्व मारकर हवन करना किसीने भी नहीं माना है-और न अश्वमेध पुत्रेष्टि यज्ञका कोई अंगही है "महाभारतके वनपर्वमें रामोपाख्यान है उसमें समस्त रामचरित्र है परन्तु वहां रामचन्द्रजी के जन्मके लिये ऋष्यशृंग द्वारा कीगई पुत्रेष्टि का वर्णन नहीं है" (महा० मीमांसा० पृ० २२) तब अश्वमार कर हवन करने का प्रकरण १४वें सर्ग द्वारा मिला देना किसी धर्मद्रोही दुरात्मा के दुस्साहसके सिवाय और क्या कह सकते हैं यजुर्वेदमें स्पष्ट लिखा है—

योऽर्वन्तं जिघांसति तमभ्यमीति वरुणः परो मर्त्तः परः श्वा (यजुर्वेद २२।५) योऽर्वन्तमश्वं जिघांसति हन्तुमिच्छति वरुणः तमश्वं जिघांसन्तमभ्यमीति हिनस्ति (महीधरभाष्य)

जो अश्वको मारना चाहता है उसको वरुण नष्ट करता है। और वह मनुष्य निरंकुश कुत्तेको तरह अपमानित होता है- इसके अतिरिक्त शास्त्रोंमें एक गोघ्न, शब्द आतिथि का पर्याय-वाची आता है-उसका अर्थ भी इन वाममार्गियोंने "गांहन्तियस्मै इति गोघ्नः अतिथिः" अर्थात् गाय जिसके लिये मारीजाय उसे गोघ्न या अतिथि कहते हैं-ऐसा किया है-परन्तु यह इनका अज्ञान अथवा पक्षपात है-पाणिनिमुनिने धातुपाठमें हन् धातु हिंसा और गति (ज्ञान गमन प्राप्ति) अर्थमें लिखाहै इसलिए गोघ्न शब्दका अर्थ है कि गाय जिसके कारण प्राप्त कीजाय अर्थात् रखनी पड़े उसे गोघ्न कहते हैं पाणिनि मुनिने स्वयं अष्टाध्यायी मेंलिखा है "उपघ्न आश्रये" (अष्टा० ३।३।८५) यहां उपघ्न शब्दका

व्युत्पत्ति करते हुए भट्टोजी लिखते हैं कि "उपहन्यते सामीप्येन गम्यते इति उपघ्नः" जिसके समीप जावे उसे उपघ्न कहते हैं संघोद्धौगणप्रशंसयोः (अ०।३।३।८६) संहननंसंघः उद्धन्यते उत्कृष्टो ज्ञायते इति उद्धः, गत्यर्थानां ज्ञानार्थत्वात् हन्ति ज्ञाने (सि० कौ० पृ० ५४८) अर्थात् अच्छी प्रकार संगठितों का नाम संघ और और अच्छी प्रकार जाना जाय उसे उद्ध कहते हैं यहां स्पष्ट हन् धातु प्राप्ति और ज्ञानमें विद्यमान है इसी स्थान पर "दाश गोघ्नो सम्प्रदाने (अ० ३।४।७३) इस सूत्रमें गोघ्न शब्द सिद्ध किया है जब हन् धातुकाहिंसा अर्थ छोड़कर ज्ञान गमन प्राप्ति अर्थमें स्वयं पाणिनिने प्रयुक्त किया है तब गोघ्न शब्दमें गत्यर्थ न मानकर हिंसार्थक ही मानना कितना दुराग्रह है इसे पाठक स्वयं विचारें।

समस्त हिन्दुमात्र यह जानते हैं कि ऋषिमुनि लोग अतिथियोंका सत्कार दधि (मधुपर्क) दुग्धादिसे किया करते थे और आश्रममें एक २ गौ रखा करते थे यमदग्नि ऋषिके पास एक गौ थी जिसके दुग्धादि द्वारा संचित पदार्थोंसे राजा सहस्रार्जुनकी फौजका अतिथि सत्कार किया गया उस उत्तम गौ को राजाने छीनना चाहा इस पर झगड़ाबढ़ा यमदग्नि और सहस्रार्जुन दोनों मारे गये। और इसी अतिथि सत्कार के लिए वशिष्ठ के पास नन्दिनी नामक गौ थी जिसकी सेवा दिलीपने की थी-और वसुओं ने इसका हरण भी किया था और विश्वामित्र तथा वसिष्ठका झगड़ा भी इसी गौ पर हुआ था (म० भा) इससे सिद्ध है कि अतिथियों की सेवा और पूजाके लिये गृहस्थ लोग विशेष रूपसे गौ रखा करते थे परन्तु कालकी गति बड़ी प्रबल है जो गौ अतिथियोंकी सेवाके लिए माता स्वरूप थी उसको ही कृतघ्न

मनुष्य मार २ कर खाने लगे गौओंके करुणाक्रन्दनसे आकाश गूंज उठा और पृथ्वी थरथराने लगी। आवश्यकता हुई कि कोई ऐसी आत्माका अविर्भाव हो कि इस अन्याय को दूर करके हिन्दु जाति की इस कुसमयमें रक्षा करें।

जो ईश्वर इस संसारकी रचना करता है वही इसकी रक्षा करनेमें भी समर्थ है अतएव उसने गौतम बुद्ध तथा महावीर स्वा० को जगतमें प्रकट किया भगवान् बुद्ध तथा महावीर स्वा० का जन्म एक प्रसिद्ध राजकुलमें हुआ था अतएव सब प्रकार के भोग विलासकी सामग्री उनके लिए प्रस्तुत थी परन्तु क्या स्वभाविक ज्ञानी आत्मा इन विषयोंकी उपलब्धिसे लोकोपकार को भूल सकता है। वे रात दिन संसारकी चिन्तासे चिन्तित होने लगे जीवहिंसाके करुणा हृदयसे हृदय मोम होकर पिघलने लगा, और यामयाज्ञिकोंके अत्याचारसे उनका कलेजा दहल उठा पिता उन्हें एक चक्रवर्त्ती राजा देखना चाहते थे परन्तु वे तो आये ही और कार्यके लिये थे। गौतमबुद्धका बिवाह करके उनके पैरमें एक मनोरमा स्त्री की बेड़ी डालदी गई और उससे उनके एक पुत्र रत्न भी उत्पन्न हुआ पुत्रके उत्पन्न होनेसे वे व्यग्र हो उठे चित्तमें विचारने लगे कि मैं कठिनतासे जकड़ा गया और संसारके प्राणी दुर्दशामें हैं परन्तु जो आत्माएं निर्बन्ध हैं उन्हें कौन बांध सकता है उन्होंने पुत्र मुख देखकर चुपचाप बनकी राह ली। सनातनधर्मियों का विश्वास है कि बुद्ध ईश्वरके अवतार या आचार्य थे वेद यज्ञ ईश्वरकी सत्ता और धर्मके प्रचारके लिए ही युग २ में अवतार या आचार्य आया करते हैं परन्तु यहां कुछ बात ही और हुई उन्होंने गया नामक स्थानमें तपस्या करके बुद्धत्व प्राप्त किया और अपना सिद्धान्त प्रचार करनेके लिएकार्यक्षेत्रमें

उनसे वेद यज्ञ ईश्वर देवता आत्मा आदि का खण्डन करने लगे।

भगवान् बुद्ध का मत था कि आत्मा कोई स्वतन्त्र वस्तु नहीं है वह प्रकृतिसे चेतनताको प्राप्त होकर जन्म मरणके चक्कर में आती है उत्तम कर्मों द्वारा दीपक की भांति निर्वाण को प्राप्त हो जाती है और अन्तमें उसकी कोई सत्ता नहीं रह पाती। ईश्वर कोई वस्तु नहीं है, संसार शून्यसे उत्पन्न हुआ है, वेद मनुष्यकृत पुस्तक हैं यज्ञकरके पशुको स्वर्ग भेजते हो तो अपने पिताको मार कर स्वर्ग क्यों नहीं भेजदेते, यज्ञादि कार्य मिथ्या विश्वास है, वर्णाश्रम धर्म थोथा ढकोसला है तप करना व्यर्थ काया क्लेश है ।

अब विचार करना चाहिए कि क्या कोई उपर्युक्त मतका प्रचार करके भी वैदिक धर्मका रक्षक हो सकता है यदि नहीं तो फिर भगवान् बुद्ध किस प्रकार ईश्वरावतार या आचार्य माने जा सकते हैं अवतार या आचार्य तो बात ही दूसरी है इन उपर्युक्त बातोंमें से एक का भी प्रचार करने वाला सनातनधर्मी नहीं कहा जा सकता तब गौतम बुद्धमें क्या ऐसी बात थी जिसको लक्ष्य करके ऋषि मुनियोंने उनको अवतार या आचार्य समझ लिया ।

यह सब जानते हैं कि जितनी यज्ञोंमें पशुहिंसा होती थी वह सब ईश्वर तथा देवताओंकी तृप्तिके लिए और अपनेको स्वर्ग लेजानेके लिए होती थी वेदही इन यज्ञोंका आधार बताया जाताथा और स्वार्थी ब्राह्मण ही इन सब बातोंके प्रचारकथे। इस प्रकार वेदके नामपर होने वाली हिंसाका प्रचार रोकना चाहिए और उसके दोही मार्गथे। यातो इस सत्यताका प्रचार किया जाताकि—

नैष मार्गः सतां देवाः यत्र वध्येत वैः पशुः (म०शा० ३३७-५)

अर्थात् यह सज्जनोंका मार्ग नहीं है कि यज्ञमें पशुवध किया जाय।

कीटान्हत्वा पशून्हत्वा कृत्वा रुधिरकर्दमम्।
तेनैव गम्यते स्वर्गे नरकं केन गम्यते।

कीट और पशुओंको मार कर खूनकी कीचड़ करने सेही कोई स्वर्ग जाता है तो नरक जानेका और कौनसा मार्ग हो सकता है अतएव सात्विक यज्ञयाग द्वारा ईश्वर या देवताओंकी तृप्ति करनी चाहिए और इसीसे आत्माकी सद्गति प्राप्त होती है। दूसरा एक मार्ग हिंसानिवृत्तिका उस समय यह भी होसकताथा कि जिस ईश्वरकी तृप्ति केलिए यज्ञ करतेहो वह कोई है ही नहीं 'और जिस वेदके विश्वाससे करते हो वे वेदभी मिथ्या है यज्ञयाग सब व्यर्थ हैं जन्मसे ब्राह्मण कोई नहीं है इससे इन ब्राह्मणोंके उपदेशको मत मानो यह आत्मा कोई वस्तु नहीं है जिसे स्वर्ग लेजाना चाहते हो। भगवान् बुद्धने द्वितीय मार्गका ही अवलम्बन किया और याज्ञिक हिंसाको संसारसे विदा करदिया।

इन दोनों मार्गोंमें शीघ्रतासे हिंसा प्रचार को रोकने वाला मार्ग हमारी सम्मतिमें यही उत्तम था जो भगवान बुद्धने स्वीकार किया क्योंकि प्रथम मार्ग जिसमें वेदोंको प्रमाण मानकर यज्ञादि प्रचलित रखके उनसे हिंसाका संशोधन करना बहुत विलम्ब साध्य था और यही कारण था कि वेदादिके विरोध करने पर भी तत्कालीन मुनियोंने बुद्धको ईश्वरका अवतार या आचार्य मान लिया और यह वेदादि सहित हिंसानिषेधका एक आरजी और बनावटी साधन समझा गया।

ईश्वरीय इच्छा पूर्ण हुई और संसारमें शान्ति विराजने लगी वेदका विरोध आत्मा विषयक असत्कल्पना आदि जो कुछ बौद्धधर्म के कारण प्रचलित होगईथी उसका शंकराचार्यने खण्डन करके सनातन वैदिक धर्मका पुनरुज्जीवन किया।

यह तो अच्छाही हुआकि बौद्धधर्म भारतसे विदाहो करके अन्य देशोंमें बिस्तार पागया। परन्तु बौद्धोंकी दयालुतासे राक्षस प्रकृतिके मनुष्य अनुचित लाभ उठाने केलिए उद्यत होने लगे।

आज से १४०० वर्ष पूर्व अरब बड़ा जंगली देशथा वहां के लोगबड़े खूंख्वार होतेथे किसीके खेतमें एक ऊंट आगया खेत वाली स्त्रीने उसे मारदिया ऊंट वालेने स्त्रीके स्तन काटलिए इस बात पर सन ४९४ से ५३४ ई० तक ४० वर्ष अनेक घराने युद्ध करते रहे यह लड़ाई खुदाके दो नबियों में प्रारम्भ हुई थी जिसमें सत्तर हजार मनुष्य मारे गये।

किसी घुड़दौड़में किसीका घोड़ा किसीने चमका दिया इस पर सन ५६८ से सन् ६३१ ई० तक ६३ वर्ष आधा अरब कटता मरता रहा, वहां जिनाकारी मक्कारी शराब आदिका बाजार खूब गर्मथा किसीके पिताके यदि १० स्त्री हों और वह मर जाय तो उन सबको उसका बेटा अपनी बीवी बनालिया करता, उनके हरामीपन का वर्णन मौलाना हालीने इस प्रकार किया है।

"चलन उनके जितने थे सब वहशियाना,
हरयक लूट और मार में था यगाना।
वेथे कत्लोगारत में चालाक ऐसे,
दरन्दे हो जंगल में बेबाक जैसे।
तैशथा व ग़फलत थी दीवानगी थी,
गरज़ हरतरह [illegible]

शेख मुहम्मद यूसुफ एडीटरनूर (कादयानी) लिखते हैं कि-अरबमें वही आदमी कौममें ज़ियादा बारसूख व रईस शुमार किया जाताथा जो पानी की तरह शराब पीता हो और हैवानों कीतरह ज़िना करता हो और वहशी दरन्दों की तरह ज़ालिम व सफाक हो (बाबा नानक का मज़हब) उसी ज़माने में और उसी देश में हज़रत मुहम्मद सा० ने इस्लाम की नींव रक्खी।

अरब देशकी परिस्थितिके विचारनेसे यह तो साफ ही है कि ऐसे समयमें उत्पन्न होने वाले इसलाम धर्ममें दर्शनिक विचार और तात्विक विवेचन कहांसे होसकते हैं। उन लोगोंमें मस्तिष्क शक्ति तो कोई थी ही नहीं वेतो निरे खूंख्वार थे इसलिए उनकी चमकती हुई तलवार ही वर्तमान इसलाम धर्मका कारण बनी जिसको मसलराज ने तारीख फ़ीरोज़ शाहीमें स्वीकार किया है।

हम बुतारा सोख्तह हम बुतपरस्तां रा बसोख्त
हम बकुश्त आतशपरस्तां आतशरा हम बकुश्त।

अर्थात् मूर्तियोंको जलाडाला और बुतपरस्तोंको भी जला डाला पारसियों को भी मार डाला और उनकी आगको भी मारदिया।

अलबरुनी और ह्वेनच्यांग दोनों का यही मत है कि इस-लामके आरम्भमें सारे मध्य एशियामें बौद्धधर्मथा अन्य देशोंमें भी बौद्ध फिलासफी असर कर रहीथी अफ़गानिस्तान में प्राय बौद्धही थे इस लिए मुसलमानों की बनपड़ी और बौद्ध लोग तलवार के डरसे इसलाम में दाखिल होने लगे बख़्तियार खिलजी के समय समयमें मुहम्मद खिलजीने कुल दोसो आदमी लेकर [illegible] आश्चर्य की बात है

कि सारे बौद्ध भाग गए और बौद्धधर्म अपनी जन्म भूमिसे भी नष्ट हो गया।

परन्तु यह हाल हिंदुओंका नहीं था उन्होंने उनका तीव्र विरोध किया आसाम वालोंने मुहम्मद खिलजीको मार भगाया और दिल्लीमें ७०० वर्ष राज्य करने पर भी हिन्दुधर्मका कुछ नहीं बिगाड़ सके उसका वेग भारतमें आकर रुक गया और उसपर उलटा हिन्दुधर्म चढ़ बैठा जिसका वर्णन मौलाना हालीने इस प्रकार किया है।

वह दीने हजाज़ीका बेबाक बेड़ा
निशां जिसका अक्साय आलम में पहुंचा
मुज़ाहम हुआ कोई खतरा न जिसका--
न उम्मामें ठिठका न कुलजममें झिचका
किये पैस्पर जिसने सातों समन्दर--
वह डूबा दहानेमें गंगाके आकर
वहदीं जिससे तौहीद फैली जहांमें--
हुआ जलवागर हक़ जमी वो ज़मीमें
रहा शिर्क बाकी न वहमो गुमांमें--
वह बदलागया आके हिन्दोस्तांमें
मु० हा० स०

जिस समय इसलामकी तलवारका मुकाबिला हिन्दु लोग कर रहे थे स्त्रियां सती धर्मकी रक्षाके लिए अग्निमें प्रवेश कर रही थी दूधमुंहे बच्चे गर्भिणी अबलाएं कत्ल की जा रही थी आग लगाकर गांवके गांव फूंके जाचुके थे छः २ आनेमें यहांके लड़के लड़कियां गुलाम बनाकर बुगदाद बेच दिये गयेथे। भविष्य में अकबर जैसा कूटनीतिज्ञ और औरंजेब जैसे अत्याचारी बादशाह होने वाले थे जहां १२३ वर्षके करीब

७-८ खानदानोंने राज्य किया वहां ३३१ वर्ष तक एकही प्रभावशाली मुग़लिया ख़ानदानका राज्य भारत पर होता है। इस समय भी मुग़लिया खानदान के पहले बादशाह बाबरके साथ २ एक महान् आत्मा उत्पन्न हुई। जिसने हिन्दुधर्मकी रक्षा की वे श्री गुरुनानक देव थे।

जिस समयमें श्री गुरुदेव का जन्म हुआ वह समय बहुत ही नाज़ुक था घर बैठे हुए ही ब्राह्मणों की खाल उतारली जाती थी आंखें फुड़वा कर नीबू निचोड़ दिये जाते थे। मन्दिर तोड़े जारहे थे स्त्रियोंको अपने सतीत्वकी चिन्ता थी। भारत-भूमि गौओंके खूनसे सींची जारही थी।

उस समय किसीकी शक्ति थी जो इस अनादि सत्य सनातन धर्मकी रक्षाके लिए अपना हाथ बढ़ा सके। दिल्लीके पास कायन नामक ग्रामका एक जोधन ब्राह्मण बादशाह सिकन्दर लोदीके सामने इस जुर्म में पेश किया गया कि यह इसलामको सच्चाधर्म बताकर हिन्दुधर्मको भी सच्चाधर्म कहता है उलमाओंने इत्तिफाक़ रायसे फ़तवा दिया कि यातो जोधन मुसलमान होजाय वर्ना गर्दन मारीजाय ब्राह्मणकुलदीपक जोधनने इसलाम धर्म स्वीकार करनेसे इन्कार किया और मक़तूल हुआ (ता० फरि०, जि०, अ०, २५६) इस प्रकारके वातावरणमें भी श्रीगुरुदेवने अधोलिखित बेजोड़ मार्ग ढूंढ निकाला और वैदिकधर्म कीरक्षा करनेमें समर्थ होसके।

आपने मुसलमानी फकीरों की तरह नीले वस्त्र और पशमीने की टोपी पहरना प्रारम्भ किया कुरान नमाज़ पढ़ने का आसन वजू करनेके लिए कूंजा अपने पास रखने लगे (जन्म० क०, २०८, बारान् भा० गु० १३ ता० गु० खाल० २६२)

यहां तक कि एक चोला ऐसा पहना करते थे जिसपर कुरानकी आयतें और कलमा वग़ैरा भी लिखे हुए थे जोकि

आजकल डेरा बाबा नानक नामक नगर जिला गुरदासपुर की एक धर्म शालामें बतौर यादगार दर्शन के रखा हुआ है ।

मुसलमानी वेष धारण करनेसे इनके बादशाहों द्वारा कत्ल कराये जानेका डर बहुत कुछ मिट गया उन्होंने धर्म प्रचार का मार्ग भी एक नवीन ही निकाल लिया, हिन्दु और मुसलमानोंका एकसाथ खण्डन करना प्रारम्भ किया मुसलमान अपने को उम्मती खुदाके बन्दे अतएव उच्च समझते थे । हिन्दुओंको काला काफिर चोर बुतपरस्त और नीच मानते थे । बाबा नानकदेवने महात्मा कबीर की तरह मुसलमानों पर हिन्दुस्तान में सबसे प्रबल यही हमला कियाकि जो उनको हिन्दुओंके समान बता कर समालोचनाका मुख्य लक्ष्य बनाया । श्रीनानक देवने इस प्रकार का वेष जान बूझ कर बनाया था, क्योंकि वे जानते थे कि अत्याचारी यवनों में इस प्रकारके वेषके बिना जीवित रहना कठिन है जब शरीर ही नरहेगा तब धर्म की सेवा किस प्रकार होसकेगी परन्तु प्रश्न करने पर अपने को मुसलमान कहने से साफ इन्कार कर दिया करते थे इसका प्रमाण उनका मक्केमें कहा हुआ प्रसिद्ध शब्द है ।

हिन्दु कहां तो मारियां मुसलमान भी नाहि
पंचतत्व का पूतला नानक मेरा नाम ।

नतो मैं हिन्दु हूं जिसे तुम मारो और न मुसलमान ही हूं मैं तो पंच तत्वका पूतला हूं और मेरा नानक नाम है इससे स्पष्ट होजाता है कि उस समय अपने को हिन्दू कहना ही मानो मौत को आह्वान करना था। यह ध्यान रहे कि जहां वे हिन्दु धर्म पर टीका टिप्पणी करते थे वहां शास्त्रानुकूल ही करते थे परन्तु मुसलमानतो हिन्दु धर्म से बिलकुल अनभिज्ञ ही थे। यह उसे

हिन्दुओंका खण्डन समझ बैठने थे वह ज़माना तो दूर गया आजकल भी मुसलमानोंके दिमाग़ इतने नहीं बढे है जो हिन्दु धर्म से परिचय प्राप्त करसकें उदाहरणके लिए श्रीनानकदेवके दोचार शब्द लिखे जाते हैं

वेद पढे हरनाम नबूझे माया कारण पढ २ झूझे

(घं धना० म० ५)

पढ रहे सगले वेद ना चौके मन भेद ।

पंडत मैल न चौकिए जेवेदपढे जुगचार(ग० सोर० म०३)

इत्यादि वाक्यों को उद्धृत करके श्री नानकदेव को मुसलमानसिद्ध करनेहुए शेख मुहम्मद यूसुफ़ एडीटरनूर अपनी पुस्तक "बाबा नानक का मज़हब" के पृ० ४ पर लिखते हैं कि यहां बाबा नानकने वेदोंका खंडन किया है-परन्तु जो उन्हें थोडा भी ज्ञान होता तो ऐसा नहीं कहते उपर्युक्त शब्दोंका अभिप्राय तो स्वयं वेदोंमें लिखा है ।

स्थाणुरयं भारहरः किलाभूत् अधीत्य वेदं नविजानातियोऽर्थम्(नि०१।१८)

अर्थात् वह निरा काष्ठ और गधा है जो वेद पढ कर अर्थ नहीं जानता कोरा वेद चारों युग पढाजाय और उसके अनुसार कार्य न करे तो कभी मुक्ति नहीं मिल सकती ।

न धर्म शास्त्रं पठतीति कारणं न चापि वेदाध्ययनं दुरात्मनः

दुरात्माके सुधारका कारण न वेद पढना है और न धर्म शास्त्र क्योंकि वह उन्हें पढ कर भी स्वार्थके लिए अनुचित स्थानमें प्रयोग करता है ।

अब एडीटरनूरको दिखाना चाहिए कि गुरुदेवकी शिक्षा-

वेदानुकूल है या वेदविरुद्ध चार जुगकी कल्पना जो नानकदेव ने इन शब्दोंमें लिखी है वह हिन्दू मानते हैं या मुसलमान वेदके बाबत तो स्वयं गुरुदेव यह लिखते हैं।

त्रिगुणबाणीवेदविचार मखया मैल मखया व पार

(ग्रंथ म ३)

त्रिगुणात्मक अर्थात् सत्वरजतमोगुणवाले वेदको विचार और मैलको नष्ट करके पार होजा-इसका अर्थ जनाबने किया है ब्रह्मादि तीनों देवोंने वेद पढ़ा पर कुछ हासिल नहीं हुआ धन्य हो त्रिगुण बानी का अर्थ त्रिदेव किया है यह शब्द तो गीताके इस उपदेशके समानार्थक है।

त्रैगुण्यविषयावेदानिस्त्रैगुण्यो भवार्जुन ! (गीता २। ४५)

अर्थात् वेदोंसे सत्वरजादिका ज्ञान करके इन गुणोंसे छुटने का उपाय कर यही कथा श्री गुरुदेवने पद २ पर वेद की महिमा का गान किया है-

वेद पुरान झूंठमत भाख्यो झूंठा जो न विचारा (ग्रंथसा०)

चारवेद हूहहि सचयार पढहिगुनहिउनेचारविचार

भावभगति कर नीचसुदाए तऊ नानकमोखंतरपाये ग्रंसा०

वेदपुरान झूंठ नहीं है जिसने विचार नहीं किया वहझूंठा है चारों वेद सच्चे हैं जो विचार कर पढ़े भाव भक्तिसे नम्रता के साथ उनके अनुकूल आचरण करे तो नानक कहते हैं कि मुक्ति मिल जाती है-और देखिये—

आखें ग्रंथ मुख्य वेद पाठ एक ओङ्कार वेदनरमे—

अन्धेरा जाय वेद पाठ अथर्ववेद पठंग सकल पाप नठंग

(मास्टर लक्ष्मणकृत बाबा नानक और दीने इसलाम पृ० २)

सब ग्रंथों में मुख्य वेद पाठ है ऐसा ग्रंथ साहब कहते हैं-एक ईश्वरसे वेद उत्पन्न हुए हैं-वेदपाठसे अन्धेरा नष्ट होता

है अथर्ववेदके पढ़नेसे सब पाप नष्ट हो जाते हैं—

इसके अतिरिक्त बहुतसे ऐसे उपदेश हैं जोकि हिन्दुधर्मके हैं और मुसलमान अज्ञानतासे अभी अपने समझते हैं-

हुकमी आवे हुकमी जावे (ग्रंथसा) ईश्वर की आज्ञासे आता है और जाता है अर्थात् कर्मानुसार ईश्वर की प्रेरणासे जीवात्मा आता जाता रहता है इस पुनर्जन्मके उपदेशको भी एडीटरनूरने पुनर्जन्मके खण्डनमें लगाया है—

अव्वल अल्लानूर उपाया कुदरत दे सब बन्दे
एक नूर से सब जगउपजा कौन भले कौन मन्दे (ग्रं० सा०)
ईशजीवमें भेद न जानो साधु चोर सब ब्रह्म पिछानो--

सर्व प्रथम ईश्वर का नूर ही था फिर मायासे सब मनुष्य बने जब सब मनुष्योंमें एक ही आत्मा है तो कौन भला है और कौन बुरा है-ईश्वर और जीव में भेद नहीं है साधु और चोर सबका आत्मा ब्रह्म ही है इन वचनोंसे आंहजरत एडीटरनूर ने यह बात सिद्ध की है कि अजरूए पैदायश परहेज़गार और बदकारमें कोई भेद नहीं है परन्तु यह सब उपदेश इन वेद वचनोंके आधार पर है और इसलामके खण्डन करने वाले हैं-इन्द्रोमायाभिःपुरुरूपईयते (ऋग्वेद ३ । ४७ । १४ । ईश्वर अपनी माया (कुदरत) से सब रूपयों को धारण करके जगत् रूप हो जाता है-सर्वं खल्विदंब्रह्म (छा० ३ । १४ । १) यह सारा जगत् ब्रह्म है--जीवो ब्रह्मैवनापरः (गीतारहस्य २४२) जीव और ब्रह्म में भेद नहीं है-इन वचनोंसे इसलाम के इस अकीदे का खण्डन हो जाता है कि खुदा नेस्ती से हस्ती में लाता है अर्थात् प्रकृतिके बिना जगत् रचता है बाबा नानक के शब्दोंसे सिद्ध हो जाता है कि खुदा नेस्तीसे हस्त में नहीं ला सकता है बल्कि ब्रह्म ही जीव है दूसरे इस सिद्धान्त का

भी खण्डन होता है कि मनुष्योंके लिए हैवानात बनाये हैं परन्तु बाबाजीके उपदेश का अभिप्राय है कि सबकी आत्मा एक है किसीको किसी के मारने का हक़ नहीं है परन्तु हंसी आती है इन मियाओं की बुद्धियों पर जो खण्डन को मण्डन समझते हैं और आश्चर्य होता है गुरुदेवकी बुद्धि पर कि जिन्होंने इनके दिमागों का इतना अध्ययन कर रखा था कि इन लोगों को पागल बना अपने धर्म प्रचार का कार्य कर लिया करते थे। श्रीगुरुदेव सनातनधर्मी थे इसमें कोई सन्देह ही नहीं कर सकता जहां उपर्युक्त वचनोंसे वेद पर विश्वास और अद्वैत शंकर मत की पुष्टि होती है वहां उन्होंने प्रहलाद की कथा भी मानी है और नृसिंहावतार माना है इनके अतिरिक्त एक शब्दमें रामको अपना पूज्य माना है जिसने विभीषणको राज्य दिया था श्रीकृष्ण के लिए एक शब्द लिखा है कि

धन्य २ मेघा रोमावली जे कृष्ण ओढ़े कामली
धन्यमाता देवकीजेगृहे रमैया कमलापति (श्र०नामदेवकी बाणी)

उन भेड़ों को धन्य है जिनके बालों की कामली कृष्णने ओढी वह माता देवकी धन्य है जिनके घर ईश्वर विचरते है क्या इन शब्दोंके रहते कोई कह सकता है कि श्री नानकदेव सनातनधर्मी नहीं थे। समयने बतला दिया कि नानकदेवके शिष्योंने काबुल तक अपना राज्य जा जमाया और इसलामी सलतनतको गारत करदी वीरकेशरी हरिसिंह नलवाके नामसे मुसलमानस्त्रियां हाऊकी तरह अपने बच्चोंको डराकर सुलाया करती थी। हालमें ही हरिद्वार कुम्भपर उदासी साधुओंने एक पुस्तक प्रकाशितकी है जिसमें प्रतिपादन किया है कि सिक्ख धर्म और सनातनधर्म एक ही है श्रीगुरुदेवने कोई नया धर्मका उपदेश नहीं दिया।

औरङ्गजेबके समय में सिक्ख सम्प्रदाय इसलामकी शत्रु समझी जारही थी गुरुगोविन्दसिंह के बच्चे दीवारमें चुन दिये गये और सिक्ख अत्याचारों की शिकार बन रहे थे उनका बदला चुकानेके लिए सनातनधर्मी वीर बंदा बहादुर मैदानमें आ और सिक्ख धर्म या सनातनधर्म की रक्षाके लिए अपने ... दिल्ली में धर्म की वेदी पर बलिदान कर दिया इस वीरका ...न सिक्ख इतिहास में सुवर्ण के अक्षरों में लिखा है पर्डीटरन के कथनानुसार सिक्ख समाज का प्रवर्तक मुसलमान होतातो न उनपर कोई मुसलमानबादशाह अत्याचार करता और न वे सिक्ख इसलामके विरुद्ध तलवार उठाते और न बन्दा बहादुर एक क्षत्रियवीर और सनातनी होकर सिक्खों का साथ देकर बदला चुकाता और क्या कारण था जो सिक्ख धर्म की रक्षामें हिन्दु धर्म की रक्षा समझना (भाई परमानन्द कृत "वीर वैरागी" देखो)

उत्तरमें सिक्खोंने दक्षिणमें समर्थ श्रीरामदासके शिष्यवीर केशरी शिवाजीने और राजपूतोंने जो हिन्दुजातिकी रक्षाके लिए स्वार्थ त्याग किया उसके स्मरण मात्र से रोमाञ्च होता है उन्होंने सब कुछ देश और जातिकी रक्षाके लिये किया पाताल तक पहुंची हुई बादशाहत की जड़को उखाड़ कर फेंक दिया और इसलामकी चमकती हुई तलवार टूट कर गिर गई इन प्रातः स्मरणीय महात्माओंने जो कुछ देशजाति और धर्मकी रक्षाके लिए किया वह कुछ सहृदय पाठकोंसे गुप्त नहीं है। परन्तु हिन्दु जातिके पापोंका परिपाक अभी पूरा नहीं होपाया था और उसका दैव अभी उसी प्रकार प्रतिकूल था।

प्रतिकूलतामुपगते हि विधौ विफलत्वमेति बहुसाधनता।

अवलम्बनाय दिनभर्तुरभून्न पतिष्यतः कररुहस्त्रमपि ॥

विधाता के विरुद्ध होने पर सारे उद्योग विफल होजाते हैं सूर्य के डुबने के समय उसके सहस्त्रों हाथ रूपी किरण भी अवलम्बन केलिये नहीं होसकती। अभीतक एक बिपतिसे छुटकारा नहीं पायाथाकि ईसाई मिश्नरियोंकी चढाइयां होनेलगी।

ईसासे पूर्व भी भारत में अनेक विदेशी जातियां प्रविष्ट होती थी परन्तु धर्म प्राण ब्राह्मणों द्वारा हिन्दु बनाली जातीथी मुरुण्ड एक विदेशी जाति भारत में आई थी (भविष्य पुराण प्रतिसर्ग पर्व अ०३)जैनियोंके पार्श्वाभ्युदय काव्यमें लिखाई है कि

तोचत्रास्यारेः सकिल कलहे युद्धशौण्डो मुरुण्डः—

अर्थात् तेजस्वी शत्रु के युद्ध में मुरुण्ड राजा उदयन भी युद्ध कौशल दिखाने लगा इससे सिद्ध है कि उदयन मुरुण्ड जातिका था इसी उदयन राजाको उज्जैन के क्षत्रिय राजा चण्ड प्रद्योतकी लड़की वासवदत्ता और मगधके राजा दर्शककी बहिन पद्मावती व्याही थी इस से सिद्ध है कि इस मुरुण्ड जाति के उदयन को शुद्ध करके क्षत्रियों में प्रविष्ट कर लिया था भास और सुबन्धु सोमदेव और कालिदासने इसके यशो वर्णन में ग्रंथ लिखे हैं इस प्रकार अनेक उदाहरण भारतके लुप्तशेष इतिहासमें मिलेंगे जिन का वर्णन हम " सनातनधर्म प्रकाश " नामक ग्रंथमें करेंगे कि विधर्मियों की शुद्धि और उन्हें क्षत्रिय वर्णमें प्रविष्ट करना कहां तक धर्म शास्त्रोक्त है।

गत यवन शासन कालमें हिन्दुओंको शुद्धि बन्द करनीपड़ी क्योंकि प्रथम तो शक्ति ही किसकी थी जो शुद्ध करके अपनी जान जोखम में डाले फीरोज़ शाह तुगलक के जमाने में एक ब्राह्मण ने दिल्ली में एक मुसलमान औरत को शुद्ध करके हिन्दु

बनाली थी इसी अपराध पर उसे जिन्दा जलाया गया तारीख फीरोजशाही पृ० ३७९-३८१) जहां अत्याचारी यवनों की तरफसे इस प्रकार धर्मप्रचार में रुकावट थी वहां शुद्धि नहीं करनेका उस समय के हमारे धर्म प्रचारक ब्राह्मणोंका और ही रहस्यथा उन्होंने विचारा कि जो मुसलमानों को शुद्धि करके अपने धर्ममें मिलालिया जायगा तो सम्भव है कि बहुतसे लोग उस समय जबकि इसलाम से इन्कार करने पर कत्लका हुकम सुनाया जाताथा और वे हिन्दुजाति के रत्न धर्मत्यागके बदले बलिदान होकर अन्य हिन्दुओं केलिये उदाहरण बनजाते थे * इस ख्यालसे मुसलमान बन जातेकि फिर शुद्ध होजायेंगे परन्तु तब शुद्धिकर लेना हंसीठट्ठे की बातनहीं थी और उनका सदाके लिए मुसलमान रह जाना बहुत कुछ सम्भव था बस यही कारण है कि उस समय के नेताओंने हिन्दुजातिमें वह स्पिरिट भरदी कि जिसके कारण मुसलमान धर्म स्वीकार करने से मर जाना अच्छा समझने लगे और उन्हें केवल यही भयथा कि यदि एक बारभी मुसलमान होगये तो हिन्दुधर्म में मृत्यु नसीब नहीं होगी और यही कारण थाकि जिससे बौद्धों की तरह अधिक संख्या में वैदिक मतावलम्बी मुसलमान नहीं होते थे। समयकी अलौकिक महिमाहै किजो शुद्धिनिषेध हिन्दु-जाति की रक्षा का कारण था वही इस आर्य जातिके ह्रास का कारण बनने लगा महाकवि माघने कहा है कि—

समय एव करोति बलाबलं प्रणिगदन्त इतीव शरीरिणाम्
शरदि हंसरवाः परुषीकृत स्वरमयूरमयूरमणीयताम्।

---

* तारीख शाहने मालवा—हुलफा अमीर अहमद् साबी० ए०। तारीख फरिश्ता जिल्द दोयम पृ० ४८७।

समय एक ऐसी अद्भुत शक्ति है कि वह ही सबको सबल और निर्बल बनाता रहता है शरद् ऋतुमें हंसोंके शब्द रमणीय और मयूरोंके भद्दे होजाते हैं।

पादरी लोग इस शुद्धि निषेध से अनुचित लाभ उठाने लगे रात्रिको किसी कूप में झूठाजल डाल आते और प्रातः काल जब अनेक मनुष्य उस कुवेका जल पीलेते तब प्रसिद्ध कर देते कि हमने इसमें रोटी या झूठाजल डाला है। बस जिन लोगोंने इस जलको अज्ञान से पीलियाथा वे हिन्दुओं द्वारा कठोरतासे हिन्दु जाति से बाहर धकेल दिये जाकर सदाके लिये ईसाई बना दिये जातेथे इसी प्रकार मूर्खों द्वारा हिन्दुधर्म से बहिष्कृत हुओंको ईसाई बनाकर ईसाई प्रचारक सदा केलिए अपने धर्मप्रचार के मार्ग पर बदनुमा धब्बा लगा लेते थे।

हिन्दुओं को इस मूर्खता से लाभ उठाने में मुसलमान क्यों वञ्चित रहते वे भी हिन्दु स्त्री और लड़कों को व्यभिचार और अनाचार द्वारा हिन्दु जाति से पतित कराकर अपने धर्म की उत्तमता का परिचय देने लगे ये लोग हिन्दुओं से ही मुसलमान हुए थे इस लिए इनका हिन्दुओंसे प्राचीन सम्पर्क जारी रहा और यही कारण है कि इन्हें स्त्री और बच्चे उड़ादेनेके अधिक सुभीते मिलते रहे।

यद्यपि हिन्दुस्तानसे इसलामी राज्य उठगया परन्तु मुसलमानोंकी यह आशा कुछ भी न्यून न हो पाई कि हम हिन्दुओं को हिन्दुस्तान से मिटाकर मुसलमान बनालेंगे क्योंकि जो एक दो मुसलमान होजाते थे वे फिर हिन्दु न होपाते थे और ये लोग फिर साल भरमें एक दो ही मुसलमान थोड़े ही बनाते थे एक ही दिल्ली की जुम्मा मसजिद में प्रतिवर्ष ६००० हजार तक मुसलमान होजाते हैं गणितज्ञ [illegible] बना सकते हैं कि इस प्रकार

हिन्दु जाति कितने दिनमें नष्टभ्रष्ट होकर नामशेष होसकती है।

इन धर्मध्वजी हिन्दुओंने एक और भी अनर्थ कर रखा था कि अपनेही समाजके अंगभूत अछूतोंका दलनकर रहे थे नतो इन्हें कुवों परही चढने देते थे और न इन्हें पानीही अपने हाथसे भरते थे जिन खेतोंमें पशु पानी पीसकते हैं उनका छूलेना भी इन करमकूटों के भाग्यमें नहीं था इन की छायासे दूर भागते थे और इनके सड़क पर चलनेसे उसमार्ग को अपवित्र समझते थे ईसाइयों ने इस छिद्र को देखकर आक्रमण किया और भीषण भाषणों द्वारा अछूतोंको अपनेमें मिला गोभक्षक बनाना प्रारम्भ किया।

बम्बई और गुजरातकी ओर एक आगाखानी मत चला हुआ है इसने २०। २५ लाखके करीब अपने शिष्य बना लिये हैं प्रत्यक्षमें यह अपने को मुसलमान नहीं कहते परन्तु अपने चेलों छुपरीतिसे इसलामी रूह फूंकते हैं कुरान मुहम्मद सा० की भक्तिका प्रचार करके इसलाम धर्म को अथर्व वेद प्रतिपादित बताते हैं मिला जुला कलमा बनाया है कभी अपने चेलोंको मुसलमानी नाम बदल देनेकी आज्ञा देता है तो कभी चोटी कटानेकी नौबत आजाती है किसी को रु० उधार देकर अपने धर्म में मिला लिया जाता है तो कभी एक करोड़ रु० मुसलमानी लीडरोंको देनेका वादा करके अछूतों को धर्मच्युत करने की ठानते हैं सारांश यह है कि हर तरह से भोले भाले हिन्दुओंको फंसाया जारहा है।

इसी प्रकार एक थियोसोफिकल सोसायटी है जिसके चलाने वाले दो अंग्रेज हैं इसकी भी मूलमें ईसाइयत है और गुपचुप भारत को ईसाई बना देना चाहती है भारत में इसकी मत से बहुत ग्लानि है और हिन्दू कुरानकी गाली समझते हैं

ऐसी दशामें ईसामसीह की भक्तिका प्रचार करने के लिए इन्होंने सिद्धान्त बनाये हैं कि मैत्रेय ऋषि की आत्मा ईसामें थी वही ईसा जन्म लेकर फिर स्वा० रामानुजआचार्यके रूपमें प्रकट हुआ और भारत में भक्ति का प्रचार किया अर्थात् ईसामसीह ही भक्तिमार्ग का आचार्य है इनके यहां प्रत्येक मनुष्य गुणकर्म स्वभाव से ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य और शूद्र होता है पुनर्जन्म के सिद्धान्त में भी बड़ी चलाकी की है कि मनुष्यका आत्मा पशु योनि में नही आसकता है आजकल एक कोई कृष्णमूर्ति मद्रासकी तरफ विद्यमान है जिस को डा० बीसेन्ट और उनके शिष्य कृष्णकाअवतार तथा जगद्गुरु मानते हैं मुहम्मद सा० ईसामसीह और श्रीकृष्ण उनका दर्जा बराबर है, वेदकुरान इन्जील सब ईश्वरीय पुस्तक है केवल हिन्दू इनकी इस बातपर लट्टू हैं कि इन्होंने भूत प्रेतों की सत्ता स्वीकार की है इन्होंका ख्याल है कि हमारी ब्रह्मविद्या प्रचारक इस सोसायटी में प्रविष्ट होने पर भी एक हिन्दु सनातनधर्मी रह सकता है परन्तु मेरीसमझ में नहीं आता कि उपर्युक्त सिद्धान्तों को मान कर भी कोई कैसे सनातनधर्मी रह सकता है।

उसी समय ईसाइयोंकी एक सोसाइटी ने वेद छापकर निकले जिनके ऊपर गधेकी तसवीरथी जिसका अभिप्राय थाकि वेद केवल गधोंके कहे हुए अथवा गधोंके मानने लायक है।

श्रीकृष्ण और महादेव को अनाचारी तथा विष्णुको व्यभिचारी लिख २ कर धार्मिक मेलोंपर ट्रैक्ट बांटे जानेलगे काशी और इन्द्रप्रस्थ जैसी नगरी में रामचन्द्र और नीलकण्ठ जैसे पण्डित विज्ञापन प्रकाशित करके ईसाकी शरणागत हुए।

स्वा० शङ्कराचार्यके मठाधीश शिष्य हाथी घोड़ों पर चढने में मस्त थे श्रीसम्प्रदाय के वैष्णवों में सकलपुंगल (उत्तम

खिचड़ी) और हीराम के गोले की चर्चा थी गोकुले गुसाइयों को भोगविलाससे अवकाश ही कहां था बहुत सेगिरीपुरी गुसांई और नाथ मद्य और मांसमें लिप्तथे वैरागियोंको इधर उधर घूम कर रोट उड़ाने का चसका पड़ा हुआ था सारांश यह है कि हिन्दु जाति की नौका केवटकेबिना मझधारमें डुबकी लगा रही थी।

यह वह समयथा कि मुगल राज्य का प्रताप सूर्य अस्ताचल चूड़ावलम्बी होरहा था और ब्रिटिश प्रताप का सूर्य उदोन्मुख था ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने जिस कूटनीति से भारत के स्वातन्त्र्य को छीना आगेको उसीकाआश्रय करके विरोधियोंसे धर्मधन छीना जाने वाला है सनातन धर्म पर अब तक कोई ऐसा प्रबल आक्रमण नहीं हुआ सन् १८५७ ई० के विद्रोह में ब्रिटिश राज्य की नींव भी सुदृढ होचुकी और भविष्य में ईसाइयों की ओर से घोर संकट उपस्थित हैं उसी समय हिमालय की ऊंची चोटी पर खड़े होकर एक सच्चे सन्यासी ने हिन्दु जाति की दुर्दशाका वास्तविक चित्रदेखकर विचारा कि संसार में इस आर्य्य जातिका बुरा हाल हैं जिसकी नौका भंवरमें फंस गई है किनारा बहुत दूर है और चारों ओरसे आंधी उठ रही है अब तो हरदम यही सूझ पड़ता है कि यह जाति डूबजायगी, शिर पर विपत्तियों के बादल उमड़ते चले आते हैं और दुर्दैव अपना दबदबा दिखा रहा है परन्तु इस नौका के चलाने वाले करवट तक नहीं बदलते और गाढ निद्रा में सोरहे हैं दायें बायें से यह शब्द सुनाई पड़ रहे हैं कि तुम कल कौन थे और आज क्या होगये हो अभी जागते थे और अभी सोगये हो यह सब कुछ है परन्तु इस आलसी और प्रमादी जातिका वहीतो प्रमाद है कि अपनी अवनति पर उसी प्रकार अटल संतोष किये

बैठो है धूलि में मिल जाना स्वीकार है परन्तु इससे अपनी निराली चाल नहीं बदली जासकती प्रातः काल होचुका है पर यह अभी उसी प्रकार खर्राटे लेरही है इसे नतो अपनी दुर्दशा पर कोई शोक है और न अन्य जातियों की उन्नति से कोई स्पर्धा है पशु और इनकी अवस्था समान है परन्तु यह जिस हालमें है उसीमें मस्त है न किसी प्रकारके अपमान से ग्लानि है और न इसे किसी प्रकार की प्रतिष्ठा की आकांक्षा है, न धर्म से प्रेम है और न अधर्म से भय है केवल ऋषिमुनियों के नामको बदनाम कर रही है।

इस प्रकार धर्म और जाति पर घोर संकट देख वह सन्यासि प्रवर मोक्ष के स्वार्थ को छोड़ कर हिमालय की ऊंची चोटी से नीचे उतरा जिसका पवित्र नाम स्वा० दयानन्द सरस्वती था।

उस उन्नत शिखर पर खड़े होकर उस महान् आत्माने इस आर्य जातिका जो करुणा दृश्य अवलोकन किया उसका वर्णन करने की इस लेखनीमें शक्ति नहीं है यह उस ही महापुरुष की आत्मा को मालूम होगा कि उसने किस भावुकता से इसका अनुभव किया।

देश और जाति की सेवाके लिए स्वा० दयानन्द सरस्वती ने भारतके नगर २ में आर्य समाज स्थापित किये परन्तु यह तो आगे चल कर हमारी भावी संतान ही निर्णय करेगी कि स्वा० दयानन्द सरस्वती ने हिन्दु जाति की कोई सेवा की या नहीं किन्तु इस में सन्देह नहीं कि उन्होंने अपनी बुद्धि के अनुसार ऐसे सिद्धान्त खोज कर चुने हैं जिससे अहिन्दु-सम्प्रदाय के छक्के छूट गये हैं और उनमें बुरी तरह खलबली पड़गई है जहां हम आगे [illegible] पाठकों की सेवा में यह

प्रस्तुत करगे कि स्वा० दयानन्द सरस्वती के इस सिद्धान्त से अमुक विरोधी का इस प्रकार सरल रीतिसे खण्डन होता है यहां साथ ही यह भी सिद्ध करने की चेष्टा करेंगे कि यह मत स्वा० दयानन्द सरस्वती का निज मत नहीं है किन्तु उनका निजमत तो दूसराही है। वेतो उसी आचार्य रीतिका अनुसरण करके इस रङ्गभूमि में आये है जिस पर गौतम बुद्ध नास्तिक के रूप से प्रकट हुए और श्रीगुरुनानक देव मुसलमानी फकीरों का वेष धारण कर धर्म प्रचार कर गए।

स्वामीजी ने अपने सिद्धान्त ईसाई आदि विरोधियों के खण्डन के लिए चुने है यह कोई हमारा ही खयाल नहीं है किन्तु अनेक महानुभावों का है जिस में से एक व्यक्ति की राय यहां उद्धृत कर देना उचित प्रतीत होता है।

"आर्य समाजों ने हमारे सहस्रों लिखे पढ़े शुद्ध जनों को ईसाई होने से बचाया है इस लिये हम उस के प्रचारक (दयानन्द) का धन्यवाद करते हैं, स्वामीदयानन्द सरस्वतीने अन्ग्रेजी शिक्षितलोगोंको जो बहुधा विद्या पातेही क्रिश्चियन व नास्तिक होकर बह जातेथे उन्हें रोका धन्य है उस पुरुष को जिसने अपना सर्वस्व और सांसारिक स्वार्थ छोड़कर अनेक विधि लोगों की निन्दा का निशाना बन अन्ततः इस सत्कार्य में अपना देहतक समर्पण किया और स्वामीजीने ईसाई रूपी वधिकों से हिन्दुजातिरूपी चिड़ियों को बचाया परन्तु इसका धन्यवाद हिन्दु जब होवेंगे जब उन्हें इस जालका ज्ञानप्राप्त होगा—

---

१ नीला बाना पहन कर धरया मुसल्ले शोस - ईशा कूजा पास रख पूरी की हदीस (जन्म साखी क० पृ० २०७ बारान भाई गु० पृ० १३, नानी० गु० खालसा पृ० २६३,)

आपलोगों को शायद खयाल हुआहोगा कि यह सम्मति किसी स्वामी भक्तकीहै परन्तुयह सुनकर आश्चर्य होगा कि यह स्वामीजी के भक्तकी नहीं किन्तु परमद्वेषी जैनी जीया लाल ज्योतिषीकी है जिसने "दयानन्द छल कपट दर्पण" नामक पुस्तक के पृ० २८६ । २६० । २६१ में यह सम्मति प्रदान की है। दयानन्द छल कपट दर्पण वह पुस्तक है जिसके पृष्ठ २८८ में लिखा है कि अवश्य स्वामी जो ब्राह्मण नहो थे कापड़ो ही थे और वे कोई सच्चे साधु नहीं थे प्रत्युत वञ्चक थे।

हम पं० जीयालाल जैनी की पिछली सम्मति से सहमत नहीं हैं क्योंकि यह सम्मति उनकी द्वेषपूर्ण है उन्होंने स्वयं अपनी भूमिका मे लिखा है कि हमने इसपुस्तक को इसलिये लिखा है कि स्वामीजी ने जैनधर्म पर झूठे आक्रमण किये हैं इससे स्पष्ट होजाता है कि जैनधर्म की समालोचना से कुपित होकर ही उन्हों ने मिथ्यादोषारोपण द्वारा स्वामीजी को कलङ्कित करना चाहा है वेस्वयं अपने को निन्दक मानकर अपनी पुस्तक के पृ० २६१ में लिखते हैं चाहे हम स्वा० दयानन्द के निन्दक ही हैं परन्तु हमें उनकी मृत्यु का शोक उनके अनुयायियों से अधिक है।

स्वामीजी के कापड़ो होने में उन्होने कोई प्रमाण ही नहीं दिया सिर्फ एक अप्रमाणिक जन्मपत्री छपी है परन्तु एक ऐसे ज्योतिषी के लिये फ़रजी जन्मपत्री बनालेना कौनबड़ी बात है और यदि जन्मपत्री सत्यभी है तबभी वह मूलशंकर की नहीं किसी हरिभजन के पुत्र शिवभजन कापड़ी की है जो स्वामीजी के गांवसे अन्यग्रामका निवासी है और पृ० ३ में यह भी लिख चुके हैं कि औदीच्य ब्राह्मण ही कापड़ी का कामकिया करते थे इससे उनके लेख द्वारा भी वे ब्राह्मण ही सिद्ध होते हैं और

आपने ही स्वा० जी के यज्ञोपवीत संस्कार का वर्णन किया है।

पं० जीयालालजैनी कितने पक्षपाती थे इसका नमूना पाठकों को और भेट करदेना उचित प्रतीत होता है। वे एक अप्रमाणिक लेख के आधार पर अपनी सम्मति लिखते हैं।

शङ्करजो माँस भक्षियों का पक्षी था उसने मांसभक्षी बौद्धों ही का परास्त किया दयाधर्मी जैनियों का परास्त करना शङ्कर जैसे मांसभक्षी से क्योंकर बन पड़ता। (दया० छलकपट द०प्र० २१३) श्री स्वा० शङ्कराचार्य के विषय में इसप्रकार की अनुचित सम्मति से प्रत्येकपर प्रकट होजायगा कि स्वा० दयानन्द सरस्वती के विषय में भी उनकी दूसरी सम्मति कितनी अन्याय पूर्ण है हमैंतो उनकी प्रथम सम्मति से पाठकों को यह दिखाना अभीष्ट है कि पं० जीयालालजैनी इतने विरोधी होकर यहताड़ गए थे कि स्वामी दयानन्दसरस्वती के सिद्धान्त ईसाइयत को किस प्रकार चकनाचूर करने वाले हैं।

अब सर्व प्रथम पाठकों को यह बताना आवश्यक है कि किसी विरोधी धर्म के खण्डन करने के लिए किसी बनावटी सिद्धान्त की कल्पना करलेना स्वामी दयानन्दसरस्वती के लिए अभिमत था या नहीं तो कहना होगा कि वे इस प्रकार की नीति का अवलम्बन करना न्यायानुकूल और कर्तव्य समझते थे।

(१) आपने लिखा है कि "जो जीव ब्रह्म की एकता जगत मिथ्या शङ्कराचार्य का निजमत था तो अच्छा मत नहीं और जो जैनियों के खण्डन के लिए स्वीकार किया हो तो कुछ अच्छा है" (सत्या० समु० ११ प्र० ३०४)

इस उपर्युक्त लेखपर टीका टिप्पणी करने की कोई आवश्यकता नहीं है। क्योंकि यह स्पष्ट सम्मति है इन पंक्तियों

के होते हुए कोई नहीं कह सकता कि स्वामी जी अन्यमत के खण्डन के लिए किसी मिथ्या कल्पना का स्वीकार करलेना दोषपूर्ण मानते थे स्वा० श्री शङ्कराचार्य ने ऐसा किया था नहीं यहतो अप्राकरणिक वितण्डावाद है परन्तु स्वा० दयानन्द सरस्वती के हृदयोद्गार जानने के लिए यह पंक्तियां अत्यन्त महत्त्वकी हैं।

(२) अनुमान है कि शङ्कराचार्य आदिने तो जैनियों के मतके खण्डन करने के लिए ही यहमत स्वीकार किया हो क्यों कि देशकाल के अनुकूल अपने पक्षको सिद्ध करने के लिए बहुत से स्वार्थी विद्वान् अपने आत्मा के ज्ञान से विरुद्ध भी करलेते हैं (सत्या० प्र० समु०११ पृ०२१०)

अब विचारना चाहिये कि इस स्थानपर स्वा० शङ्कराचार्य का कोई स्वार्थ था तो जैनबौद्धों का खण्डन ही था तब क्या स्वा० दयानन्द सरस्वती का मुसलमान ईसाई आदि के खण्डन का कम स्वार्थ था और देशकालकी अनुकूलता का ध्यान स्वा० दयानन्द सरस्वती को था या स्वामी शङ्कराचार्य को इसका विवेचन सहृदय पाठक स्वयं करलें किन्तु हमेंतो यहा गंध आती है कि देशकाल की अनुकूलता का ज्ञान होनेपर ही आपने अपने सिद्धान्त पद २ पर बदले हैं अतः ये पंक्तियां भी आपकी नीति काही परिचय करारही हैं कालिदास ने सत्य कहा है। लोकः स्वतो पश्यति (शा० नाट० पृ० ५८) अर्थात् मनुष्य अपने ख्यालसे ही दूसरों को देखता है।

(३) सिक्खों के पञ्चककार युद्धके उपयोगी थे। इसलिए यह रीति गोविन्दसिंहजी ने अपनी बुद्धिमत्ता से उस समय के लिये की थी इस समय में उनका रखना कुछ उपयोगी नहीं है (सत्य०प्र० समु० ११ पृ० ३८०) इस लेख से बुद्धिमान् मनुष्य

फौरन ताड जायगा कि देशकाल के विचार से किसी बात का धर्ममानलेना स्वा० जी कितना नीतिविरुद्ध मानतेहैं, बात बिल्कुल ठीकहै समय के अनुसार नेता किसी बातको स्वीकार करलेते हैं पर उनके अन्ध विश्वासी शिष्य उन्हें धर्म ही मानकर उससमय के निकल जाने परभी लकीर के फकीरहोकर कष्ट उठातेही रहतेहैं

(४) जो देश को रोग हुआ है उसकी औषधि तुम्हारे पास नहीं है (सत्या० समु० ११ पृ० ४००) ये अक्षर स्वामी जी ने ब्रह्म समाज के खण्डन में लिखे हैं उस सारे प्रकरण के पढने से समझ में आजायगा कि स्वामी जी का यह अभिप्राय है कि तुम्हारे (ब्रह्म समाज के) सिद्धान्त ईसाइयों के पृष्ठ पोषक हैं ईसाई मुसलमानों का देशको रोग लगा है इस रोग की औषध तुम्हारे पास नहीं है किन्तु मेरे पास है हमको इस बात मेंकोई विप्रतिपत्ति नहींहै हमारा तो स्वयं कथन ही यह है कि स्वामीजी भी अपनी आर्य्य समाज को ईसाई रूपी रोग की औषध मानते हैं परन्तु नीरोग दशाका सत्य पथ्य तो कोई और ही धर्म है।

(५) यदिबाल शास्त्री और विशुद्धानन्द जी मेरे साथी बन जाते तो हम तीनों सारे संसार को विजय करलेते शोक मेरे आत्मगत भावों को जाने बिना उन्हों ने मुझे भिन्न समझा करा घोर विरोध किया परन्तु मेरे हृदय में जो मंगल भावना है उसे ईश्वर ही जानता है। (दया० प्रका पृ० ३३४)

स्वामीजी के ये अक्षर कितने मर्मस्पृक् हैं कि आन्तरिक तो विशुद्धानन्द सरस्वती और हम एक ही हैं परन्तु वे मेरे हृदय गत अभिप्राय को बिना समझे विरोध कर रहे हैं मत भेद रहने पर कोई किसी का विरोध करे इसका शोक स्वामी जी जैसे व्यक्ति को होना असम्भव है शोक तो इस बात का है कि

विशुद्धानन्द सरस्वती जैसा विद्वान् प्रमत्त की भांति अपने साथी के आन्तरिक मतके समझने में प्रमाद करता है।

(६) एक वार किसी ने स्वामी जी से कहा कि यदि मुसलमानी राज्य होता तो आप ऐसा प्रचार कैसे कर पाते इसके उत्तर में उन्हों ने कहा कि जब मैं इस प्रकार क्यों होता या तो राणा प्रताप होता और या वीर केशरी शिवाजी होता (आर्यो० पं० रामचन्द्र देहलवी)

इस उत्तर का अभिप्राय भी साफ है कि मुझे कोई आर्य समाज चलाना अभीष्ट नहीं है जिस प्रकार जाति की रक्षा होसके वही मार्ग समय २ पर स्वीकार करना चाहिये उस समय तलवार की आवश्यकता थी राणाप्रताप तथा वीर केशरी शिवाजी की भांति तलवार पकड़ कर सनातन धर्म की सेवा करता है।

(७) एक वार स्वामीजी से दो महात्माओं ने कहा कि महाराज ! आप अधिकारी जनको ही उपदेश दिया करें जोलोग आपके सत्संग में आते हैं वे सब ही अधिकारी नहीं होते आपके खण्डन विषयक व्याख्यानों के तो विरले जनही अधिकारी होते होंगे इसका उत्तर देते हुए स्वामीजी ने कहा कि महात्मा जी ! आपके धर्म बन्धु और जाति के अंग आये दिन शत शत और सहस्र २ की संख्या में ईसाई और मुसलमान होते जाते हैं और आप हमें अधिकार की पट्टी पढ़ाने लगे हैं यह समय तो कार्य करने का है धर्म की नौका को चट्टान के साथ टकराने से बचाने और भंवर से निकालनेका है पहले धर्म के आकाश से विपति के बादलों को दूर कीजिये अधिकारों के विचार तो पीछे होते रहेंगे (दया० पू० पृ० ४८०)

यह उद्गार भी साफ है कि पहले ईसाई और मुसलमानों

से अपने को बचाओ फिर धर्म चर्चा करना।

इस प्रकार स्वर्णाक्षरों से लिखने योग्य स्वामी जी के अनेक आन्तरिक उद्गार विद्यमान है जिनके पढने से प्रत्येक सहृदय पाठक अनुभव करलेता है कि स्वामीजी ने ये अक्षर जान बूझ कर लिखे हैं जिस से उनकी इस अभिलाषा का परिचय मिलता है कि वे अपने प्राचीन साथियों से बहिष्कृत होना पाप समझते हैं।

अब देखना है कि उर्ध्व लिखित नीतिके अनुसार स्वामी जी आचरण करते थे या नहीं तो अनेक उदाहरण उनके जीवन में ऐसे मिलते हैं जिस में उन्हों ने अपने सिद्धान्त के विरुद्ध पक्ष ग्रहण किया है। यह सब जानते हैं कि स्वामी जी को मूर्ति पूजा से शिवरात्रि को ही ग्लानि होचुकी थी जिसे आजकल आर्यसमाज ऋषिबोधोत्सव कह कर मनाती है उसके अनन्तर उन्हों ने स्वा० विरजानन्द सरस्वती से भी वैदिक मतकी कुंजी अथवा पारस पत्थर पालिया तब प्रचार के लिये चले तो आगरे में पं० सुन्दरलाल चेतलाल कालिदास घासीराम आदि की मूर्ति पूजा भी छुड़ा चुके; (द० प्र० पृ० ६७)

इसके दोवर्ष अनन्तर संवत् १६२२ वि० में जयपुर पहुंचे और वहां अपने सिद्धान्त के विरुद्ध शैवधर्म और मूर्तिपूजा का मण्डन करने लगे। जिस का वर्णन स्वामीजी ने अपने पूना के भाषण में इस प्रकार किया है।

"जपुर में मैने वैष्णव मत का खण्डन करके शैवमत की स्थापना की जयपुर के महाराज रामसिंह ने भी शैवमत ग्रहण किया इससे शैवमत का इतना विस्तार हुआ है कि सहस्रों रुद्राक्षकी माला मैंने अपने हाथसे दीं वहां शैव मत इतना दृढ हुआ कि हाथी घोड़े आदि सबके गले में रुद्राक्ष की माला पड़गई (स्वक

थि० जीवन पृ० २४ भगवद् दत्तद्वारा सम्पा०)

स्वामीजी ने जब वैष्णवों को पराजित कर लिया तब शैवों की प्रसन्नता की कोई सीमा न रही मारे हर्षके उछल रहे थे इस विजय से प्रभावित होकर लोग धड़ाधड़ शैव बनने लगे कंठियों का स्थान रुद्राक्ष की मालाएँ लेने लगी राज्य के हाथी घोड़ों के गलेमें भी रुद्राक्ष की मालाएँ पड़गई (दया० प्र० पृ० ७४)

जब स्वामीजी को प्रथम सेही मूर्तिपूजा से ग्लानि होचुकी थी तो कहना होगा कि अपने सिद्धान्त के विरुद्ध किसी पोलसी केलिये ही स्वामीजी ने जयपुर में शैव मत या मूर्तिपूजा का पक्ष ग्रहण किया इसके अतिरिक्त अन्य कोई मार्ग नहीं है तब इसही न्याय का उपयोग करते हुए निश्चय रूपसे कौन कह सकता है कि स्वा० दयानन्दसरस्वती के आर्यसामाजिक सिद्धान्त फ़रज़ी नहीं हैं। स्वा० सत्यानन्द जी ने इसके उत्तर देने की चेष्टा की है, आप लिखते हैं कि " स्वामी जी के जीवन में शिवरात्रि की घटना के अनन्तर प्रतिमा पूजन के भावका लेश मात्रभी शेष न रह गयाथा परन्तु दो सम्प्रदायों केयुद्ध के समय अपने समीपवर्ती शैवसम्प्रदाय का पक्ष लेकर स्वामी जी वैष्णवाचार्यों से भिड़ गए (दया० प्र० पृ० ७४)

परन्तु यह बात आपातरमणीय है प्रथम तो अपने सिद्धान्त के विरोधी कितनाही निकटवर्ती क्यों नहो विषमिश्रित अन्न की भांति समालोच्यही है— परन्तु यहां तो बात ही दूसरी है स्वा० दयानन्द सरस्वती के सिद्धान्त शैवों के निकटवर्ती ही नहीं है प्रत्युत वैष्णवोंके है जिसके कुछ उदाहरण देदेना उचित प्रतीत होता है—

(१) जीव, ईश्वर, प्रकृति, ये तीनों स्वतन्त्रतासे अनादि

है यह सिद्धान्त आर्यसमाज और श्रीवैष्णवों का एक ही है स्वामीजीने इस को वैष्णवों के समान मानते हुए केवल विशिष्टाद्वैत नाम पर आपत्ति की है सिद्धान्त पर नहीं (सत्या० प्र० समु० ११ पृ० ३२३)

(२) आर्यसमाज अठारहों पुराण नहीं मानती श्री वैष्णवों का सिद्धान्त है कि बारह पुराण नहीं मानने चाहिये।

सात्त्विकेन पुराणादीन राजसानतामसान्तथा
अनीशानां परेशत्वं वृथा यत्रापवर्ण्यते (नारदपञ्चरात्र अ० सं० ४ । २२)

अर्थात्—रजोगुण और तमोगुण के बारहपुराण नहीं मानने चाहिए क्योंकि उनमें असमर्थों को ईश्वर लिखा है यह वैष्णवों की सर्वमान्यपुस्तक का प्रमाण हैं जिसेवे ज्योंकात्यों मानते हैं।

(३) जो श्री वैष्णव सम्प्रदाय के रहस्यों से परिचित हैं वे जानते कि श्राद्ध का सम्प्रदाय में क्या महत्व है क्योंकि वे तो चक्राङ्कित होने से ही मुक्ति मानते हैं मुक्ति होजाने पर श्राद्ध किसके लिये किया जाय।

(४) शूद्रोद्धार का जो निदर्शन श्री सम्प्रदाय में है उतना आर्य समाज में भी कठिन है स्वामीजी स्वयं लिखते हैं कि शठकोप कञ्जर थे मुनिवाहन चाण्डाल थे परकाल चोर डाकू था और यामुनाचार्य यवनथे (सत्या० स० ११ पृ० ३३२)

परन्तु श्रीवैष्णव सम्प्रदाय में इन को आलमानार तथा आचार्य पदवी प्राप्त होचुकी है क्योंकि उनके यहां गुण कर्म का महत्व है जाति का नहीं श्रीस्वा०रामानुजाचार्य तो शूद्रकुलोत्पन्न स्वा० काञ्चीपूर्ण का उच्छिष्ट तक खाने में कोई दोष नहीं मानते थे।

कदाचिल्लक्ष्मणार्यस्तु तदुक्तिश्रुबुभुत्सया ।
काञ्चीपूर्णं मुवाचेदं वचनं वदतां वरः ॥

(प्रपन्नामृत अ० १० १० । ८)

(५) एक विष्णु के अतिरिक्त किसी शिवादि देव को मोक्षार्थ पूजना पापसमझते हैं इत्यादि अनेक सिद्धान्त हैं जिस में आर्य और वैष्णवों की समानता है परन्तु कोई भी सिद्धान्त आर्य समाज का शैवों से नही मिलता है तब स्वामी सत्यानन्दजी का उक्त रीतिसे लीपापोती करना कैसे बन पड़ेगा इसी लिये " आर्य धर्मेन्द्र जीवन " के लेखक रामविलास शारदाने इस जयपुर की घटना को छुपाया है इसके अतिरिक्त थियोसोफिकिल सोसायटी के सिद्धान्तोंको न मान करही वर्षो उसके मेम्बर रहे और ब्रह्मसमाजी न होते हुए वर्षों ब्रह्म समाज की बातें बनाई प्रत्युत बम्बई में व्याख्यान दिया कि ब्रह्म समाज का नाम ही आर्य समाज रखलेना चाहिए (दयानन्द चरित) इत्यादि अनेक घटनाओं के होने से मानना पड़ेगा कि स्वामी दयानन्द सरस्वती एक इस प्रकार के सुचतुर पुरुष थे कि भीतरसे किसी बातको न मानकर भी देशकालानुकूल अपने अपने स्वार्थ की सिद्ध केलिये मिथ्या पक्ष ग्रहण कर लिया करते थे ।

विरोधी पक्ष के खण्डन केलिए किसी काल्पनिक मतका ग्रहण कर लेने से स्वामी दयानन्द सरस्वती के अनुयायियों को तो कोई आपत्ति नही है क्योंकि उनका आप्त और मान्य पुरुष इसमें दोष नही मानता परन्तु जो सनातन धर्मी स्वामीजी की बातको ही नही मानते उनका खयाल होसकता है कि स्वामी जीने यह अनुचित किया परन्तु मेरी सम्मति में ऐसा कहने वालों को शास्त्र का ज्ञान कुछ भी नही है । न्याय दर्शन में १६

पदार्थों के तत्वज्ञान से मुक्ति मानी है और यह सूत्र लिखा है।

प्रमाण प्रमेय संशय प्रयोजन दृष्टान्त सिद्धान्त अवयव तर्क निर्णय वाद जल्प वितण्डा हेत्वाभासच्छल जाति निग्रह-स्थानानां तत्वज्ञानान्निश्रेयसाधिगमः (न्या० द० १ । १ । १

अर्थात् प्रमाण प्रमेय संशय प्रयोजन दृष्टान्त अवयव तर्क निर्णय वाद जल्प वितण्डा हेत्वाभास छल जाति निग्रहस्थान इनके तत्वज्ञान से मुक्ति होती है येही सोलह पदार्थ है जिन के द्वारा शास्त्रार्थ करके किसी वस्तु का निर्णय किया जाता है आजकल लोग प्रायः " वाद " को समझते हैं जिस का लक्षण गौतम मुनिने यह किया है।

प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भः सिद्धान्ताविरुद्धः पञ्चावयवोपपन्नः पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहो वादः (न्या० द० १ । २ । १)

जो प्रमाण और तर्क के साधन का अविरोधी प्रतिज्ञादि पांच अवयवोंसे युक्त हो उसे वाद कहते है परन्तु विद्वज्जन केवल वाद कोही स्वीकार करके शास्त्रार्थ नहीं किया करते हैं उपर्युक्त पदार्थों में से देशकालानुकूल जिस की आवश्यकता होती है उसेही स्वीकार करके वादी को परास्त कर दिया करते हैं स्वामी दयानन्द सरस्वती ने सनातनधर्म का पक्ष लेकर आर्य समाज की नींव वाद पर नहीं किन्तु " जल्प " पर रक्खी है जिस का लक्षण है।

यथोक्तोपपन्नश्छलजातिनिग्रहस्थानसाधनोपालम्भो जल्पः (न्या० द० १ । २ । २ ।)

अर्थात् अर्थ बदल कर उलटे सीधे खण्डन से पक्ष को सिद्ध नहीं करने वाले हेतुओं से भी प्रतिवादी को परास्त कर अपने पक्षको जिससे सिद्ध किया जाय उसे जल्प कहते हैं।

न्याय दर्शन में गौतममुनि का सिद्धान्त है कि विरोधी

नीच प्रकृति दुष्ट और शठ होतो उससे वाद नही करना चाहिए वादका अवलम्बन तो तबही करना चाहिये जब वादी धर्मात्मा हो और जो वादी हठी दुराग्रही अभिमानी और पक्षपाती होतो छल वितण्डा जल्प जिससे बने उससे परास्त करके अपने मत की रक्षा करो।

तत्त्वाध्यवसायसंरक्षणार्थं जल्पवितण्डे बीजप्ररोहसंरक्षणार्थं कण्टकशाखावरणवत् (न्या० द० अ० २ अ० ४ सू ५०) अर्थात् जैसे वृक्षकी रक्षा के लिए कांटों की बाढ लगाते हैं उसी प्रकार तात्विक सिद्धान्त की रक्षा के लिए जल्प और वितण्डा का प्रयोग किया जाता है जब शास्त्रकारों का सिद्धान्त है कि धर्म की रक्षा के लिए समय पड़े जल्प भी स्वीकार किया जा सकता है और आजकल से अधिक जल्प का उपयोगी समय आना कठिन है तब प्रातः स्मरणीय स्वामी दयानन्द सरस्वती ने ईसाई मत से सनातन धर्म की विजय के लिये आर्य सिद्धान्तों की बाढ जल्प द्वारा लगादी तो इनमें मूर्ख पण्डितों को शोर की तरह भड़क जाने का कारण ही क्या है। यह केवल स्वामी जी नेही नही किया है लोकमान्य बाल गंगाधर तिलकने भी पाश्चात्य नास्तिक और ईसाई विद्वानों को परास्त करनेके लिए वितण्डा का अवलम्बन किया है यह स्मरण है कि जल्प और वितण्डा का स्वीकार करने वाला भी अपने को जाल्पिक और वैतण्डिक कहाना स्वीकार नही करता क्योंकि ऐसा करने से उनका पक्ष निर्बल हो जाता है।

जिस स्थान पर लोकमान्य ने वितण्डा का आश्रय लिया है उसका दिग्दर्शन भी पाठकों को करादेना उचित है। वितण्डा का लक्षण है। सप्रतिपक्षस्थापनाहीनो वितण्डा (न्या० द० १।२।३। जिसमें अपना मत कोई भी हो केवल वादी की बात काटनी हो

उसे वितण्डा कहते हैं। लोकमान्य लिखते हैं।

"ऋग्वेद सन् ई० से लगभग ४५०० वर्ष पहले का है यज्ञ याग आदि ब्राह्मण ग्रन्थ सन् ई० से लगभग ३५०० वर्ष पहले के हैं और छान्दोग्य आदि ज्ञानप्रधान उपनिषद् सन् ई० से * लगभग २६०० वर्ष पुराने हैं" (गीता रहस्य पृ० ५५२)।

परन्तु सम्पूर्ण गीता रहस्य के पढने वाले पण्डित यह जानते हैं यह कोई लोक मान्य का सिद्धान्त नहीं है यह तो उन्होंने उन धूर्त वादियों के खण्डन के लिए वितण्डा स्वीकार किया है जो पाश्चात्य विद्वान् ईसा से १५०० वर्ष पूर्व ऋग्वेद का काल मानते हैं (गी० र० पृ० ५४३) लोक मान्य का इस विषय में यही कथन है कि जिस प्रकार की युक्ति और प्रमाणों से हम लोगों ने वेद का काल ईसा से १५०० पूर्व का निश्चित किया है वह भ्रम मूलक है वेदों के उदगयन स्थिति दर्शक वाक्यों

---

* गीता रहस्य की हिन्दी अनुवादित चारों आवृत्तियों में ये अंक अशुद्ध छपे हैं तृतीयावृत्ति में ३५०० के स्थान में २५०० परन्तु चतुर्थावृत्ति में ठीक है प्रायः सब हिन्दी आवृत्तियों में उपनिषद् काल का अङ्क २६०० के स्थान में १६०० छप गया है और पृष्ठ ५५० के चतुर्थावृत्ति में २६०० है और इसी के स्थान में द्वितीयावृत्ति में २५०० हैं परन्तु अङ्कों के विषय में प्रेसकी अशुद्धि को अपनी सूक्ष्म बुद्धि द्वारा न समझ कर ईशोपनिषद्भाष्य के कर्ता स्वा० रामाचार्यजी ने मैत्र्युपनिषद् की चरचा करते हुए लोकमान्य तिलक को गाली प्रदान की है (ईशोपनिषद्भाष्य पृ० २४)

अङ्क की शुद्धि केलिये ओरायन अथवा महाराष्ट्र गीता रहस्य देखो गीता रहस्य के ५५० पृ० के पढने से भी अङ्क विषयक प्रमाद का [illegible] हो जाता है।

से ही वेद का उपर्युक्त काल ईसासे ४५०० वर्ष पूर्व का सिद्ध हो जाता है तुम्हारे १५०० वर्ष के हेतुवाद भ्रान्त अतएव त्याज्य है। वेस्वयं लिखते हैं कि "पश्चमी पण्डितों ने अटकल पच्चू अनुमानों से वैदिक ग्रंथों के जो काल निश्चित किये है वे भ्रम मूलक हैं वैदिक काल की पूर्व मर्यादा ईसाके पहले ४५०० वर्ष से कम नही ली जासक्ती (गी० र० प० ५५०) अर्थात् अधिक ली जासकती है॥

गीता रहस्य के पृ १९ १९४ तक जो सृष्टि रचना का काल लिखा है उसका सारांश इस प्रकार है,, मानवी चार अब्ज बत्तीस करोड़ का जो ब्रह्मदेवका दिन इस समय जारी हुआ है उसका पूरा मध्यान्ह भी नही हुआ है अर्थात् सात मन्वन्तर भी नहीं बीते हैं (गी० र० पृ० १९४)

आगे चलकर चतुर्थाध्याय के २५ वें श्लोक पर टीका करते हुए लिखते हैं कि इस "यज्ञ में जो सृष्टि के आदि में ऋग्वेद द्वारा हुआ ब्रह्म से ही ब्रह्म का यजन किया गया था। यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः" ऋग्वेद १० ९० ।१६) (गी० र० पृ० ६८०) जबवे स्वयं ऐसा लिखते हैं कि सृष्टि को उत्पन्न हुए दो अरब के करीब हो गये और तब वेद थे तो यह कैसे माना जा सकता है कि उनका यही मत था अर्थात् ऋग्वेद ईसासे ४५०० पूर्व का ही है लोकमान्य तिलक गीता में कहे हुए भाग वत धर्म की परम्परा त्रेतायुग से मानते हैं (गी० र० पृ० ६६९) और त्रेतायुग को व्यतीत हुए लाखों वर्ष हो चुके (गी० र० पृ० १९४) तब कैसे कहा जा सकता है कि वेद का काल वे ईसासे ४५०० वर्ष पूर्व ही मानते हैं। उन्हों ने तो स्पष्ट लिख दिया है कि। ब्रह्म अर्थात् वेद परमेश्वर से उत्पन्न हुए हैं गी० र० पृ० ६५५) तब क्या परमेश्वर भी ईसासे ४५०० वर्ष पूर्व

से ही है और यदि उनकी अधिक स्पष्ट सम्मति देखनी होतो लीजिये "सम्पूर्ण सृष्टि के आरम्भ में ब्रह्मदेवरूपी पहला ब्राह्मण वेद और यज्ञ उत्पन्न हुए"(गी० र० पृ० ८२२) अतएव लोकमान्य तिलक का वैदिक ग्रंथों का काल निर्णय कोई अपना मत प्रकट करने के लिये नही है किन्तु प्रतिवादी के १५०० सौ वर्ष पूर्व के पक्ष काटने मात्र के लिये वितण्डा संज्ञक वाद है, पाश्चात्य लोग अपनी संकुचित और पक्षपातमयी दृष्टि के कारण वेदों को नवीन सिद्ध करना चाहते हैं परन्तु लोकमान्य की अकाट्य युक्तियों द्वारा वह छिन्न भिन्न हो जाता है सारांश यही है कि किसी नवीन युक्ति द्वारा प्राचीन वेदके ठीक कालकापता लगा लेना दुःसाध्यही कहना होगा इस वादके ध्यान में नही आने के कारण ही लाला लाजपतराय जी ने अपने भारत के इतिहास में तथा अन्यानेभी इसको तिलकका मत बतला कर भूल का है । जब २ अत्याचारियों से मुकाबिला पड़ा है तब आचार्यों ने ही इस सरणिका अवलम्बन नही किया प्रत्युत अवतारों ने भो ऐसा किया है, वामन का रूप धारण करके बलिदैत्य का छलन किया गया और रामावतार ने वृक्ष की ओट से बालिवध किया श्री कृष्ण ने कूटनीति का अवलम्बन करके द्रोण भीष्म जयद्रथ कर्ण दुर्योधन आदि का बध कराया भगवान् विष्णु ने मोहिनी रूप धारण करके वृन्दा का पातिव्रत्य भङ्गकर जलन्धर दैत्य से संसार की स्त्रियों के सतीत्व की रक्षा की और गौतम बुद्धने वेद और ईश्वरका खण्डन करके धर्म का परित्राण किया,अतएवकहा है कि

अजन्ति ते मूढधियः पराभवं भवन्ति मायाविषु ये न मायिनः।
प्रविश्य हि घ्नन्ति शठास्तथाविधानसंवृताङ्गान्निशिताः परेषवः

वेमूर्ख नष्ट होजाते हैं जो मायावियोंमें मायावी नही होते

दुष्ट मनुष्य ऐसे लोगों को धोखा देकर इस प्रकार मार बैठते हैं जैसे बिना कवच वाले पुरुष को तीक्ष्ण शत्रु के बाण बेध देते हैं इस प्रकार के धर्म शास्त्र को अपवाद शास्त्र कहते हैं जिसका विवेचन लोकमान्य तिलक ने गीता रहस्य के कर्मजिज्ञासा नामक प्रकरण में किया है, अपवादशास्त्र के समय सामान्य शास्त्र का प्रयोग करना निषिद्ध है और यही वेदों का रहस्य है इस विषय को विस्तार भय से यहीं बन्द करके आशा करते हैं कि पाठकों की उस शङ्का का उच्छेद हो गया होगा जो शास्त्र के अज्ञान से स्वामी दयानन्द सरस्वती के विषय में उत्पन्न हुई थी पिछले विवेचन से हमारा यही अभिप्राय है कि स्वामी दयानन्द सरस्वती ने आर्य समाज कोई नवीन स्वतन्त्र धर्म खड़ा नहीं किया है यह तो हिन्दुधर्म की विजय के लिये एक साधन मात्र है परन्तु अन्त में शान्तिदायी तो वही धर्म है जिसे सनातन धर्म कहते हैं और आगे चलकर पाठकों की समझ में आ जायगा कि यही स्वा० दयानन्द सरस्वती का निजमत है।

आजकल सनातन धर्म के नाम से बुरी तरह खिचड़ी पक रही है मृत पुरुष की खोपड़ी में खाने वाला अघोरपंथी भी सनातनी है और मांस मदिरा मैथुन आदि पाँच मकारों को मानने वाले वाममार्गी भी वैदिक हैं, कृत्रिमलिंग से बाहुमूल को दग्ध करके पञ्च संस्कार करते हैं कोई शिवलिंग के दर्शन से पाप मानता है तो कोई घंटा करण विष्णु के नाम कानों में आने से कर्ण पुट को अपवित्र समझने लगता है, कोई देवी देवताओं के सन्मुख पशुवध करता है तो कोई ख्वाजखिद्दर गाज़ी सालार साहबजी आदि की पूजा करते हैं कोई स्वयं कृष्ण बनकर और अपने शिष्यों की स्त्रियों को समर्पण कराके उसे राधिका बना रमण करते हैं कोई अपने शिष्यों को उच्छिष्ट खाने को

उपदेश करता है तो कोई थियासोफिकिल है कुछ भी हो पर हैं सब सनातन धर्मी। परन्तु स्वा० दयानन्द सरस्वती इस प्रकार के सनातन धर्मी नहीं थे, वे तो जो वैदिक और औपनिषदिक धर्म जिसके पुरस्कर्ता जगद्गुरु भगवान श्रीमदाद्यशङ्कराचार्य हैं उसी मतके मानने वाले,सत्य सनातन धर्मी थे। वर्तमान मिक्स्चर को सनातन धर्म कहने का रिवाज ५० वर्ष से आर्य समाज के मुकाबिले में पड़ा है इस से पूर्व समस्त सम्प्रदायों को एक मानकर सनातन धर्म कहने का प्रचार ही नहीं था भगवान बुद्ध या श्रीशङ्कराचार्य अथवा किसी भी आचार्य ने इनसब सम्प्रदायों को मिलाकर सनातन धर्म नहीं कहा किन्तु परस्पर खण्डन किया है स्वा०दयानन्दसरस्वती ने भी सनातन धर्म के नाम से इन सम्प्रदायों का खण्डन कहीं नहीं किया है यहां तक कि इतना भी कहीं नहीं लिखा कि ये पन्थाई लोग अवैदिक होकर भी अपने को सनातन धर्मी कहते हैं, सर्व प्रथम भारतधर्ममहा मण्डल की स्थापना के समय भी यहनाम नहींपड़ा था नहीं तो श्री भारतधर्ममहामण्डल के बजाय श्री सनातनधर्ममहामण्डल नामहोता जैसा कि आजकल नाम रक्खे जाते हैं अनुमानतः सब सम्प्रदायों को मिलाकर सनातनधर्म नाम तो आधुनिक धर्म प्रचारकों ने रक्खाहै परन्तु यह सब से बड़ा भारी भूल की है क्यों कि कपोल कल्पित सम्प्रदायों को साथ लेकर वैदिक सनातन धर्म की ध्वजा ऊंची उठा देने में कितनी कठिनताहै इस बात को वे मर्मज्ञ पण्डित ही जानते हैं जो मन्थरा चलकी भाँति धार्मिक साहित्य समुद्र की गम्भीरता का पता लगाचुके हैं

स्वा० दयानन्द सरस्वती का जन्म शैवमतानुयायी या शङ्कर सम्प्रदायी आदर्श उच्च कुलमें हुआथा और उनपर बाल्या-वस्थामें ही शैवधर्मके कितने संस्कार पड़चुके थे यह सब जानते

हैं ब्रह्मचर्य की दीक्षा शङ्कर सम्प्रदायी द्वारा ग्रहण की जो "शुद्ध चैतन्य" नामसे ही प्रकट है संन्यास की दीक्षा भी * पूर्णानन्द सरस्वती से ग्रहण की जो शङ्कर मतावलम्बी थे इसके पश्चात् ज्वालानन्दपुरी और शिवानन्दगिरिने जो शंकर सम्प्रदाय के अनुयायी थे स्वा० दयानन्द सरस्वती को योग विद्या सिखाई उसको स्वामीजी ने अपनी कृतज्ञता के साथ इस प्रकार वर्णन किया है " अहमदाबाद में उन्हो ने अपनी प्रतिज्ञानुसार मुझे निहाल कर दिया उन महात्माओं के प्रभाव से मुझे क्रिया समेत पूर्ण योग विद्या भली भाँति विदित होगई इस लिये मैं उनका अत्यन्त कृतज्ञ हूं वास्तव में उन्होंने मुझ पर एक महान् उपकार किया इस कारण मैं उनका विशेष रूपसे अनुगृहीत हूं (दया० प्र० पृ० २७)

(स्वकथितजीवन० पृ० १२) इसी प्रकार स्वा० दयानन्द सरस्वती हिमालय परभी श्रीशङ्कराचार्य के शिष्यों से ज्ञान प्राप्त करते हुए मथुरा में स्वा० विरजानन्द सरस्वती के निकट पहुंचे जो कि श्री स्वामी० शङ्कराचार्य के सिद्धान्तों के प्रधान प्रचारक थे और ये वेही महात्मा हैं जिनके स्वामी जी आजन्म आभारी रहे।

इस प्रकार शैशकाल से लेकर ४० वर्ष पर्यन्त शङ्कर सम्प्रदाय के सत्सङ्ग और अध्ययन से श्रीस्वा० शङ्कराचार्य प्रतिपादित सिद्धान्तों में श्रीस्वा० दयानन्द सरस्वती की गाढ़ निष्ठा होगई जिसका वर्णन उन्होंने अपने अक्षरों में इस प्रकार किया है:—

"चैतन्य मठ में ब्रह्मचारियों और सन्यासियों से वेदान्त

---

* स्वा० विरजानन्द के भी गुरु स्वा० पूर्णानन्द सरस्वती थे परन्तु यह नहीं कहा जासकता कि ये वेही महात्मा थे।

भाषण करने पठनपाठन में संस्कृत हीबोलने और जन्मभूमि की भाषा गुजराती होने के कारण से मुझको इसभाषा का विशेष परिज्ञान न था इससे भाषा अशुद्ध बनगई थी अब भाषा बोलने और लिखने का अभ्यास होगया है इसलिये इस ग्रन्थ को भाषा व्याकरणानुसार शुद्ध करके दूसरीवार छपवाया है कहीं २ शब्द वाक्य रचना का भेद हुआ है सो करना उचित था क्योंकि इस के बिना भाषा की परिपाटी सुधरनी कठिन थी परन्तु अर्थ भेद नहीं कियागया है प्रत्युत विशेष तो लिखागया है हां जो प्रथम छपने में कहीं २ भूलरही थी वह निकाल कर ठीकर करदी गई है" (सत्या० समु० १) कहिये इसमें कहींभी नहीं लिखा कि दूसरोंने बदमाशी से मिलावट करदी है इसमें तो केवल यही दो कारण हैं कि भाषा अशुद्ध रहगई थी और प्रेस की अशुद्धियां थीं बहुतसी प्रेसकी अशुद्धियों के मायने मिलावट नहीं है अशुद्धियां तो प्रायः ग्रंथों में हुआही करती इससे मानना पड़ेगा कि जिस समय स्वामीजी ने पहली सत्यार्थ प्रकाश लिखी थी उस समय उनके विचार वैसेही थे परन्तु बादमें उन्होंने किसी विशेष (खास) कारण से बदले हैं, मेरे ख्याल में ऐसे लोग स्वामीजी को बुद्धू समझते हैं नहीतो देश सुधार के इतने बड़े काम को हाथमें लेकर उसका एकमात्र साधन सत्यार्थ प्रकाश में कोई कुछही मिलादें और उन्हें भोंदू की तरह पता भी न लगे यह असम्भव है।

यहांपर उस विज्ञापन की चर्चा करदेना उचित है जो स्वामीजी ने प्रथम सत्यार्थ प्रकाश छपने के तीनवर्ष बाद यजुर्वेद भाष्य पर छपा है उसमें लिखा है कि, "जोर मेरे बनाये सत्यार्थ प्रकाश वा संस्कार विधि आदि ग्रंथों में गृह्यसूत्र वा मनुस्मृति आदि पुस्तक के वचन बहुत से लिखे हैं वे उन ग्रंथों के मतों

के जानने के लिये लिखे हैं उनमें से वेदार्थ के अनुकूल का साक्षिवत् प्रमाण और विरुद्ध को अप्रमाण मानता हूं" यहां भी उन्हों ने स्वीकार करलिया हैं कि मनुस्मृति आदि के श्लोक जो मैंने लिखदिये हैं वे वेदानुकूल हों तो प्रमाण मानना अन्यथा नहीं। और जो मृतक श्राद्ध छपगया है वह लिखने और शोधने वालों को भूल से छपगया है" यह वे पंक्तियां हैं जिन्हों ने लोगों को धोके में डालरक्खा है परन्तु जब स्वामी जी ने दूसरी वार की सत्यार्थप्रकाश की भूमिका लिखी उसमें पीछे लिखे दो कारणों के अतिरिक्त यह कारण नहीं लिखा इससे मालूम होता है कि यहां विज्ञापन में "वालों" शब्द प्रेस की अशुद्धि से छपगया है इसके निकाल देने से सीधी भाषा हो जाती है कि मृतकश्राद्ध लिखने और शोधने की भूल से छपगया है इससे भूमिका के पाठ और इस पाठ की संगति लगजाती है और स्वामी जी मिथ्या भाषण के कलङ्क से छूट जाते हैं और यदि "वालों" पद स्वामी जी का ही है तो इसका अन्वय लिखने पद के साथ नहीं हो सकता तब इस भाषा का अर्थ इस प्रकार करना चाहिये कि मृतकश्राद्ध (मेरे) लिखने (का) और शोधने वालों की भूलसे छपा है क्योंकि इससे स्वामी जी का भूमिका विषयक पाठ से संगति लग जाता है और स्वामी जी ऐसी भाषा लिखा भी करते थे पहला सत्यार्थ प्रकाश में कोई मिलावट नहीं हुई और उसमें सरस्वती पद के नवीन विषयक लेख भी स्वामी जी ही का है बहुत कुछ सम्भव है कि प्रथम सत्यार्थ प्रकाश की स्वामीजी की हस्त लिखित प्रति आर्य प्रतिनिधि सभा के पास भी हो जिसका संशोधन करके दूसरी सत्यार्थ प्रकाश लिखी गई है खैर कुछ भी हो हमें बाल की खाल निकालने की आवश्यकता नहीं है यदि सरस्वती पद के नवीन

होने का लेख किसी धूर्तने मिलाभी दिया तो स्वामीजी के मृतक श्राद्ध की भांति दृष्टि गोचर हुआ होगा और इसके नवीन होने का [illegible] जब प्रक्षिप्त पाठ रद्द हो चुका तो आवश्यक था कि इस वेद विरोधी "सरस्वती" पदवी को उतार कर फैंकदेते परन्तु ऐसा स्वामीजी को अभिमत नहींथा।

स्वामीजीने तो शाहपुरेमें एक मनुष्य को शिष्य किया शङ्कर सम्प्रदायके अनुसार उसको दण्ड धारण कराया और उसका [illegible] "ईश्वरानन्द सरस्वती" रक्खा सुजन लोग न्यायसे यह मान भी लें कि स्वामीजीके नामके साथ अन्य किसी कारणसे "सरस्वती" पद लगा भी रह गया [illegible] इसका कारण बताते नहीं बनता कि स्वामीजी [illegible] अपने शिष्य का नाम सरस्वती क्यों रक्खा [illegible] स्वा० ईश्वरानन्द सरस्वती भी अपने को सरस्वती लिखा [illegible] थे यह उसके पत्रों से स्पष्ट है और वे पत्र मुन्शीरामजी संगृहीत "ऋषिदयानन्द के पत्र व्यवहार" नामक पुस्तक के पृ० २—२६ में विद्यमान है इसके सिवाय आत्मानन्द सरस्वती [illegible]नन्द सरस्वती दर्शनानन्द सरस्वती नित्यानन्द सरस्वती आदि अनेक सरस्वती होगये और [illegible] जा रहे है परन्तु अब लक्षण दिखाई देरहे हैं कि स्वा० दयानन्द सरस्वती की अभिलाषा के विरुद्ध यह प्रवाह आगे को रुक जायगा।

हम अभी पाठकों का पीछा नहीं छोडैंगेऔर नवीन सत्यार्थ प्रकाशमें भी दिखावैंगे कि स्वामीजीने "सरस्वती" पद [illegible] विचार कर लिया है आर्यसमाजियों का दुराग्रह [illegible] है इस लिये चाहे उनको कितना भी युक्तियुक्त समझा दिया जाय परन्तु जब तक नवीन सत्यार्थ प्रकाशमें कोई बात नहीं दिखाई जायगी तब तक सब व्यर्थ है स्वामीजी लिखते हैं (पृष्ठ) गिरि

पुरी भारती आदि गुसांइ लोग तो अच्छे हैं (उत्तर) ये सब दश नाम पीछेसे कल्पित किये हैं सनातन नहीं (सत्या० समु० ११ पृ ४१०) अब विस्तार भयसे अधिक न लिखकर पाठकोंसे आशा करते हैं कि वे हमारे अभिप्राय को थोड़े लिखनेसे ही बहुत समझगये होंगे कि स्वा० दयानन्द सरस्वतीने 'सरस्वती पदवी को पूंछसे चिपका रखाथा।

इसमें सन्देह नहीं कि हमारा यह लिखना उन स्वामिभक्तों के खटके बिना न रहेगा जो उन्हें भगवान् और महर्षि मानते हैं और कोइ कोइ दिल चला आर्य समाजी तो उन्हें श्रीकृष्णसे भी बढ़कर समझता है परन्तु हमारा इस पुस्तकके लिखने का अभि-प्राय आर्यसमाजियों का मनोरंजन करना नहीं है हमें तो उस सचाइ को सामने रखना है जो स्वामी दयानन्दसरस्वती को अभिलषित है स्वामीसत्यानन्दजीने अपनी पुस्तक दयानन्द प्रकाशमें उन्हें भगवान् लिखा है और इसीतरह अनेक आर्य-समाजी लिखते रहते हैं परन्तु क्या स्वा०दयानन्दसरस्वती अपने को भगवान् कहलाना चाहते थे उनके ग्रंथोंके देखनेसे तो यही विदित होता है कि वे भगवान् पद को परब्रह्म परमात्माके अतिरिक्त किसीके साथ देखना नहीं चाहते, वे लिखते हैं कि-

"कृष्णस्तु कृष्णगुणविशिष्टदेहवत्वाजन्ममरणादि युक्त त्वाद्भगवानेव भवितुमयोग्यः" (वेदविरुद्धम० स० शा० ७१६) श्रीकृष्ण कृष्णगुणविशिष्ट देह वाले तथा जन्म मरण युक्त होने से भगवान् नहीं हो सकते आगे चलकर फिर लिखा है कि-

प्रथमनस्त्वसकृदुक्तं कृष्णः भगवानेव नेति कृष्णस्य मरणे जाते ईषन्न्यूनानि पंच सहस्राणि वर्षाणि व्यतीतानि (वे०वि० म० शता० पृ० ८०१)

हमने पहलेसे ही बारबार कह दिया कि कृष्ण भगवान् ही

नहीं होसकते क्योंकि उनको मरे पांच हजार वर्षके लगभग हो चुके तो क्या स्वा० दयानन्द सरस्वती जन्म मरण रहित हैं या उन्हें मरे हुए बहुत वर्ष नहीं होचुके हैं और उनके पांच भौतिक देह नहीं थी फिर भी उनको भगवान लिखना स्वामी जी के लेखके विरुद्ध नहीं तो और क्या है हमें तो इस समय स्वामीजी के ये अक्षर याद आते हैं कि—

'आर्यावर्तोंमें यह चाल है कि मरे पीछे उनको सिद्ध बना लेते हैं पश्चात बहुतसा माहात्म्य करके ईश्वरके समान मानलेते हैं परन्तु इसमें उनके चेलोंका दोष है (सत्या० समु० ११ पृ० ३७६। स्वामीजी अपने नामके साथ महर्षि पद भी लगाना उचित नहीं मानते थे, स्वा० श्रद्धानन्दजी अपने व्याख्यानोंमें कहा करते थे कि स्वामीजी महर्षि पद भगवान केलिये ही माना करते थे। आज कल महर्षिपद के दो अर्थ होते हैं एक तो प्राचीन—

ऋषिर्दर्शनात् स्तोमान्ददर्शेत्यौपमन्यवः (निरुक्त २।११) मन्त्राः। स्तोमाः तानसौ ऋषिर्न पश्यतीत्यर्थ (दुर्गाचार्य कृतटीका पृ० २२। अर्थात् ऋषि उसको कहते हैं जो मन्त्र द्रष्टा हो और ऐसा ही लिखा स्वामीजीने माना है।

"ऋषयो मन्त्रदृष्टयः मन्त्रान् सम्प्रादुः" जिसर मन्त्रार्थका दर्शन जिस २ ऋषि को हुआ और प्रथम ही जिसके पहिले उस मन्त्र का अर्थ किसी ने प्रकाशित नहीं किया और दूसरों को पढ़ाया भी, इस लिये अद्यावधि उस मन्त्रके साथ उसे ऋषिका नाम स्मरणार्थ लिखा जाता है, जो कोई ऋषियोंको मन्त्र कर्ता बतलावें उनको मिथ्यावादी समझें वे मंत्रोंके अर्थोंके प्रकाशक हैं (सत्या० समु० ७ पृ० २१४) तब क्या स्वामीजीने बिना किसी से पढ़े सबसे प्रथम मन्त्रों का अर्थ देखा है और उनका नाम भी क्या किसी मन्त्र के साथ उच्चारण करना चाहिए कि ऐसा

नहीं है तो प्राचीन अर्थ को ग्रहण करके " महर्षि " पद उनके नाम के साथ उनके सिद्धांत के विरुद्ध लगाना कैसे उचित हो सकता है उन्होंने एक मनुष्य के यह कहने पर कि आपतो ऋषि हैं स्पष्ट कह दिया था कि "ऋषियों के अभावमें आप लोग मुझे ऋषि कह रहे है, परन्तु सत्य जानिए यदि मैं कणाद ऋषि का समकालीन होता तो विद्वानों में भी अति कठिनता से गिना जाता" (दया० प्र० ४०१) जब प्राचीन ऋषि शब्दका इस प्रकार निर्णय हो जाता है तब दुबारा कहना पड़ता है कि स्वामीजी केलिये महर्षि शब्द का प्रयोग करना स्वामीजी तथा शास्त्रों के प्रतिकूल हैं 'पोप' शब्दका प्राचीन अर्थ विदेशी भाषामें धर्माचार्य है उसको बदल कर दम्भी पाखण्डी अर्थ में नवीन संकेत द्वारा जिस प्रकार ग्रहण किया है उसी तरह यदि महर्षि शब्द का भी कोई नया संकेत नियत करके स्वामीजी को महर्षि कहा जारहा है तो इसमें हमारा कोई मत भेद नहीं है।

इस पिछले विवेचन से जब यह सिद्ध हो जाता है कि स्वामीजी अपने को शंकर सम्प्रदाय से पृथक् करना नहीं चाहते थे तो अब आगे चलकर इस पर विचार करना है कि क्या स्वामीजी ने अन्यमत प्रवर्तकों की कड़ी समालोचना की तरह श्रीस्वा०शंकराचार्य कोभी लथेड़ा है और यदि ऐसा नहीं किया तो इसका कारण सिवाय इसके और कुछ बताते नहीं बनपड़ता कि श्री स्वा० दयानन्द सरस्वती की श्री स्वामी० शंकराचार्य में पूज्य दृष्टिथी और पूज्यों के अवज्ञान करके अपने प्रारम्भ किये कार्य का पूरा करलेना कठिन है, कवि कालिदासने कहा है।

ईप्सितं तदवज्ञानाद्विद्धि सार्गलमात्मनः
प्रतिबध्नाति हि श्रेयः पूज्यपूजा व्यतिक्रमः

रघुवंश सर्ग १। ७९।

वशिष्ठ मुनि राजा दलीपसे कहते हैं कि तेरा मनोरथ पूज्य के अपमान करने से रुका हुआ, है क्योंकि उसके साथ कल्याण रुक जाते हैं जो पूज्यों की पूजा का उलंघन करता है यही कारण है कि स्वामीजी के ग्रंथों में बहुत कुछ टटोलने पर भी हमें श्री स्वामी शंकराचार्य के प्रति अश्रद्धा की रेखा दिखाई नहीं पड़ती है अब हम अन्य सम्प्रदाय के आचार्यों के प्रति स्वामीजी के भाव प्रगट करके दिखायेंगे कि स्वामीजी के श्रीशंकराचार्य के प्रति क्या भाव है वैष्णवाचार्यों के प्रति स्वामीजीने अपने क्या भाव प्रगट किये हैं यह ही सब प्रथम पाठकों की सेवा में उपस्थित किया जाता है।

"चक्रांकित अपने को बड़े वैष्णव मानते हैं परन्तु अपनी परम्परा और कुकर्म की ओर ध्यान नहीं देते प्रथम इनका मूल पुरुष शठकोप हुआ जो कंजर जाति में उत्पन्न हुआ था उसका चेला मुनिवाहन जो कि चाण्डाल वर्ण में उत्पन्न हुआ उसका चेला यामुनाचार्य जो कि यवनकुलोत्पन्न था, इनके पश्चात् रामानुज ब्राह्मणकुल में उत्पन्न होकर चक्राङ्कित हुआ और जिसने शङ्कराचार्य की बहुतसी निन्दा की (सत्या० समु० ११ पृ० ३२२) एक परिकाल नामक वैष्णव भक्त था वह चोरी डाका मार लूट कर पराया धन हर वैष्णवों के पास धर प्रसन्न होताथा अबतक उस डाकू चोर परिकालकी मूर्ति मन्दिरों में रखते हैं यद्यपि मतमतान्तरों में कोई थोड़ा अच्छा भी होता है तथापि इस मत में रह कर सर्वथा अच्छा नहीं हो सकता (सत्या० समु० ११ पृ० ३७२)

उपर्युक्त लेखमें सूक्ष्म दृष्टिसे यह देखना चाहिए कि वैष्णवाचार्यों की बड़ी आलोचना के अतिरिक्त उनका आदरसूचक एक वचन द्वारा ही निर्देश किया है स्वामीजीने उनका जो नाम

होसका कि बहुवचन शाराना पेश आते । और ऐसाही अनादर सूचक अधोलिखित धर्म प्रचारकों के साथ व्यवहार किया है ।

'वल्लभ मत तैलंग देश से चला है एक तैलंगी लक्ष्मण भट्ट नामक ब्राह्मणने विवाह करके काशीमें जाके सन्यास लिया और झूंटा बोला कि मेरा व्याह नही हुआ उसको स्त्री आई और वह फिर गृहस्थी होगया, इसके पुत्रनेभी ऐसी ही लीलाकी और सन्यास लेकर भी एक जाति बहिष्कृत ब्राह्मणकी कन्या से व्याह किया, फिर अविद्या के केन्द्र व्रज देश में अपना मत चलाया। (सत्या० स० ११ । ३८४)

रामसनेही मतका चलाने वाला रामचरण यह ग्रामीण एक सीदा साधा मनुष्य था न वह कुछ पढाथा नही तो ऐसी गपड़ चौथ क्यों लिखता, नाम तो रखा राम सनेही और काम करते हैं राँडसनेहीका (सत्या० समु० ११।पृ० ३८२)

कबीर साहब की बाबत उनके मतवालों का विश्वास है कि वे फूलोंसे उत्पन्न हुएथे स्वामीजी लिखते हैं कि " क्या कबीर साहब भुनगाथा या कलियां थीं जो फूलों से उत्पन्न हुआ जब वह बड़ा हुआ जुलाहेका काम करताथा किसी पण्डित के पास संस्कृत पढने के लिये गया उसने उसका अपमान किया तब ऊटपटांग भाषा बना कर जुलाहे आदि नीचलोगों को समझाने लगा तम्बूरे लेकर गाताथा भजन बनाताथा (स० स० ११ पृ० ३९१)

"एक सहजानन्द नामक अयोध्या के समीप एक गाँव का जन्मा हुआ था उसने चतुर्भुज मूर्ति के बनावटी दर्शन कराके दादा खाचर को धोखे से चेला बनाया किसी की नाड़ी मलके मूर्छित करके समाधि बताकर धूर्तताने गुजरात में और भी चेले किये ये सब स्वामी नारायण आदि मत विद्या रहित हैं (स० समु० ११ पृ० ३९१)

रामानुजकृतस्य शारीरिकसूत्रभाष्यस्याप्यशुद्धस्य स्वीकारा दविवेकस्सहजानन्दोऽस्त्येवेति विज्ञायते (शिक्षापत्री ध्वान्त निवारण शता० पृ० २२८)

शारीरिक सूत्रका रामानुज से किया हुआ अति अशुद्ध भाष्यका प्रमाण मानने से सहजानन्द अविवेकी था यह सिद्ध होता है (शि० शताब्दी सं० पृ० ८३७)

दादूजी आमेर में तेलीका काम करते थे ईश्वर की सृष्टि की विचित्र लीला है कि दादूजी भी पूजने लगे जब सत्योपदेश नहीं होता तब ऐसे २ ही बखेड़े चला करते हैं (सत्या० समु० ११ पृ० ३८०)

नानकजी वेदादि शास्त्र कुछ भी नहीं जानते थे जो जानते होते तो निर्भय शब्दको "निर्भौ" क्यों लिखते और इसका दृष्टान्त उनका बनाया संस्कृती स्तोत्र है चाहते थे कि मैं संस्कृत में भी पग अड़ाऊं परन्तु बिना पढ़े संस्कृत कैसे आसकता है उनमें जबकुछ अभिमान था तो मानप्रतिष्ठा केलिये दम्भभी किया होगा क्योंकि जो ऐसा न करते तो वेद का अर्थ पूछने पर प्रतिष्ठा नष्ट होती इसलिये कहीं २ वेदोंकी निन्दा किया करते थे जो मूर्खों का नाम सन्त होता है वे बिचारे वेदोंकी महिमा कभी नहीं जान सकते (सत्या० समु० ११ पृ० ३७८)

अब वेदके मानने वाली सम्प्रदायों के आचार्यों के लिये ही स्वामी जी इस प्रकार पेश आते हैं तब वेद विरोधी बुद्ध महावीर ईसा मूसा मुहम्मद केलिये उनके क्या उद्गार होसकते हैं इनको विस्तार भयसे लिखने की आवश्यकता नहीं है हमें तो अब यह देखना है कि स्वा० शङ्कराचार्य के प्रति उनकी क्या सम्मति है।

" बाईससौ वर्ष हुए कि एक शङ्कराचार्य द्रविड़ देशोत्पन्न ब्राह्मण ब्रह्मचर्य से व्याकरणादि सब शास्त्रोंको पढ़कर सोचने

लगे अहह !!! सत्य आस्तिक वेदमत का छूटना और जैन नास्तिक मतका चलाना बड़ी हानिकी बात हुई है इनको किसी प्रकार हटाना चाहिए शङ्कराचार्य शास्त्र तो पढ़ेही थे परन्तु जैनमत के पुस्तक भी पढ़े थे और उनकी युक्ति भी बहुत प्रबल थी उन्होंने विचारा कि इनको किस प्रकार हटावे। निश्चय हुआ कि ये उपदेश और शास्त्रार्थ करनेसे हटेंगे ऐसा विचार कर उज्जैन नगरीमें आये वहां राजा सुधन्वा पण्डित था वहां आकर ठहरे। उपदेश करने लगे और सुधन्वा राजा जो संस्कृत और जैन था उससे जैनियोंकेसाथ शास्त्रार्थ करने को शङ्कराचार्य ने इस शर्त पर कहाकि हारनेवालेको जीतने वालेकामत स्वीकार करना पड़ेगा जबतक सुधन्वा राजा को बड़ा विद्वान् उपदेशक नहीं मिलाथा तबतक सुधन्वा सन्देह में था सुधन्वा शङ्कराचार्य की बात सुन कर बड़े प्रसन्न हुए और जैनियों के पंडित बुलाकर सभा कराई जिसमें शङ्कराचार्य का वेदमत और जैनियों का वेद विरुद्ध मतथा इस प्रकार अनेक शास्त्रार्थ हुए और जैनी परास्त होते चले गये (सत्या० समु० ११ पृ० ३०२)

इस उपर्युक्त लेख में जहां आदर सूचक बहु वचनान्त शब्द का अनेक स्थान में निर्देश किया है वहां जगद्गुरु भगवान् शङ्कराचार्य को महाविद्वान्, बड़ा उपदेशक तार्किक और ब्रह्मचारी लिखाहै इससे स्पष्ट है कि संसार भर के धर्माचार्यों में स्वा० शङ्कराचार्य का उनकी दृष्टि में कितना आदर था। इस लेख के अतिरिक्त स्वामी जी महाराज लिखते हैं कि।

शङ्कराचार्य विद्याप्रचार का विचार ही करते रहे कि इतने में ३२ वा ३३ बरस की उमर में शङ्कराचार्य का शरीर छूटगया उनके मरने से सबलोगों का उत्साह भंग होगया यहभी आर्य

वर्त देश वालों का बड़ा अभाग्य था शङ्कराचार्य दश या बारह बरस भी जीते तो विद्या का प्रचार यथावत् होजाता फिर आर्या वर्त की ऐसी दशा कभीनहीं होती (सत्यार्थ० पृ०३१४ सन् १८७५) शङ्कराचार्य कोई सम्प्रदाय के पुरुष नहीं थे किन्तु वेदोक्त चार आश्रमों के बीच संन्यासाश्रम में थे परन्तु इनके विषय में लोगों ने सम्प्रदाय की नांई व्यवहार कर रक्खा है (सत्यार्थ० पृ०३४८सन्१८७५) क्या अबभी किसी को सन्देह शेष रह जायगा कि स्वामी दयानन्द सरस्वती स्वा० शङ्करा चार्य के अनुयायी नहीं थे।

एक बार पा० अलकाट महाशय ने पूछा कि महाराजा स्वा० शङ्कराचार्य बड़े योगी थे और दूसरे के शरीर में प्रविष्ट हो जाया करते थे क्या यह सत्य है स्वामी जी ने स्वा० शङ्करा चार्य के इस परकाय प्रवेश का खण्डन जैसा कि आजकल आर्या समाजी करते हैं नहीं किया किन्तु यह उत्तर दिया है कि।

यह ऐतिहासिक विषय हैं इसमें कुछ कहा नहीं जाता हां इतना तो मै भी दिखला सकता हूं कि चाहे जिस अंग में अपनी सारी जीव शक्तिको केन्द्रित करदूं, इसमें शेषसारा शरीर जीवन शून्य हो जायगा परकाय प्रवेशतो इससे आगे एक पांव बढाना मात्र ही है (दया० प्रका०३६९) क्या यह स्वामी शङ्कराचार्य की अलौकिक योगशक्ति का समर्थन नहीं है। स्वामी जी शङ्कर मतानुयायी संन्यासियों को और अपने को एकही समझा करते थे जैसे कोई अपने घरके मनुष्य या भाई को समझाया करते हैं उसप्रकार संन्यासियों को समझाते हुए आप लिखते है।

"देखो तुम्हारे सामने पाखण्ड मत बढते जाते हैं ईसाई मुस लमानतक होते जाते हैं तनिक भी तुमसे अपने घर की रक्षा और दूसरों का मिलाना नहीं बनता बने तो तब जब तुम करना

चाहो तुमतो केवल शङ्कराचार्योक्त के स्थापन और चक्राङ्कित आदि के खण्डन में प्रवृत्त रहते हो और यावत् पाखण्डमार्ग है उनका खण्डन नहीं करते हो देखो वेदमार्ग विरोधी वाम मार्गादि सम्प्रदायी ईसाई मुसलमान जैनी आदि बढ़गये हैं अब भी बढ़ते जाते हैं और तुम्हारा नाश होता जाता है तब भी तुम्हारी आंख नहीं खुलती (सत्यार्थ समु० ११ पृ० ४०११)

और यही कारण था कि स्वामी जी के कार्य से शङ्कराचार्य के सम्प्रदायी लोग स्वा० कैलाश पर्वत आदि आन्तरिक सहानुभूति रखते थे (द्या० पृ०) और वैष्णव मतानुयायी राजा कर्णसिंह उनको तलवार से मारने के लिए दौड़े थे और कई स्थानों में वैष्णव और वैरागियों ने उन्हें मारना चाहा और पान में विष देने की चेष्टा की वाममार्गियों ने उन्हें देवी के बलि चढ़ादेना चाहा इत्यादि घटनायें उनके जीवनचरित्र पढ़ने वालों से छुपी हुई नहीं है।

एकबार स्वामी जी ने स्वा० कैलाश पर्वत से कहा भी था कि हम इन चारमतों की पोल भले प्रकार खोलना चाहते हैं (१) रामानुज (२) वल्लभाचार्य (३) यमाचार्य (निम्बार्काचार्य) (४) माध्वचार्य क्यों कि इनके मतमें बहुत से मनुष्य आगये हैं जिससे देश में बड़ा खराबी फैलगई है स्वा० कैलाश पर्वत ने उत्तर दिया कि हम तय्यार हैं आप मूर्ति पूजा और पुराणों का खण्डन छोड़दें। इसपर स्वामी जी ने कहा कि उनकी जड़ ही मूर्ति पूजा है जबतक जड़ न काटी जायगी यह सम्भव नहीं कि पापरूपी वृक्ष उखड़ जाय (आर्यधर्मेन्द्र जी० पृ० ६०)

स्वा० दयानन्द सरस्वती ने सत्यार्थ प्रकाश समुल्लास ११ पृ० ३०२ में यह सिद्ध किया है कि भारत की दुर्दशा बौद्ध और

जैनियों से बहुत होगई थी तब स्वा० शङ्कराचार्यने उनका खण्डन करके देश और धर्म की सेवा की स्वा० शङ्कराचार्य के सिद्धान्त बौद्धों के खण्डन के बड़े उपयोगी थे" परन्तु यह लिखते शोक होता है कि स्वा० दयानन्द सरस्वती के ही अनुयायी अपने गुरू के विरुद्ध यह लिखने का साहस करते रहते हैं कि इन बौद्धों में से योगाचार अर्थात् विज्ञान वादी के मतको सामने रक्खा जाय तो मालूम होगा कि शङ्कर भगवान इन के बराबर ही आसन लगाए बैठ हैं (आर्य का ऋषि बोधाङ्क फा० कृ०१४ सं०१६८३ का बौद्ध और शङ्कर मत नामक लेखदेखो)

जब स्वा० दयानन्द सरस्वती की स्वा० शङ्कराचार्य में इस प्रकार गाढ़ निष्ठा है तब उनको सनातन धर्मकी सीमा से बाहर करदेना और जो स्वा० शङ्कराचार्य को दुर्वचन प्रदान करके कलङ्कित करें उनको सनातन धर्म की सीमा में ही समझना कितनी बुरी बात है । श्रीशङ्कराचार्य को दुर्वचन कहने वाला सनातन धर्मी नहीं हो सकता, चाहे वह अपने को सनातनी कहें यह कैसे सम्भव है कि शङ्कराचार्य को गाली प्रदान करने वाला शङ्कर सम्प्रदायी की दृष्टि में सनातन धर्मी रहसके और न यही हो सकता है कि गाली देने वाला श्री शङ्कराचार्य या उसकी सम्प्रदाय को सनातनी माने, अतएव कहना पड़ेगा कि ये दो तलवार एक म्यान में नहीं आसकती, या तो वैष्णव ही सनातन धर्मी हो सकते हैं या शङ्कर सम्प्रदायी ही, दोनों को मिलाकर सनातन धर्म का स्वरूप बताना नितान्त हानि कारक बात है, स्वा० शङ्कराचार्य को जैसे अनुचित शब्दों का प्रयोग वैष्णव द्वारा समय२ पर किया जाता है उसका दिग्दर्शन पाठकों को करादेना उचित है ।

महन्त रंगाचार्यने एक "पाखण्ड दण्डनम्" नामक पुस्तक लिखी है जो वृन्दाबन में छपी है उसके द्वितीय भाग के

पृ० ३ पर लिखे हुए श्लोकों का भाव है कि " आनन्दगिरिकृत शङ्कर दिग्विजय के देखने से पता लगता है कि एक शिवस्वामी नामक ब्राह्मण बड़े वैराग्यवान और सत्पुरुष थे उन्होंने सन्यास लेलिया उनकी स्त्रीका नाम विशिष्टा था जो नित्यप्रति भक्ति युक्त शिव पूजा किया करती थी।

दिने दिने स ववृधे विशिष्टागर्भगोलकः।

अर्थात्—इस प्रकार पूजा करते हुए विशिष्टा का गर्भ गोलक बढने लगा, स्मृतियों में लिखा है कि—

अमृते जारजः कुण्डः मृते भर्तरि गोलकः

अर्थात्—पति के जीवित रहने पर जो अन्य मनुष्य का गर्भ रह जाता है उसको कुण्ड और पति की मृत्यु के अनन्तर जो गर्भ रह जाता है उसे गोलक कहते हैं, आनन्द गिरिने ही शङ्कराचार्य को गोलक लिखा है जो स्वयं शंकरमतानुयायी था"। इसी प्रकार के आक्षेप " व्यामोह विद्रावण " दुर्जनमुखमंगच पेटिका आदि ग्रंथों में और भी किये गये हैं यदि उपर्युक्त लेख पाषण्ड दलनमें न मिले तो इनदो पुस्तकों में मिलजायगा येभी वृन्दावन मिलती हैं उपर्युक्त आकर (पता) हमने पुस्तक विना पूर्व स्मरण से लिखा है।

जब स्वा० शङ्कराचार्य के पिता अपनी धर्म पत्नी के गर्भवती होजाने के अनन्तर सन्यासी हुए तब क्या रामानुजियों का यह यह आक्षेप अनुचित नहीं है श्रीशङ्कराचार्य के पिता शिवस्वामी सन्यासी होकर जीवित थे और जीवित दशा के जारज गर्भ का नाम उनके कथनानुसार कुण्ड होसकताथा गोलक नहीं, यहां तो " गोलक " शब्द अक्षिगोलक अयोगोलक की भांति गर्भके गोलकके लिये आया है तब क्या श्रीरामानुजाचार्य की माताका गर्भगोलक कभी वृद्धि को प्राप्त नहीं हुआ था और क्या इस

गोलकशब्दको लेकर उनको भी यही व्यवस्था होगी। शङ्करके अनुयायी आनन्दगिरि जो शङ्कराचार्य की दिग्विजय लिख रहा है क्या शिष्य होकर भी तुम्हारे ख्यालके अनुसार गोलक शब्द शंकराचार्य केलिये लिख सकता है। हमें तो उन सनातनधर्मियों की बुद्धिपर क्रोध और हंसी आती है जो इनको सनातनधर्मी और स्वा० दयानन्द सरस्वती को अन्य तथा शत्रु समझते हैं, मौलाना हालीने ठीक कहा है—

उसे जानते हैं बड़ा अपना दुश्मन।
हमारे करे ऐब जो हमपै रोशन॥
नसीहतसे नफ़रत है नासेहसे अनबन।
समझते हैं हम रहनुमाओंको रहज़न॥
यही ऐब है सबको खोया है जिसने।
हमें नाव भरकर डुबाया है जिसने॥

अब यहां एक प्रश्न शेष है कि स्वामी दयानन्द सरस्वती को स्वा० शंकराचार्य प्रतिपादित अद्वैतवाद में क्या आपत्ति है इसके बताने से पूर्व आवश्यक है अद्वैतवादका सामान्य परिचय पाठकों को करा दिया जाय जिससे स्वामीजी के मन्तव्य समझने में सुगमता होसके।

अद्वैत वेदान्तियों के सिद्धान्त में एक ही अखण्ड ब्रह्म सच्चिदानन्द सत्य अविनाशी आकाशकी भांति व्यापक तथा चैतन्य है, और उसकी अनंत सामर्थ्य या स्वाभाविक क्रियाका नाम माया है, वह ब्रह्मसे पृथक् नहीं है परन्तु उस अनादि और निष्क्रिय ब्रह्म में कब और कैसे उस स्वाभाविक क्रियाका प्रादुर्भाव हुआ इसका कुछ भी पता मनुष्य को नहीं लग सकता, इसमें माया भी अनादि मानी जाती है परन्तु परिवर्तन शील होनेसे स्वतन्त्र इसकी कोई सत्ता नहीं है, परिवर्तन शील का वेदान्त में दूसरा

पर्याय मिथ्या है, इससे मायाको मिथ्या भी कहते हैं, जितने अवकाशमें माया अर्थात् ब्रह्मकी स्वाभाविक क्रियाका प्रादुर्भाव होता है उतने ही सगुण और सक्रिय ब्रह्मकी 'ईश्वर' संज्ञा होजाती है।

ब्रह्म उस ईश्वर से भी बृहत् है "पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि" (यजुर्वेद ३१।३) उस ब्रह्मके एक पाद में सारे ब्रह्माण्ड हैं और त्रिपाद अमृत है। इससे अद्वैतवादियों के मतमें एक ब्रह्म या परमेश्वर है जिसके लक्षण बताने में वेद भी "नेति नेति" कह उठता है दूसरा ईश्वर है जो उस परमेश्वर से भिन्न तो नहीं परन्तु मायोपाधिक होनेसे ईश्वर कहाता है। यही ईश्वर सृष्टिकर्त्ता अजन्मा निराकार सर्वज्ञ सर्वव्यापक सर्व शक्तिमान् आदि धर्मवाला है श्रीस्वा० शङ्कराचार्यने कहा है कि-

द्विरूपं हि ब्रह्मावगम्यते नामरूपविकारभेदोपाधिविशिष्टं तद्विपरीतं सर्वोपाधिविवर्जितम्—यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यति यत्रत्वस्य सर्वमात्मैवाभूत् तत्केन कः पश्येत् (बृहदा० ४।५।१५) इत्येवं सहस्रो विद्याविद्याविषय भेदेन ब्रह्मणो द्विरूपतां दर्शयन्ति वाक्यानि (ब्रह्मसूत्र शाङ्कर भाष्य १।१।१२)

अर्थात्—ब्रह्म दो प्रकार का होता है नाम रूपात्मक विकार भेद की उपाधि से युक्त तथा उससे विपरीत सर्व उपाधि रहित जहां द्वैत होता है वहां तो दूसरा दूसरे को देख सकता है और जहां अद्वैत ज्ञान से सबको आत्माही जानने लगता है तब कौन किसे देखे इस प्रकार सहस्रों वेदान्तवाक्य विद्या और अविद्या के भेदसे ब्रह्मके दोरूप कहते हैं "सत्यपि सर्वव्यवहारोच्छेदिनि महाप्रलये परमेश्वरानुग्रहादीश्वराणां हिरण्यगर्भादीनां कल्पान्तरव्यवहारानुसंधानोपपत्तेः (ब्र० सू० शा० भा० १।१।१२)

सब व्यवहारके नष्ट कर देने वाली महाप्रलय के होजाने पर भी परमेश्वर की कृपा से हिरण्यगर्भ आदि ईश्वरों को दूसरे कल्पों के व्यवहारों का ज्ञान रहता है इस से सिद्ध होगया कि परमेश्वर निर्गुण और सबका आदिमूल है और ईश्वर में सृष्टि कर्तृत्व आदि गुण हैं। स्वा० निश्चलदासजी ने ब्रह्म और ईश्वर के लक्षण प्रथम और द्वितीय दोहे में भिन्न २ इस प्रकार किये हैं।

अन्तर बाहिर एक रस जो व्यापक भरपूर।
बिभु नभ सम सो ब्रह्म है नहीं नेरे नहीं दूर ॥१॥
चित् छाया माया विषै अधिष्ठान संयुक्त
मेघ व्योमसम ईश सो अन्तरयामी मुक्त ॥ २ ॥

(विचार सागर पृ० १४३)

इसी प्रकार स्वा० दयानन्द सरस्वती ने भी लिखा है कि ब्रह्म सबसे बड़ा परमेश्वर ईश्वरों का ईश्वर, ईश्वर सामर्थ्य युक्त न्यायकारी कभी अन्याय नहीं करता, दयालु सब पर कृपा दृष्टि रखता सर्व शक्तिमान् अपने सामर्थ्य ही से सब जगत् के पदार्थों का बनाने वाला है। (सत्यार्थ० समु० ११ पृ०)

(२) इस प्रकार स्वामीजी के कथनानुसार गुण भेदसे एक ही परमात्मा की परमेश्वर तथा ईश्वर संज्ञा होती है और इसी भेद को ध्यानमें रखकर स्वामीजीने आर्य समाज के नियम बनाये हैं।

(१) सब सत्य विद्या और जो पदार्थ विद्यासे जाने जाते हैं उन सबका आदि मूल परमेश्वर है।

(२) ईश्वर सच्चिदानन्द स्वरूप निराकार न्यायकारी दयालु अजन्मा अनन्त निर्विकार अनादि अनुपम सर्वाधार सर्वेश्वर सर्व व्यापक सर्वान्तर्यामी अजर अमर अभय नित्य पवित्र और सृष्टि कर्ता है, उसकी उपासना करनी चाहिये।

इन दोनों नियमों को जो अद्वैतवादी देखेगा वह समझ लेगा कि इन नियमों का प्रधान मूल अद्वैत वेदान्त है अद्वैतवाद में ही परमेश्वर सबका आदि मूल है और ईश्वरमें सृष्टि कर्तृत्व आदि गुण हैं उपासना ईश्वर की ही की जाती है ब्रह्माद्वैतज्ञान होने पर उपासना नहीं है।

" तत्राविद्यावस्थायां ब्रह्मणः उपास्योपासकादिलक्षणः सर्वो व्यवहारः (ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्य १।१।१२)

अर्थात्—अविद्या अवस्था में ही ब्रह्म का उपास्य उपासक भेद रहता है पीछे नहीं, यही बातें स्वामीजी ने अपने नियमों में प्रकट की है, नहीं तो कोई कारण नहीं था कि दो नियम बनाये जाते केवल दूसरे नियम में " सर्वादिमूल" पदका बढ़ानाही पर्याप्त था क्या कारण है कि पहले नियम में परमेश्वर" पद है और दूसरे में ईश्वर," आर्य समाजी प्रायः अद्वैतवादको समझते नहीं हैं अतएव उन्हें इन नियमोंके रहस्यों का समझना कठिनसा है परन्तु हमारा तो कथन उन सनातनधर्मी पण्डितों से है जो सब कुछ समझ कर भी इन नियमों पर दुर्लक्ष्य किये बैठे हैं।

इसके अतिरिक्त अद्वैतवाद की पुष्टि में स्वामीजी ने बहुत कुछ लिखा है जिसका दिग्दर्शनमात्र यहां भी करा देना योग्य है।

आर्याभिविनय में स्वामीजी " हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे० इस मन्त्र का अर्थ करते हुए लिखते हैं कि—

(२) "जब सृष्टि नहीं हुई थी तब एक अद्वितीय हिरण्यगर्भ ही प्रथम था, वह सब जगत् का सनातन प्रादुर्भूत प्रसिद्ध पति है, वही परमात्मा पृथिवी से लेकर प्रकृतिपर्यन्त जगत् को रचके धारण करता है (आर्या० शता० ५३)

इस उपर्युक्त मन्त्र का अर्थ करते हुए स्वामीजी ने एक अद्वितीय परमात्मा को प्रकृति का रचने वाला बताया है।

इसके अतिरिक्त य इमा विश्वभूतानि० इस मन्त्र का अर्थ करते हुए स्वामी जी कहते हैं।

(४) "होता" उत्पत्ति समयमें देने और प्रलय समय में सबको लेने वाला परमात्मा ही है "ऋषि" सर्वज्ञ इन सब लोक लोकान्तरों भुवनों का अपने सामर्थ्य कारण में होम अर्थात् प्रलय करके 'न्यसीदत्' नित्य अवस्थित है सोही हमारा पिता है फिर जब "द्रविण" रूप जगत्को स्वेच्छासे उत्पन्न किया चाहता है उस "आशिषा" सामर्थ्य से यथायोग्य विविध जगत् को सहज स्वभावसे रच लेता है (आर्या० शता० ५६) इस उपर्युक्त मन्त्रमें भी उत्पत्ति समयमें देनेवाला और प्रलयमें सब जीव और प्रकृतिको अपने भीतर लय करने वाला लिखा है और अपनी स्वभाविक सामर्थ्य अर्थात् मायासे सब जगत् की रचना बताई है।

(५) किंस्विदासी न्० इत्यादि मन्त्र का भाष्य करते हुये आप लिखते हैं कि उस विश्वकर्मा परमात्मा ने अनन्त सामर्थ्यसे इस जगत् को रचा है।

बहुत से आर्य लोग इस सामर्थ्य पद का प्रकृति अर्थ किया करते हैं परन्तु यह अर्थ मनगढन्त है अतएव अप्रमाणिक है इसलिये इसका निर्णय (फैसला) स्वा० दयानन्दसरस्वतीके अक्षरोंमें ही कर देना चाहिये, स्वामीजी लिखते हैं।

(६) परमेश्वर का अनन्त सामर्थ्य स्वभाविक ही है अन्यसे नहीं लिया गया है वह सामर्थ्य अत्यन्त सूक्ष्म है और स्वाभाविक होनेसे परमेश्वर का विरोधी भी नहीं है किन्तु उसीमें वह सामर्थ्य रहता है। इससे सब जगत् को ईश्वरने रचा है इससे क्या आया कि भिन्न पदार्थ न लेकर जगत्के रचने से उपादान कारण परमेश्वर ही है

क्योंकि अपने से भिन्न कोई पदार्थ नहीं जिसे लेकर जगत् को रचे तथा अपनी शक्ति से नाना प्रकारके जगत् के रचनेसे दूसरे के सहाय बिना इससे जगत् का निमित्त कारण भी ईश्वर ही है किसी अन्य पदार्थ की सहायसे ईश्वरने जगत् को नहीं रचा किन्तु अपनी सामर्थ्यसे जगत् को रचा है साधारण कारण भी जगत् का ईश्वर है (सत्यार्थ पृष्ठ २५७ सन १८७५)

इस उपर्युक्त लेख देखने से अब किसी को कुछ शंका नहीं रह सकती कि इन शब्दों में स्वामीजी का अद्वैतवाद के सिवाय और भी कुछ अभिप्राय होगा, क्या कोई सामर्थ्य पद का अर्थ प्रकृति लिया सकता है, जो ईश्वरसे भिन्न स्वतन्त्र वस्तु हो। क्या किसी की सामर्थ्य उस व्यक्तिसे पृथक् रह सकती है फिर ईश्वरसे पृथक् और स्वतन्त्र प्रकृति का सामर्थ्य पदसे ग्रहण कैसे किया जासकता है

(७) ऋग्वेद भाष्य भूमिका के पृ० ११५ में सृष्टि विद्या का प्रकरण स्वामीजीने लिखा है उसमें सर्व प्रथम मन्त्र है

नासदासीन्नोसदासीत्तदानीं नासीद्रजो नो व्योमा परो यत्
किमावरीवः कुहकस्य शर्मन्नम्भः किमासीद् गहनं गभीरम्

भाष्य- यदा कार्यं जगन्नोत्पन्नमासीत् तदाऽसत्सृष्टेः प्राक् शून्यमाकाशमपि नासीत् तस्मिन् काले सत्प्रकृत्यात्मकमव्यक्तं सत्संज्ञकंजगत्कारणं तदपि नो आसीन्नावर्त्तत परमाण-वोऽपि नासन् व्योमाकाशमपरं यस्मिन्विराडाख्ये सोऽपि नो आसीत् किन्तु परब्रह्मणः सामर्थ्याख्यमतीव सूक्ष्मं सर्वस्य परमकारण मेव तदानींसमवर्त्ततेत्यादि (ऋ०वे०भू० पृ० ११६)

अर्थात् "जब यह कार्य सृष्टि उत्पन्न नहीं हुई थी तब शून्य नाम आकाश भी नहीं था और रजोगुण और तमोगुण मिला के जो प्रधान (प्रकृति) कहाता है वह भी नहीं था और उस

समय परमाणु भी नहीं थे और विराट् भी नहीं था केवल उस परब्रह्म की अत्यन्त सूक्ष्म सामर्थ्य थी

अब इससे अधिक और क्या प्रमाण हो सकता है, कि सृष्टि से पूर्व न तो प्रकृति ही थी और न परमाणु ही, केवल परमात्मा की स्वाभाविक सामर्थ्य जिसको वेदान्त की परिभाषामें माया कहते हैं, विद्यमान थी अब परमाणु और प्रकृतिसे भिन्न कोई वस्तु सामर्थ्यादि य नित्य है तो वेदान्तियों की मानी हुई माया का नाम ही तो इसने सामर्थ्य रख लिया है। ज्ञात रहे कि वेदान्तने भी परमेश्वर की सामर्थ्य (माया) को नित्य माना है परन्तु वह सद्रूपवस्तु नहीं है केवल परिणामी नाम रूपात्मक ही है यदि स्वामीजी जीव ईश्वर प्रकृति तीनों को नित्य स्वतन्त्र और अपरिणामी मानते तो सत्यार्थप्रकाश की तरह ही सुपर्णा सयुजा सखाया (स० प्र० २५८) इत्यादि मन्त्र लिखकर ऋग्वेद भूमिकामें भी उस सिद्धान्त को वैदिक प्रतिपादन करते, परन्तु सारी भूमिकामें यह मन्त्र नहीं मिलता और न प्रथम सत्यार्थ प्रकाशमें ही है परन्तु स्वामीजीने द्वितीयावृत्ति सत्यार्थ प्रकाशमें यह मन्त्र लिखकर जीव ईश्वर प्रकृति तीनों को नित्य माना इसका कारण आगे बताया जायगा। यहां तो यही बताना है कि स्वामीजी ईश्वर के सामर्थ्य को प्रकृतिसे भिन्न मानते हैं, आप लिखते हैं

"ईश्वरस्य सकाशाद्वेदानामुत्पत्तौ सत्यां स्वतो नित्यत्वमेव भवति तस्य सर्वसामर्थ्यस्य नित्यत्वात् (ऋग्वेद भा० भू० पृ० २७)

अर्थात् वेद ईश्वरसे उत्पन्न हुए हैं इससे वे स्वतः नित्य स्वरूप ही हैं क्योंकि ईश्वर का सब सामर्थ्य नित्य ही है" यहां सामर्थ्य पद प्रकृतिसे भिन्नके लिये ही प्रयुक्त किया है, अन्यथा

वेदभी फिर प्रकृतिका कार्य होजायगा स्वामीजीने द्वितीयावृत्ति सत्यार्थप्रकाशमें जीव ईश्वर प्रकृति तीनों को भिन्न २ माना है, क्या यहां जो सामर्थ्य पद आया है और जिसे तुम प्रकृति का पर्याय बताते हो ईश्वरसे भिन्न है।

(८) त्रिपादूर्ध्व० इत्यादि मन्त्रका अर्थ करते हुए स्वामीजी लिखते हैं "एकं जंगमं जीवचेतनादिकं जगत् द्वितीयं पृथिव्यादिकं च यज्जडं जीवसम्बन्धरहितं जगदस्ति तदुभयं तस्मात् पुरुषस्य सामर्थ्यात्कारणादेव जायते [ऋग्वे० भा० १२२] अर्थात् एक जगत् जङ्गम जीव आदि द्वितीय जड़ पृथिव्यादि ये दोनों उस परमात्मा की सामर्थ्य से उत्पन्न होते हैं।

अब इससे अधिक स्पष्ट और क्या प्रमाण होगा कि जीव और प्रकृति दोनों ही परमात्मा की सामर्थ्य से उत्पन्न होते हैं यदि सामर्थ्य का अर्थ प्रकृति करोगे तो जीव भी प्रकृतिसे उत्पन्न हुआ मानना पड़ेगा। इसी प्रकार स्वामी कृत ऋक् भाष्य उपर्युक्त कथन की पुष्टि कर रहा है, विस्तार भयसे यहां नहीं लिखा गया जिज्ञासु मनुष्य ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका को स्वयं देख लें।

(९) यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत् प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद्विजिज्ञासस्व तद्ब्रह्म। तैत्ति० भृगु० अनु० १

जिस परमात्मा की रचनासे सब पृथिव्यादि भूत उत्पन्न होते हैं। जिससे जीव उत्पन्न होकर जीते हैं और जिसमें प्रलय को प्राप्त होते हैं वह ब्रह्म है स० प्र० समु० ७ पृ० २१८, इस मन्त्रमें भी स्वामीजीने जगत् और जीवोंका ब्रह्मसे उत्पत्ति तथा ब्रह्ममें ही लय लिखा है और वैसाही स्वा० शंकराचार्य ने लिखा है जिसके अनुकूल स्वामीजी ने वैसा माना है।

'एवं क्रमेण सूक्ष्मं सूक्ष्मतरं चानन्तरमनन्तरं कारणमपीत्य सर्वं कार्यजातं [illegible] ब्रह्माप्येति

का अपनाना होगा अपनी क्षुधा निवृत्ति की तरह उनकी भी चिन्ता करनी पड़ेगी सच्चा परमात्म प्रेम किसीसे घृणा नहीं करता वह ऊँच नीच की भेद भावना को त्याग देता है उतना ही पुरुषार्थ औरोंके लिये करता है जितना अपने लिये कष्ट क्लेश करता है ऐसे ज्ञानी जन ही वास्तवमें आत्मप्रेमी कहलानेके अधिकारी हैं यह साधु यह सुनकर स्वामीजीके चरणोंमें गिर पड़ा और अपने अपराध को क्षमा कराने लगा (द्या० प्र० १२५) यह देखिये यह माया वाद शंकरमत का कैसा मार्मिक उपदेश है जिससे स्वामी सत्यानन्दजीके कथनानुसार बूढ़ा हुआ मायावादी भी स्वामीजीके चरणों में गिर पड़ा।

(१३) शंकर सम्प्रदाय का एक सिद्धांत है जिसे कर्म संन्यास कहते हैं, जब मनुष्यको जीव ईश्वर की एकता का ज्ञान हो जाता है तब उसके लिये कोई नित्य नैमित्तिक कर्म शेष नहीं रह जाता, स्वा० शंकराचार्य लिखते हैं "अहंकारो ह्ययमस्माकं यद्ब्रह्मात्मावगतौ सत्यां सर्वकर्तव्यताहानिः कृतकृत्यता चेति (ब्र० सू० शां० भा० १।१।४) अर्थात् यह हमारा अलंकार है जो जीव ब्रह्म की एकता का ज्ञान हो जाने पर सब कर्मों का त्याग कर देते हैं और कृतकृत्य हो जाते हैं यही कारण है कि यज्ञादि क्रिया व चिन्ह शिखा सूत्र (स० समु० ११) का भी शंकरानुयायी परित्याग कर देते हैं। स्वामीजी से भी शिखा सूत्र का परित्याग कराया गया। और आर्य संन्यासियों में अब भी होता है यह सब कुछ जब ही सम्भव है जब "अहं ब्रह्मास्मि" का पाठ पढ़ा जाय नहीं तो अज्ञान दशामें तो सर्वथा कर्म करने ही चाहिये स्वामीजी लिखते हैं बाह्य जितने कर्म हैं उनको त्याग कर योगाभ्यासादि आभ्यन्तर कर्मों को यथावत्

करे (दया० प्र० ४६४) इत्यादि सिद्धान्त शंकराचार्य तथा स्वा० दयानन्दाचार्य के पक्ष से ही हैं जो अद्वैत ज्ञान छोड़कर द्वैतमानते हैं उन वैष्णव सम्प्रदायोंमें सन्यास लेने पर भी शिखासूत्र का परित्याग नहीं होता है

(१४) इसी प्रकार स्वामीजीने शंकरामतानुकूल ब्रह्म के लक्षण सजातीय विजातीय स्वगतभेद शून्य किये हैं (सत्या० समु० १ पृ० १८) यदि स्वामीजी जीव ईश्वर प्रकृति इस तत्वत्रय को अनादि मानते तो यह लक्षण नहीं लिखते क्योंकि व्यापक परमात्मामें जीव प्रकृतिके रहनेसे स्वगतभेद शून्य ब्रह्म नहीं होसकता इत्यादि छोटी २ अनेक बातें हैं जो स्वामीजीने अपने लेख से प्रगट की हैं और जिनसे अद्वैतवाद स्पष्ट सिद्ध होता है।

अब मुक्तिके विषयमें स्वामी शंकराचार्यके मतका अनुवाद करके स्वामीजीके मतका उद्धेख करता हूँ स्वामी शंकराचार्यजी लिखते हैं।

"मुक्तानांच पुनरनुत्पत्तिः कुतो विद्या नष्ट बीजशक्ते दाहात् (ब्र० सू० शां० भा १।४।३) अर्थात् मुक्तहो जाने पर फिर जन्म नहीं होता क्योंकि अद्वैत ज्ञानसे जन्म होने की शक्तिका ही दाह हो जाता है। अब स्वामीजी का मत देखना चाहिये कि मुक्तिसे पुनरावृत्तिमें उनका क्यासिद्धांतहै, स्वामीजीने प्रथमावृत्ति सत्यार्थ प्रकाशमें यह कहीं भी नहीं लिखा है कि जीव मुक्ति से फिर लौट आता है, किन्तु यह लिखा है

(१) "जीवका जन्म मरण का मूल अविद्या ज्ञानसे नष्ट हो जाती है, मनुष्य फिर वह जन्म धारण नहीं करता (स० प्र० २६४ सन् १८७५) इस विद्यासे अमृत जो मोक्ष उसको प्राप्त होजाता है फिर दुःख: सागरमें कभी नहीं गिरता [स० २७५ सन् १८७५]

[२] "यथावद्विद्याविज्ञानधर्मानुष्ठानानन्तरं यन्निर्भ्रमं ब्रह्मतत्त्व विज्ञानं तेनसर्वज्ञस्येश्वरस्य सर्वानन्दप्राप्त्या जन्ममरणादि सर्वदुःख निवृत्तिः ईश्वरानन्देन सह सदैवावस्थितिर्मुक्तिः [वेद विरुद्ध म० खं० श०] यथावत् जो विद्या विज्ञान और धर्मका जो यथावत् अनुष्ठान करनेके पश्चात् निर्भ्रान्त ब्रह्मको जानना उससे सर्वज्ञ ईश्वरके सब आनन्द की प्राप्तिसे जन्म मरणादि सब दुःखोंकी निवृत्ति और ईश्वरके आनन्दके साथ सदैव अवस्थिति मुक्ति कहाती है [पं० भीमसेन कृत टीका]

[३] फिर उस दुःखके अत्यन्त अभाव और परमात्माके नित्य योग करनेसे जो सब दिनके लिये परमानन्द प्राप्त होता है उस सुख का नाम मोक्ष है [ऋग्वेद भा० प० १९२]

[४] "इति मुक्तैः प्राप्तव्यस्य मोक्षस्वरूपस्य सच्चिदानन्दादिलक्षणस्य परब्रह्मणः प्राप्तया जीवःसदा सुखी भवतीति बोध्यम्" अर्थात् इस प्रकार मुक्त जीवोंसे प्राप्त करने योग्य मोक्षके स्वरूप परमात्मा की प्राप्तिसे जीवसदा आनन्दमें रहताहै और सदा उसमें स्वच्छन्दता से रमण करता है [ऋग्वेद भा० भू०प्र० १९७] इस प्रकार स्वामीजी ने अपने प्रत्येक ग्रंथमें मुक्तिसे फिर नहीं लौटना माना है यदि स्वामीजीका सिद्धान्त मुक्तिसे पुनरावृत्ति होता तो क्यों न वे "कस्य नूनं कतमस्य प्रजाना" मित्यादि ऋग्वेदके मंत्र वर्तमान सत्यार्थ प्रकाशकी तरह ऋग्वेद भाष्य भूमिकामेंभी लिखते । इससे पाठकों कोसमझलेना चाहिये कि स्वा० दयानन्द सरस्वती तथा स्वा० शङ्कराचार्यका इस विषयमें एकही सिद्धान्त है सत्यधर्म विचार नामक पुस्तकमें स्वामीजीने लिखा है ।

[५] मुक्ति कहते हैं छूट जाने को अर्थात् जितने दुःख हैं उन सबसे छूटकर एक सच्चिदानन्द रूप परमेश्वर को प्राप्त होकर आनन्दमें रहना और फिर जन्म मरण आदि दुःख सागरमें नहीं

गिरता इसीका नाम मुक्ति है [सत्य ध० वि० शा० पृ० ८३७] आर्य-समाजी पण्डित जान बूझकर इन बचनों पर दुर्लक्ष्य करके कहा करते हैं कि यहां सदा पद सापेक्ष है अर्थात् जब तक मुक्ति की मियाद है तब तक दुःख सागरमें नहीं गिरता और तब तक ही सुखी रहता है। परन्तु जिसको जरासी भी समझ है वह समझ लेगा कि यह कोरा प्रतारण मात्र है, और स्वामीजीके अभिप्राय से कोसों दूरकी बात है। जन्म मरणके दुःखसागरमें नहीं पड़ता इससे अधिक स्वामीजीके और क्या अक्षर हो सकते हैं जिनसे यह बताया जासकता है कि मुक्ति नित्य है आप कोई भी अक्षर लिखदें हम सबको सापेक्ष अर्थात् मुक्ति की मियाद तकके लिये बता सकते हैं।

अब यहां केवल एक यही लम्बा चौड़ा प्रश्न शेष रह जाता है कि जब स्वामीजी शङ्करमतानुयायी थे तो फिर क्या कारण है कि उन्होंने दूसरीबारके सत्यार्थप्रकाशमें अद्वैतवाद का खण्डन करके मुक्तिसे पुनरावृत्ति मानली। इसकी बाबत बहुतसे पण्डितों का खयाल है कि वर्त्तमान सत्यार्थप्रकाश स्वामी दयानन्द सरस्वती की मृत्युके अनन्तर छपी है, और आर्यसमाज प्रयागकी बनाई हुई है, यह बात पं० तुलसीरामजी मेरठ वालेने अपने पत्र वेदप्रकाश पृ०१८२ अगस्त सन् १९१० में लिखी है, और उर्दू सत्यार्थ प्रकाश की भूमिका में मन्त्री आर्य समाज लाहौर ने भी यही माना है, इसके अतिरिक्त इस सत्यार्थ प्रकाश का प्रूफ संशोधन भी स्वामीजी नहीं करसके यहबात शताब्दी संस्करण की भूमिका में पं० हरबिलास शारदाने भी मानी है जब स्वामी जी को जीवित अवस्था न ही आर्य समाजियों के खयाल के अनुसार पौराणिक पंडितों ने सत्यार्थ प्रकाश में मिलावट करदी की तब कौन बड़ी बात है कि उनकी मृत्यु के अनन्तर वर्तमान

सत्यार्थ प्रकाश में भी किसी ने अद्वैतवाद का खण्डन और मुक्ति से पुनरावृत्ति मिलादी थी। दूसरे पक्ष के विद्वानों का विचार है कि स्वामी जी के विचार तो अद्वैतवादी ही थे, परन्तु वे वेदान्त विषय के धुरन्धर विद्वान् नहीं थे, इसलिये वेदान्त की गुत्थियों के सुलझाने में असमर्थ रहने के कारण सीधासाधा सिद्धान्त जीव ईश्वर प्रकृति तीनों अनादि मानकर उत्तर दे दिया करते थे, यदि वे इस विषय के विद्वान् होते तो वेदान्तशास्त्र के पारिभाषिक शब्द अविद्या जिसका अर्थ कर्म है योगशास्त्र प्रसिद्ध मिथ्या ज्ञान नहीं करते। स्वामीजी ईशोपनिषद् के मंत्र का अर्थ करते हुए लिखते हैं। "अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्य शुचिसुखात्मख्यातिरविद्या" (पातञ्जल योगसूत्र) जो अनित्य अपवित्र दुःख और अनात्म पदार्थ में नित्य शुचि सुख और आत्मा का ज्ञान करलेना अविद्या है (सत्यार्थ० समुल्लास० ६) यदि इस प्रकार अविद्या शब्द को मिथ्या ज्ञान अर्थ ही माना जाय तो "अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते (यजुर्वेद अ० ४० । १४) अविद्या से मृत्यु को तरकर विद्या से अमृत प्राप्त होता है यह अर्थ ठीक नहीं रहता। क्यों कि मिथ्या ज्ञान से मृत्यु का तरना असम्भव है, इसमे यहां अविद्या शब्द का वेदान्त का पारिभाषिक अर्थ कर्म ही लिया जायगा। पारिभाषिक शब्द उसे कहते हैं जो शास्त्र अपने लिये किसी भी शब्द का अर्थ कुछ ही नियत करले, चाहे अन्य शास्त्रों में उस का कुछ भी अर्थ हो, पारिभाषिक शब्द प्रत्येक शास्त्र में होते हैं स्वामीजी ने भी अविद्या शब्द का अर्थ इस मंत्र में कर्म ही किया, परन्तु वहीं नवम समुल्लास के आरम्भ में इसे योग शास्त्र सिद्ध अविद्या शब्द के साथ मिला दिया है। इसके अतिरिक्त सत्यार्थ प्रकाश में जो अद्वैतवाद पर आक्षेप किये हैं उनके

देखने से भी विदित होजाता है कि इन आक्षेपों के करनेवाले को अद्वैतवाद से कुछभी विज्ञता नहीं है। परन्तु हमारा मत यह नहीं है हमतो इसी पुस्तक के पृ० ४६ में लिखचुके हैं कि स्वामी जी को चैतन्य मठ में इस सिद्धान्त की पूरी अभिज्ञता प्राप्त हो चुकी थी।

अद्वैतवाद में एक ही ब्रह्म सत्य और स्वतन्त्र है, तथा नाम रूपात्मक (मायारूप) अर्थात् केवल दृश्य है जैसे सुवर्ण सत्य पदार्थ है और उसपर नामरूपात्मक कड़ा कंगन आदि केवल दृश्य या मिथ्या हैं मुसलमान ईसाइयों के यहां भी केवल एक परमेश्वर ही सर्व प्रथम है, और उसीने अपनी शक्ति से जीवात्मा (रूह) और प्रकृति (माद्दा) को रचा है, तब यहां यह बड़ा प्रश्न शेष रहजाता है कि असत् से सत् कैसे होगया अर्थात् जो ईश्वर में भलाई बुराई नहीं है वह संसार में कहां से आगई क्योंकि जो चीज जहां पहले है नहीं वह हो नहीं सकती संसार में कोई उदाहरण नहीं है कि असत (नेस्ती) से सत (हस्ती) हो सके तिलों से ही तेल निकल सकता है बालू से नहीं, परन्तु यह शंका उसी स्थानपर हो सकती है, जहांगुण परिणाम वाद 'दूध से दही बनसकता है तेलनहीं' यह माना जाय इस लिये ईश्वर से ईश्वर उत्पन्न हो सकते हैं जीवात्मा और प्रकृति नहीं। मुसलमान और ईसाइयों के यहां परमात्मा भी सत्य है और उससे उत्पन्न होने वाले जीवात्मा और प्रकृति भी सत्य ही हैं, और सत्य से उत्पन्न हुई सत्य वस्तु में कारण के गुण कार्य में आना आवश्यकीय है परन्तु अद्वैत वाद में जहां ब्रह्म सत्य है, वहां माया केवल दृश्य अर्थात् बाहरी दिखावा मात्र है, वह कोई सत्य या स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है, इसेही वेदान्त की परिभाषा में विवर्तवाद कहते हैं।

यस्तात्त्विको ऽन्यथाभावः परिणाम उदीरितः
अतात्त्विकोऽन्यथाभावो विवर्तः परिकथ्यते (गीतारहस्य)

जो तात्विक बदलाव होता है वह परिणाम कहाता है जैसे दूधसे दही तिलोंसे तेल और जो अतात्विक बदलाव है उसे विवर्त्त कहते हैं जैसे रज्जुमें सर्प तथा शुक्तिमें रजतका भान होता है। यहां रस्सीमें सर्पका बदलाव तात्त्विक नहीं है, वहतो मनुष्यने अपनी इन्द्रियों द्वारा कल्पित खड़ा कर लिया है, यहां यह आवश्यक नही है कि रस्सी में सर्प हो तबही प्रतीत होवे। इन गुण परिणाम वाद और विवर्त्तवाद के भेदको न समझ करही कुछ मुसलमान आज कल विवाद किया करते हैं जैसे तुम्हारे एकही ब्रह्मसे सृष्टि है इसी प्रकार हमारे यहां भी एक शब्दसे दुनियां बन जाती है, परन्तु यह उनकी भूल है, स्वा० दयानन्द सरस्वती ने अनुभव कियाकि इनको इतना भी कहनेका मौका न मिले कि जैसा तुम्हारा एक ब्रह्म वैसा हमारा एक खुदा. इनके मस्तिष्क (दिमाग) अभी इतने कहां है जो विवर्त्तवाद को समझसके इस बात के समझने केलिये तीव्र बुद्धिकी आवश्यकता है। और यही बात लोकमान्य तिलकने कही है कि इसमें सन्देह नहीं कि ब्रह्मात्मैक्य ज्ञानही केवल सत्य और अन्तिम साध्य है तथा उसके समान इस संसार में दूसरी कोई भी वस्तु पवित्र नहीं है, तथापि अब तक उसके विषयमें जो विचार किया गया और उसकी सहायतासे साम्यबुद्धि प्राप्त करनेका जो मार्ग बतलाया गया है वह सब बुद्धिगम्य है. इस लिये सामान्यजनों को शङ्का है कि उस विषय को पूरी तरहसे समझने केलिये प्रत्येक मनुष्य की बुद्धि इतनी तीव्र कैसे हो सकती है और यदि किसी मनुष्य की बुद्धि इतनी तीव्र नहो तो क्या उसको ब्रह्मात्मै-क्य ज्ञानसे हाथ धो बैठना चाहिये क्योंकि बड़े बड़े ज्ञानी पुरुष

विनाशी नाम रूपात्मक मायासे आच्छादित तुम्हारे इस अद्भुत-स्वरूपी परब्रह्मका वर्णन करते समय 'नेतिनेति' कह कर चुप हो जाते हैं तब हमारे समान साधारण लोगोंकी समझमें वह कैसे आवे आश्चर्य चकित होकर आत्मा (ब्रह्म) का वर्णन करने वाले तथा सुनने वाले बहुत हैं तो भी किसी को उसका ज्ञान होता है (गीतारहस्य पृ० ४०५)

इसलिये स्वामीजीने आवश्यक समझा कि जीव ईश्वर प्रकृति तीनोंको अनादि सत्य मानकर इन विरोधियों का खण्डन किया जाय और अमन (चैनी) से सनातनीके उत्पन्न होने की आशा की जाय, अतएव प्रथमावृत्ति सत्यार्थ प्रकाश के विरुद्ध स्वामीजीने वर्तमान सत्यार्थ प्रकाश में यह त्रैतवाद उठाया है। और यह हमारा ख्याल बिलकुल निराधार नहीं है स्वामीजी की विद्यमानता में एक नारायणदासके नामसे सुदर्शन प्रेस, मुरादाबाद का उर्दू में छपा हुआ एक नोटिस निकला है जो अब भी इस्वा न्दुलकबर दूसराके पृ० २५० में उद्धृत है। उसमें लिखा है कि स्वामीजी प्रथम एक ही ब्रह्मको सत्य मानते थे परन्तु मुन्शी इन्द्रमणि के कहनेसे उन्होंने जीव प्रकृतिको भी अनादि सत्य मान लिया। और ऐसा ही आर्य दर्पण पत्र ३८ मई सन ८२ में छपा है यह सब जानते हैं कि मुन्शी इन्द्रमणि जी मुसलमानोंके विरुद्ध स्वामीजीसे पूर्व ही लिख रहे थे जो पुस्तकें अब भी कहीं २ मिल जाती हैं, स्वामीजी और मुन्शी इन्द्रमणि साथ ही ईसाई मुसलमानोंका खण्डन करने के लिये मेला चान्दापुर में पहुंचे थे और वहींसे उन्होंने अपने सिद्धान्त अद्वैतवादसे बदला है, नहीं तो इससे पूर्व आर्याभिविनय आदि में उन्होंने अद्वैतवाद ही लिखा है, जैसा कि हम पूर्व दिखा चुके। परन्तु यह ध्यान रहे कि जीव ईश्वर प्रकृति तीनोंको भिन्न २ अनादि

तथा मुक्तिसे पुनरावृत्ति मानकर भी स्वामी दयानन्द सरस्वती ने अपना सिद्धान्त हाथसे नही जाने दिया, ऐसा मानलेने से स्वा० शङ्कराचार्यके सिद्धान्त में तनक भी आंच नहीं लगती. स्वा० शङ्कराचार्य तो स्वयं लिखते हैं कि।

" नही कत्वचि ज्ञानेनोन्मथितस्य द्वैतविज्ञानस्य पुनः सम्भवोस्ति (ब्र० सू० शां० भा० १ । १ । ४ ।) जिसने एकत्त्वके ज्ञान से द्वैत ज्ञान अर्थात् जीव ब्रह्मको भिन्नता को नष्ट कर दिया है उसका फिर जन्म नहीं होता। जब तक जीव माया (प्रकृति) और ईश्वर का भेद है तब तक मुक्ति प्राप्त होने पर भी लौटना पड़ेगा चाहे वह मुक्ति कितनेही समय केलिये क्यों न मिली हो 'जीव ईश्वर प्रकृति को अनादि मानना' यह सिद्धान्त स्वा० शङ्कराचार्यके विरुद्धतो तब होता जब स्वा० रामानुजाचार्य की तरह इन तीनोंको नित्यमानकर स्वामीजी मुक्ति को नित्य मान बैठते। और जब स्वा० शङ्कराचार्य की भांति द्वैत अवस्था में मुक्ति प्राप्त करके भी लौटना पड़ेगा तब तो यही कहना चाहिए कि स्वामीजी का सिद्धान्त स्वा० शङ्कराचार्य से एक सीढी पूर्व है विरोधी नही और इसका अभिप्राय केवल यही है कि अब विरोधियों से शास्त्रार्थ करो एक सीढी पूर्व सेही करो क्योंकि उनको अभी इतनी विद्या नहीं है, और विवादसे अलौकिक मानो वही बात जो हमने आर्यसमाज के प्रथम और द्वितीय नियम में कहदी है।

स्वा०दयानन्दसरस्वती तो स्वा० शङ्कराचार्यके सिद्धान्तों को 'वेदमत' कहा करते थे। वे लिखते हैं कि। "सुन्धवा राजाने जैनियों के पण्डितों को दूर २ से बुला कर सभा कराई उसमें शङ्कराचार्यका 'वेदमत' और जैनियों का वेदविरुद्ध मतथा अर्थात् शङ्कराचार्यका वेदमतका स्थापन और जैनियों का वेदका खण्डनथा शास्त्रार्थ कई दिनों तक

हुआ जैनियोंका मत यह था कि सृष्टिका कर्ता अनादि ईश्वर कोई नहीं, यह जगत् और जीव अनादि है इन दोनोंकी उत्पत्ति और नाश कभी नहीं होता। इससे विरुद्ध शंकराचार्यका मत था कि अनादि सिद्ध परमात्मा ही जगत् का कर्ता है यह जगत् और जीव झूंठा है क्योंकि उस परमेश्वरने अपनी मायासे जगत् बनाया वही धारण और प्रलय करता है और यह जीव और प्रपञ्च स्वप्नवत् है परमेश्वर आपही सब जगत् रूप होकर लीला कर रहा है, बहुतदिन तक शास्त्रार्थ होता रहा परन्तु अन्त में युक्ति और प्रमाण से जैनियों का मत खण्डित और शङ्कराचार्य अखण्डित रहा। सत्यार्थ० स० ११ पृ० ३०३ अब इस प्रकारके जाज्वल्यमान प्रमाण स्वामीजी की लेखनीसे निकले हुए विद्यमान हैं, तब यह कैसे कोई बुद्धिमान् मनुष्य मान सकता है कि स्वामीजी स्वा० शङ्कराचार्य के अनुयायी नहीं थे। अतएव उपसंहार रूपमें फिर यह कहदेना उचित है कि स्वामी दयानन्द सरस्वतीने मुसलमान ईसाइयोंके खंडन के उपयोगी और अज्ञानी नई रोशनी वालों को समझाने मात्र के लिये जीव ईश्वर प्रकृतिकी नित्यता और मुक्तिसे पुनरावृत्ति पर जोर दिया है, यह उनका अन्तिम सिद्धान्त नहीं है और न स्वा० शंकराचार्य के विरुद्ध हैं आशा है कि समस्त मनुष्य विचार करके सत्यतत्त्व प्राप्त करेंगे।

स्वामी शङ्कराचार्यने वेद और ब्राह्मण को शब्द अर्थके नित्य सम्बन्धकी तरह एकही माना है, वे लिखते हैं।

"मन्त्रब्राह्मणयोश्चैकार्थत्वं युक्तं अविरोधात् (बृ० भा० भा० १। १। १५) अर्थात् मन्त्र और ब्राह्मण दोनों एकही मानने चाहिए क्योंकि इस प्रकार मानने सेही विरोधका अभाव रहता है। स्वामीजीने मंत्र भागको ईश्वरकृत तथा ब्राह्मण ग्रन्थों

को ऋषिमुनि कृत माना है और उसका कारण यह है कि ब्राह्मण ग्रंथों में इतिहास है वेद ईश्वरीय शब्द तथा ज्ञान और ब्राह्मण ग्रंथ ईश्वरीय ज्ञान है जब परमात्माने शब्दद्वारा वेद सुना दिए तब उनका अर्थ भी कोई ऋषि परमात्माके बताये बिना कैसे जान सकता है। इससे परमात्माने वेदोंके अर्थ को भी ऋषियोंके भीतरही भीतर अन्तःकरणमें जनादिया, जब ऋषि मुनि उस अर्थ को लिखने लगे तो इतिहास भी साथही लिख गये, परन्तु ऐसा नई रोशनी वाले माननेमें हिचकिचाते हैं इससे स्वामीजीने दोनों वेद और ब्राह्मणोंको भिन्न २ मान लिया स्वामीजीने यजुर्वेद भाष्य पर जो विज्ञापन निकाला है जिसमें श्राद्धकी बाबत पुरानी सत्यार्थ प्रकाश में भूलसे छप जानेकी सूचना है उसमें वेदको ईश्वरका वाक्यही लिखा है। "वेद ईश्वर का वाक्य होनेसे सर्वथा मुझको मान्य है" (स्वा० दया० स०) परन्तु आज कल आर्यसमाज वेदको ईश्वरका वाक्य न मानकर ज्ञानही मानता है, कुछ हो हो परन्तु स्वामीजी तो जो माना करतेथे उसको किसी न किसी प्रकार लिखही दिया करतेथे स्वामीजीने एक नोटिस कानपुर में निकाला है जो 'शोलेतूर प्रेस' में छपा है उसमें उन्होंने जितने ग्रंथ प्रमाणमाने हैं उनके नाम लिखे हैं वे ग्रंथ कुल २१ हैं जिसमें ऋग्वेद मनुस्मृति, ज्योतिष का ग्रंथ भृगु संहिता तक तो प्रमाण में गिनादिये हैं परन्तु ब्राह्मण ग्रंथ नही गिनाये नोटिसमें ब्राह्मण ग्रंथोंके नाम न गिनाकर भी उन्होंने सत्यार्थप्रकाशादि सब ग्रंथोंमें उनके प्रमाण दिये हैं इससे प्रकट है कि वे ब्राह्मणग्रंथोंको वेदोंके अन्तर्गत नही मानतेथे।

(२) स्वामीजी भागवतआदि पुराणोंका खण्डन करते हुये लिखते हैं "पुराणविद्यावेदो दशमेऽहनि श्रोतव्यः इत्यत्र ब्राह्मण वेदानामेव पुराणां नाम्ना भवति साक्षात् सर्वेभ्यो वेदानामेव पुरा-

तनत्वात् (वेदविरुद्ध मतखण्डन शता० पृ० ७८९)

अर्थात् "पुराण विद्या वेद मृतकके दशवें दिन श्रवण करे यहां पुराण शब्दसे ब्राह्मण लक्षक वेदोंकाही ग्रहण करना चाहिए क्योंकि सबसे अधिक वेदही पुराने हैं"।

यहाँ स्पष्ट ब्राह्मण ग्रन्थों को वेद लिखा है।

(३) प्रथमावृत्ति सत्यार्थ प्रकाश में स्वामीजीने ब्राह्मण भाग वेद नहीं हो सकते यह कहीं नहीं लिखा, प्रत्युत प्रत्येक उपनिषद् वाक्य को जो ब्राह्मणों के अन्तर्गत माने जाते हैं श्रुति कह कर पुकारा है और गोपथ आदि ब्राह्मण ग्रन्थों के वाक्य उसमें ही सामवेद आदि वेदों के नाम से लिखे हैं। जिसे यह देखना हो वह प्रथमावृत्ति सत्यार्थ प्रकाश देखलें।

(४) स्वामीजीने वैदिक संध्याविधि वेद और ब्राह्मण दोनों के ही मंत्रों के आधार पर बनाई है।

(५) स्वामीजीने वानप्रस्थ तथा संन्यास आश्रम को वैदिक सिद्ध करते हुये (शतपथ का० १४ मुण्डक खं० २ मं० ११ ख० १।१० छान्दोग्य २.२ आदि) ब्राह्मण ग्रन्थों केही वचन ऋग्वेद भाष्य भूमिका और सत्यार्थ प्रकाश में उद्धृत किये हैं इससे सिद्ध है कि स्वामीजी के खयाल में ब्राह्मण ग्रन्थों का दर्जा कोई वेदों से कम नहीं है, जो बात ब्राह्मण ग्रन्थों के अनुकूल है वह वेदानुकूल ही है अन्यथा वानप्रस्थ संन्यासादि आदि अनेक संस्कारों का वेदानुकूल सिद्ध करना ही कठिन होजायगा। किसी अन्य प्रकरणके मंत्र को लिख कर और ऊट पटांग अर्थ करके वानप्रस्थ आदि संस्कारों का सिद्ध कर लेना दुःसाध्यही है नहीं तो स्वामीजी सर्व प्रथम संहिता मंत्र क्यों न लिखते।

(६) स्वामीजी का जो काशी में शास्त्रार्थ हुआ है उसके देखने से तो कोई सन्देहही नहीं रह जाता कि स्वामीजी ब्राह्मण ग्रन्थों को वेद नहीं मानते थे काशी के पण्डितों ने जब स्वा० से पूछा कि वेद में प्रतिमा शब्द है या नहीं तब उन्होंने कहा कि वेद में प्रतिमा शब्द तो है परन्तु उसका अर्थ और है पण्डितोंने कहा कि कोई मन्त्र बोलो जिससे प्रतिमा शब्द होवे तब स्वामीजीने षड्विंश ब्राह्मण ग्रन्थ का जो सामवेद का ब्राह्मण है मन्त्र पेश किया और कहा।

"देवतायतनानि कम्पन्ते दैवतप्रतिमा हसन्तीत्यादि मन्त्रे प्रतिमाशब्दोऽस्ति स मन्त्रो न मर्त्यलोकविषयोऽपितु ब्रह्मलोक विषय एव (काशी शास्त्रार्थ शता० ८०३) अर्थात् देवताओं के स्थान काँपते हैं देवताओं की प्रतिमा हंसती है" इत्यादि मन्त्र में प्रतिमा शब्द है परन्तु यह मन्त्र मृत्युलोक के लिये नहीं किन्तु ब्रह्मलोक विषयक है।

अब विचारना चाहिये कि मन्त्र भाग को स्वामीजीने पेश नहीं किया और ब्राह्मण भाग को ही वेद के नाम से तथा मन्त्र कहकर पेश किया है। क्या इतने स्फुट प्रमाण के रहते हुये भी किसी निष्पक्ष आर्यसमाजी को ननु नच का मौका मिल सकता है।

(७) फिर स्वामीजी कहते हैं कि।

"आदित्यं ब्रह्मेत्युपासीतेत्यादि वचनं यथा वेदेषु दृश्यते तथा पाषाणादिब्रह्मेत्युपासीतेति वचनं क्वापि वेदेषु न दृश्यते (काशी शा० पृ० ८०४)।

अर्थात् "आदित्यं ब्रह्मेत्युपासीत" ये वचन जैसे वेदों में मिलते हैं वैसे "पाषाणादिब्रह्मेत्युपासीत" इत्यादि वचन किसी वेद में नहीं मिलता, इससे पाषाणादि मूर्ति सिद्ध नहीं होसकती।

अथ यह जो "आदित्यं ब्रह्मेत्युपासीत" इत्यादि वचन हैं वे वेदों के नहीं ब्राह्मण ग्रन्थों के हैं, और स्वामीजीने वेद के माने हैं। तब कहना होगा कि स्वामीजी ब्राह्मण भागको भी वेद ही मानते थे।

(८) "इतिहासः पुराणःपञ्चमोवेदानां वेदः" इस ब्राह्मण वचन को स्वामीजीने पेश किया और वेद का बताया तब पं० वामनाचार्यने कहाकि यह पाठ वेदका नहीं है, इस पर स्वामीजीने कहाकि "यदि वेदेष्वयं पाठो न भवेत् चेन्ममपराजयो यद्ययं पाठो वेदे यथावद्भवेत् तदा भवतां पराजयश्चेयं प्रतिज्ञा लेख्या" (काशी शास्त्रार्थ श० पृ० ८०६) अर्थात् यदि यह पाठ वेदोंमें न होतो मेरा पराजय और यह पाठ ज्योंका त्यों वेदोंमें होवे तो तुम्हारा पराजय समझा जाय और यह प्रतिज्ञा लिखली जाय। अब आर्य समाजी बतावे यह पाठ किस मंत्र संहिता का है जो वे ब्राह्मण ग्रंथोंको वेद नहीं मानेंगे तो स्पष्ट ही उनकी पराजय कहावेगी, और जो आर्य बड़े प्रेमसे काशी विजयके गीत गाकर प्रसन्न होते हैं वेगीतआयन्दा को छोड़ देने होंगे, या ब्राह्मण ग्रंथोंको भी वेद मानना पड़ेगा, हमें अब देखना है कि आर्य समाजी स्वामीजी को परास्त मानेंगे या स्वामीजी की तरह ब्राह्मण भागको भी वेद मानने को उद्यत होंगे।

(९) बाल शास्त्रीने शास्त्रार्थ में पूछा कि आप सब वेदानुकूल ही को प्रमाण मानते होतो बताइये वेद में मनुस्मृति का मूल कहा है, इस पर स्वामीजीने उत्तर दिया कि।

"यद्वै किञ्चिद मनुरवदत्त तद्भेषजं भेषजताया इतिसामवेद (काशी शास्त्रार्थ पृ० ८०२)

" जो कुछ मनुने कहा है वह भेषज की भी भेषज है, यह सामवेदमें लिखा है। अब फिर आर्यसमाजियोंसे पूछना है

कि यह वचन सामवेद में कहा है यदि वेदका नहीं तो स्वामी जीने मनुस्मृतिको वेदमूलक बताते हुए यह क्यों पेश किया इससे यातो ब्राह्मण ग्रंथोंको वेद मानना पड़ेगा अन्यथा मनु-स्मृतिको वेदानुकूल सिद्ध न करसकनेके कारण स्वामीजी "प्रतिज्ञा विरोध" नामक निग्रह स्थानमें आकर पराजित समझे जावेंगे।

अब हम पाठकोंकी सेवामें एक नई बात कहना चाहते हैं कि वास्तवमें इस मंत्रमें मनु शब्द मनु ऋषिका बोधक नहीं किन्तु मंत्र भागका वाची है, इस लिये उपर्युक्त गोपथ ब्राह्मण का वचन कह रहा कि जो कुछ मंत्र संहितामें कहा है वह औषधकी भी औषध है, यदि इसका अर्थ मनु महर्षि माने तो गोपथ ब्राह्मण से पूर्व मनुस्मृति की विद्यमानता हुई फिर गोपथसे पूर्वको जब मनुस्मृति स्वयं है, तो उसका गोपथके प्रशंसा करनेसे क्या महत्व होसकता है, और ब्राह्मण ग्रंथ पहले और स्मृति पोछेकी है, यह निर्विवाद क्रम नष्ट होजायगा।

वेदार्थोपनिबद्धत्वात् प्राधान्यं हि मनोःस्मृतम्
मन्वर्थविपरीता या सा स्मृतिर्न प्रशस्यते (मनु०)

वेदके अर्थसे युक्त होनेसे मनुस्मृति का प्राधान्य है मन्वर्थ अर्थात् वेदके अर्थसे विपरीत स्मृतिकी मान्यता नहीं है। परन्तु स्वामीजीने यहां भी मनुका अर्थ मनुऋषिही किया है (सत्या० १४७ सन् १८७०) जो यहां मनुशब्द का अर्थ ऋषि का माने तो कहना होगा कि मनुजी खुद अपने आप की प्रशंसा करते हैं अपने आप मियाँ मिट्ठू बननेसे कैसे प्रतिष्ठा हो सकती है। इससे इस स्थानमें भी मनुका वेदही अर्थ करना चाहिये मनुशब्दका मंत्र अर्थ है यह स्वामीजी को नहीं सूझ पड़ा। महीधरने अपने वेद भाष्यके प्रारम्भमें लिखा है कि—

प्रणम्य लक्ष्मीं नृहरिं गणेशं भाष्यं विलोक्योवटमाधवीयम्
यजुर्मनूनां विलिखामि चार्थं परोपकाराय निजेक्षणाय

लक्ष्मी नृसिंह गणेशको प्रणाम करके सायण और उवट भाष्यको देखकर यजुर्वेदके मन्त्रों का अर्थ परोपकार तथा अपने देखनेके लिये लिखता हूं 'इस श्लोक में महीधरने मनु शब्द मन्त्रके अर्थमें प्रयोग किया है, और आज कल भी इस शब्दका प्रयोग प्रचलित है। जयपुरके प्रसिद्ध पंडित श्रीकृष्णराम शास्त्रीने अपनी पुस्तक "सिद्ध भैषज्य मणि माला" के ज्वराध्यायमें मन्त्र वाची मनु शब्द का प्रयोग किया है। मनु शब्द का इस जगह कोई सनातनी तो ऋषि अर्थ कर भी सकता है। क्योंकि वे वेद में ईश्वर द्वारा भविष्य की कही गई बातें भी मानते हैं परन्तु जो ब्राह्मण ग्रन्थों को ऋषिमुनि कृत माने, वे कैसे ऐसा अर्थ कर सकते हैं। आशा है सहृदय पंडित इस हमारे अर्थ पर विचार करेंगे। म. प्र.

(१०) स्वामीजी लिखते हैं कि "ततो मनुष्याः अजायन्त" यह यजुर्वेद में लिखा है (सत्या० समु० ८ पृ० २३४) परन्तु यह यजुर्वेद के ब्राह्मण शत पथ का है जिस प्रकार सनातनी शत-पथके वाक्यों को यजुर्वेद कह कर लिखा करते हैं ऐसा ही स्वामीजीने किया है, परन्तु उनके अनुयायी नहीं मानते। किन्तु इस स्थान पर यह वचन यजुर्वेद के ब्राह्मण में लिखा है, ऐसा पाठ पञ्चमसंस्करणके पीछे बदल दिया है, और ऐसा ही काशीशास्त्रार्थ पुस्तक की भाषा बनाते समय जहां स्वामीजी ने ब्राह्मण वचन को वेद कहा है, वहां उनकी भाषा में ब्राह्मण ग्रंथ ऐसा अर्थ कर दिया है। स्वामीजी की मृत्युके अनन्तर इस प्रकार उनके ग्रंथों में परिवर्तन करते रहना आर्य समाज की नैतिक मृत्यु नहीं तो और क्या कह सकते हैं।

(११) स्वामीजीने ईश केन आदि दश उपनिषद् प्रमाण माने हैं इससे प्रगट होता है कि जो दर्जा ईश उपनिषद् का है वही केन आदि का है क्योंकि ये उपनिषद् सारेही परा विद्याके अन्तर्गत हैं जब ईश उपनिषद् यजुर्वेदका चालीसवां अध्याय है तब उसकी प्रामाणिकता तो वेदोंके साथ हो चुकी, पुनः उसे उप निषदोंके साथ प्रामाणिकतामें क्यों कहा, इससे प्रगट है कि स्वामीजी पराविद्या कहलाने वाले उपनिषदों को एकही श्रेणी में मानते थे, चाहे वह उपनिषद् वेदमें आया हो या ब्राह्मणमें। अन्यथा कोई कारण नहीं है कि जब उसका प्रामाण्य वेदके साथ हो चुका तब उसको फिर उपनिषदोंके साथ गिनाते, इससे स्पष्ट है कि कर्मकाण्डात्मक वेद और ब्राह्मण को ज्ञानकाण्डात्मक वेद और ब्राह्मण जिन्हें उपनिषद् कहते हैं भिन्न ही मानते थे इन दोनों भाग कर्म और ज्ञान को अपरा और परा विद्याकहतेहैं। स्वामीजी वेद को ईश्वरीय ज्ञान मानते हैं और उन वेदों का लिखा जाना ऋषियों द्वारा माना है, जब ऋषि सृष्टि की आदिमें बिना ईश्वरके ज्ञान दिये वेद मन्त्र नहीं जान सकते थे तब उनका अर्थ भी बिना ईश्वरके बताये कैसे जान सकते हैं जैसे ईश्वर वेदमन्त्र ऋषियों को बतावेगा, उसही प्रकार उनका अर्थ भी तो साथही बताना पड़ेगा नहीं तो ऋषि अर्थ कैसे जान सकते हैं, इसलिये ब्राह्मण ग्रन्थ भी ईश्वरीय ज्ञान मानने पड़ेंगे। इस विषय का अधिक विवेचन समय आया तो अपनी "वेदभाष्यभूमिका" में करेंगे।

अब मृतक श्राद्ध के विषय में स्वामीजीका क्या मत है इसका दिग्दर्शन करा देना चाहिये स्वामीजी लिखते हैं।

(१) मरे पित्रादिकोंके श्राद्ध और तर्पणसे क्या आया कि जीतेकी श्रद्धासे सेवा करे।

(२) जब तर्पण और श्राद्ध करेगा तब उसके चित्तमें ज्ञान का सम्भव है कि जैसे वे मरगये वैसे मुझको भी मरना है जिस से धर्ममें प्रीति और अधर्मसे भय होगा।

(३) दाय भाग बांटनेमें सन्देह न होगा।

(४) विद्वानों को निमन्त्रण देकर जिमाने से मूर्खों की विद्या में प्रवृत्ति होगी।

(५) श्राद्धके दिन ऋषि और पितृ संज्ञक विद्वानों से मनुष्य धर्म लाभ करेगा।

(६) वे लोग श्राद्ध करानेके लिये वेद कण्ठस्थ रखेंगे। इससे वेदका नाश नहीं होगा।

(७) ईश्वर की उपासना भी श्राद्ध तर्पण से होती रहेगी। पित्रादिकोंमें जो कोई जीता होय उसका तर्पण न करे और जितने मर गये हों उनका तो अवश्य करे(सत्या० पृ०४२।४४ सन्१८७५

इतने हेतुओं के रहते कौन कह सकता है कि स्वामीजी इन अक्षरोंके लिखते समय मृतक श्राद्ध नहीं मानते थे। यद्यपि एक नोटिस निकालकर उपर्युक्त लेखका छपनेके दो बरस बाद खण्डन कर दिया था परन्तु इस खण्डनसे उनकी आन्तरिक श्रद्धा श्राद्धमें उठ गई थी यह कह देना बन नहीं सकता क्योंकि स्वामीजी लिखते हैं।

(२) हाथमें जल लेकर अपसव्य और दक्षिण मुख होके ओं पितरः शुन्धध्वम् (पा० का० २ कं० ६) इस मन्त्रसे जल भूमि पर छोड़कर सव्य होके अधो लिखित मन्त्र का जप करे (सं० का० र० सं० १८७६) कहिये यदा अपसव्य होकर वहीं जीवित पितर जल लेते हैं और दक्षिण मुख करना भूमि पर जल छोड़ना जीवित पितरोंके लिये कैसे सम्भव हो सकता है। क्या जीवित पितर पृथिवी में घुसे हैं और एक चुल्लू जलसे उनकी तृप्ति सम्भव है।

(३) जिस तिथि और नक्षत्रको बालकका जन्म हुआ हो उस तिथि और उस नक्षत्र का नाम लेकर उस तिथि और उस नक्षत्रके देवता का नाम से चार आहुति देनी और अमावस्या तिथि तथा मघा नक्षत्रके देवता पितृ हैं संस्कार० नाम०पृ० ६७) अब क्या अमावस्या तिथि तथा मघा नक्षत्रके देवता जीवित पितर हो सकते हैं और जब दिव्य पितृही इनके देवता हैं और उनके लिये स्वामीजी आहुति दान दिलाते हैं तब कैसे हो सकता है कि ये मृतक श्राद्ध नहीं मानते थे।

(४) ओं पितरः पितामहाः परेऽवरे ततास्ततामहा इह मावन्तु अस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् क्षत्रेऽस्यामाशिष्यस्यां पुरोधायामस्मिन् कर्मण्यस्यां देवहूत्यां स्वाहा। इदं पितृभ्यः पितामहेभ्यः परेभ्यो ऽवरेभ्यस्ततामहेभ्यश्च इदं न मम (संस्कार० विवा० पृ० १६०)

इस मन्त्रके यहां बोलने का अभिप्राय है कि इस मन्त्र द्वारा दी हुई आहुति पिता पितामह छोटे बड़े और ततामह अर्थात् परदादाके लिये हो 'इदं न मम' इसका मेरे लिये कोई स्वार्थ नहीं है अब क्या कोई आर्य समाजी कह देगा कि कौन ब्रह्मचारी था जीवित पितर इससे अभिप्रेत है। क्या जीवितों को आहुति पहुंचेगी और ततामह किसकी संज्ञा है और "इदं न मम" का क्या अभिप्राय है। तुम्हारे सिद्धान्तमें अपना किया आपको मिलता है तो यह अपने किये को क्यों कह रहा है कि "इदं न मम" यह मेरे लिये नहीं है। चाहे कोई आर्यसमाजी इन वचनोंका स्वामीजीके अभिप्रायके विरुद्ध चूरा करनेका प्रयत्न करे परन्तु इन अधो-लिखित पंक्तियोंका उनके पास कोई उत्तर नहीं है।

"यदि वह (मृत मनुष्य) सम्पन्न हो तो अपने जीतेजी वा मरे पीछे उनके सम्बन्धी वेदविद्या वेदोक्त धर्मप्रचार अनाथ पालन वेदोक्त धर्मोपदेशक प्रवृत्तिके लिये चाहें जितना धन

प्रदान करे बहुत अच्छी बात है (संस्कार० आर्येष्टि० पृ० ३१६)

किसी मनुष्यके मरे पीछे इन संस्थाओंको दान देनेका क्या अभिप्राय है, अभिप्राय स्पष्ट है कि ब्राह्मण भोजन न कराकर समयानुकूल संस्थाओं का दान देना पितृ तृप्ति का कारण है और मृत आत्मा को शांति प्रदान करने वाला और सद्गति देने वाला है। आज कल आर्यसमाजमें मृत आत्माकी शांतिके लिये हवन करके परमात्मासे प्रार्थना भी की जाती है। अतः श्राद्ध खण्डनसे स्वामीजी का अभिप्राय यह नहीं है कि पुत्रादि द्वारा किया दान मृत पिताकी आत्माकी सद्गतिके लिये नहीं है, उनका तो यही अभिप्राय है कि ब्राह्मण भोजन को छोड़कर संस्था दान से पितृ श्राद्ध करो क्योंकि ब्राह्मण मुफ्तखोर होचुके हैं जाति की दुर्दशा है इससे मुफ्तखोरों से बचाकर दान देनेसे जातिकी रक्षा होना सम्भव है। और इससे जो पितृ आत्माकी शांति होगी वह अक्षय होगी मुफ्तखोरोंके खिलानेसे श्राद्ध नहीं पहुंचता।

"सनातनधर्मका एक सिद्धान्त है कि शूद्रको वेद पढ़नेका अधिकार नहीं। अतएव उसे उपनयन की भी आवश्यकता नहीं और न उसके हाथका खाना ही चाहिए। ऐसा क्यों माना गया इसकी उपपत्ति तो हम आगे चलकर करेंगे, प्रथम यह देख लेना चाहिए कि इस विषय में स्वामी दयानन्दजी का क्या मत है। स्वामीजी लिखते हैं"

(१) "जिन अपनी सन्तानों का उपनयन करके आचार्य कुल अर्थात् जहां पूर्ण विद्वान् और पूर्ण विदुषी स्त्री शिक्षा और विद्या दान करने वाली हों वहां लड़के और लड़कियों को भेज दें और शूद्र आदि वर्ण उपनयन किये बिना विद्याभ्यास के लिये गुरुकुल में भेज दें" (सत्या० हि० स० पृ० २६)

इस उपर्युक्त लेखके विषयमें अधिक कहनेकी आवश्यकता नहीं क्योंकि स्पष्ट लिखा है, कि द्विजाति अपनी संतानको उप-

नयन कराके आचार्यकुल भेजें और शूद्र बिना उपनयन गुरुकुल भेजे जाय एवं इससे यह भी सूचित होता है कि द्विजातियों के पढनेके विद्यालयका नाम आचार्यकुल और शूद्रोंके विद्यालय का नाम गुरुकुल होना चाहिये ।

(२) ब्राह्मणस्त्रयाणां वर्णानामुपनयनं कर्तुमर्हति राजन्यो द्वयस्य वैश्यो वैश्यस्यैवेति शूद्रमपि कुलगुणसम्पन्नं मन्त्रवर्जमनुपनीतमध्यापयेदित्येके ।

यह सुश्रुतके दूसरे अध्यायका वचन है ब्राह्मण तीनों वर्ण (ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य) क्षत्रिय दोवर्ण (क्षत्रियवैश्य) वैश्य अपने वर्णको यज्ञोपवीत कराके पढा सकता है। और जो कुलीन शुभलक्षणयुक्त शूद्र हो तो उसको मन्त्र संहिता छोड़के सब शास्त्र पढावे, शूद्र पढ़े, परन्तु उसका उपनयन न करे (सत्या० समु० ३ पृ० [illegible])

यह भी स्वामीजीका स्पष्ट लेख है इससे इस पर भी टीका टिप्पणीकी आवश्यकता नहीं है स्वामीजीने प्रथम सत्यार्थ प्रकाश में तो कन्याओंके भी यज्ञोपवीतका निषेध लिखा था ।

" कन्या लोगोंको यज्ञोपवीत कभीन कराना चाहिए (सत्या० पृ० ३८ सन् ७५) परन्तु द्वितीयावृत्ति वर्तमान सत्यार्थ प्रकाशमें द्विज अपने घरमें लड़कोंका यज्ञोपवीत और कन्याओं का भी यथा योग्य संस्कार करके आचार्यकुलमें भेजदें (सत्या० तृ० स० पृ० [illegible]) इस प्रकार यथा योग्य गड़ लिख कर गोल कर दिया है ।

इस प्रकार शूद्रको उपनयन तथा मंत्र संहिता पढने का निषेध स्वामीजीने किया है। और उसे आर्यसमाजका नियम तक बना दिया है, कि "वेदका पढना पढाना सुनना सुनाना सब आर्योंका परमधर्म है" यहां आर्य शब्दसे द्विजका ग्रहण होगा

अन्यथा "मनुष्य" यह पद स्वामीजी लिखते। आर्य शब्दसे द्विजका ग्रहण होता है "उत शूद्रे उत आर्य (अथर्व १९।६२) इस मंत्रका अर्थ करते हुए स्वामीजीने स्वयं लिखा है कि ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य द्विजोंका नाम आर्य और शूद्र का नाम अनार्य है" (सत्या० समु० ३ पृ० ३३६) तब इस पर अधिक लिखनेकी आवश्यकता नहीं है क्योंकि स्वामीजीका मत सनातनधर्मानुकूल सिद्ध होचुका, चाहे आर्य समाजी शूद्रोंको उपनयन करावें या मंत्रसंहिता पढ़ावें परन्तु यह सब स्वामीजीके विरुद्ध ही समझना चाहिए। मंत्रसंहिताके पढ़नेका जो निषेध किया गया है यह शूद्रोंके साथ एक प्रकारका उपकार ही किया गया है, क्योंकि सेवा जैसे गहन कार्यका करना और फिर नियम पूर्वक वेद पढ़ना इन दोनों कठिन बातोंका एक स्थानमें होना दुःसाध्यही है। लोगोंका खयाल है कि यह शूद्रोंके साथ अन्याय किया गया था कि उनके कानमें वेदका शब्द पड़जाने पर उसमें गर्म शीशा भरवा दिया जाता था, परन्तु ऐसा नही है वेद मन्त्रोंका शूद्रके मुखसे उच्चारण करनेका कोई निषेध नहीं है।

"वृषोत्सर्गस्य वैदिकबहुमन्त्रसाध्यतया वेदोच्चारणानधिकृतस्य शूद्रस्य वृषोत्सर्गानधिकारप्राप्तौ "कृष्णेनाप्यन्त्यजन्मनः" इति शूद्रं प्रति वृषविशेषोपदेशेन वेदोच्चारणे ऽधिकारबोधनाद्वृषोत्सर्गाधिकारो बोध्यते। वेदोच्चारणेन विना तत्करणे च वृषोत्सर्गानधिकारे वृषविशेषकथनानर्थक्यापत्तेः" (श्राद्धविवेक पृ० ९--१०)

अर्थात्— वृषोत्सर्ग बहुतसे वैदिकमंत्र बोलकर किया जाता है, और वेदके उच्चारणका शूद्रको अधिकार नहीं है, फिर कृष्ण वृष शूद्र छोड़े यह धर्म शास्त्रमें कैसे आता है इस वृष विशेषके छोड़नेका शूद्रको अधिकार होने से सिद्ध होगया कि

शूद्र वेद मंत्रोंका उच्चारण भी कर सकता है अन्यथा यह आज्ञा देना व्यर्थ होगाकि शूद्र कृष्ण वृष उत्सर्ग करे क्योंकि वृषोत्सर्ग तो विना वेदमंत्रोंके हो नही सकता। इससे शूद्रको भी साधारण रीतिसे वेदका अधिकार है, ब्रह्मचर्यादिके कठिन नियमोंमें शूद्रका उलझाना ठीकनही है, जब शूद्र स्वयं वेद मंत्रोंका उच्चारण कर सकता है और ऐसा करना धर्म शास्त्रकी आज्ञाहै। तब शब्द मात्रके कानमें पड़तेही सीसा भरवादेना धर्मशास्त्र की आज्ञा कैसे होसकती है। जो शूद्र वेद पढ कर और अपने कर्त्तव्य कर्मको छोड़कर दूसरे के कर्म करना चाहेगा तो इससे समाजकी शृङ्खला टूट जायगी, इस लिए वह दण्डय होना ही चाहिए और समाजकी शृङ्खला तोड़ने वाला तो शूद्र ही क्या सबही दण्डनीय हैं। अतएव यह शंका लोगोंको धर्म के रहस्य न समझने से हुआ करती है।

आजकल शूद्रोंके हाथका भोजन करना चाहिए या नहीं इसकी बड़ी चर्चा है इसलिये आवश्यक है इस परभी स्वामी जीका मत प्रकट किया जाय, क्योंकि बहुतसे आर्य समाजी इस विषयमें सनातनियोंसे प्रतिकूल दृष्टिआते हैं। स्वामीजी लिखते हैं।

"(प्रश्न) कहोजी मनुष्यमात्रके हाथकी की हुई रसोईके खाने में क्या दोष है क्योंकि ब्राह्मण से लेकर चाण्डाल पर्यन्त के शरीर हाड मांस चमड़े के है, और जैसा रुधिर ब्राह्मणके शरीर में है, वैसाही चाण्डाल आदिके। पुनः मनुष्य मात्रके हाथकी पकी हुई रसोईके खानेमें क्या दोष है (उत्तर) दोष है क्योंकि जिन उत्तम पदार्थोंके खाने पीनेसे ब्राह्मण और ब्राह्मणी के शरीर में दुर्गन्धादि दोषरहित रजवीर्य उत्पन्न होता है। वैसा चाण्डाल और चाण्डाली के शरीर में नहीं, क्योंकि चाण्डाल का शरीर दुर्गन्धके परमाणुओंसे भरा हुआ होता है, वैसा ब्राह्मणादि

वर्णोंका नहीं, इस लिये ब्राह्मण आदि उत्तम वर्णोंके हाथ का खाना और चाण्डालादि नीच भंगी चमार आदिका न खाना। भला जब कोई तुमसे पूछेगा कि जैसा चमड़ेका शरीर माता सास बहन कन्या पुत्रवधूका है वैसाही अपनी स्त्रीका भी है तो क्या माता आदि स्त्रियों केसाथ भी स्वस्त्रीके समान वर्तोगे, तब तुमको संकुचित होकर चुपही रहना पड़ेगा, जैसे उत्तम अन्न हाथ और मुखसे खाया जाता है वैसे दुर्गन्ध भी खाया जासकता है तो क्या मलादि भी खाओगे क्या ऐसा भी कोई होसकता है (सत्यार्थ० समु १० पृ० २८३)

स्वामीजीने यहां कितने जोरसे शूद्रके हाथके खानेका निषेध किया है और स्त्री और माताका दृष्टान्त देकर यह भी साफ कर दिया है, जैसे एक बार स्त्री होने पर वह बहन या माता नहीं होसकती तथा माता स्त्री नहीं होसकती इसी प्रकार जो एक बार शूद्र होचुका उसके हाथका भोजन भी निषिद्ध ही है।

ब्रह्म समाज का खण्डन करते हुए स्वामीजी कहते हैं कि "ब्रह्म समाजियोंने अंग्रेज यवन अन्त्यजादिसे भी खाने पीनेका भेद नहीं रखा, इन्होंने यही समझा होगा कि खाने पीने और जाति भेद तोड़नेसे हम और हमारा देश सुधर जायगा परन्तु ऐसी बातोंसे सुधारतो कहां उलटा बिगाड़ होता है, जो तुम यह कहते होकि सबके हाथका खानेसे अंग्रेजों की उन्नति होती है यह तुम्हारी भूल है, क्योंकि मुसलमान अन्त्यज लोग सबके हाथका खाते हैं पुन उनकी उन्नति क्यों नहीं होती (सत्यार्थ० समु० ११ पृ० ३६८)

"एक बार ब्रह्मसमाजी कालिमोहनने स्वामीजी को भोजन का निमन्त्रण दिया, उन्होंने कहाकि आपका भोजन ग्रहण करने में मुझे केवल इतना ही संकोच है, कि आप लोगोंके यहां भंगी

भी भोजन बनाते हैं (दयानन्द प्रकाश पृ० ३६७) इस प्रकार की अनेक घटना उनके जीवनमें विद्यमान हैं परन्तु आजकल तो अनेक आर्य रूबके हाथका खानेमें कोई पाप नहीं समझते हैं। यह उनकी भूल है।

विधवा विवाहके सम्बन्धमें स्वामीजीके मतको टटोलनेसे पूर्व यह विचारना है कि इसमें सनातन धर्मियों काही क्या सिद्धान्त है क्योंकि आजकल उनका अनुशीलन करने पर विदित होगा कि इस विषयमें उनका मतभेद है कोई सनातनी विधवा विवाहको अधर्म की भूल मानता है तो कोई इसे शास्त्र संमत तथा जातिके हितकी आधार शिला समझता है। स्वा० दयानन्दसे पूर्व ही प्रोफेसर ईश्वरचन्द्र विद्यासागरने सनातन धर्ममें विधवा विवाहकी आवाज उठाई पुस्तकें लिखीं और अपने पुत्रका विवाह भी एक विधवाकेसाथ कर दिया महा-महोपाध्याय पं० शिवदत्तजी शास्त्री प्रोफेसर ओरेन्टि-यल कालिज लाहौर ने निरुक्तमें आए हुए "विधवेव देवरं" (ऋग्वेद ७। ८। १८। २) इस मंत्र पर टिप्पणी देते हुए लिखते हैं कि "एवंच चतस्रो गतयो विधवानां प्रतिभान्ति तत्र पत्यौ प्रेते ब्रह्मचारिणी उत्तमा, ब्रह्मचर्यं स्थातु मसमर्था पति मनुगच्छन्ती मध्यमा, ब्रह्मचर्यपत्यनुगमनयोरसमर्था पुनर्भूत्व मङ्गीकुर्वती अधमा, पुनर्भूत्वमप्यनङ्गीकुर्वती व्यभिचारजात गर्भादि निस्सारयन्ती भ्रूणहत्यादि दोषाधिक्यात् अधमाधमा "एवं चतुर्विधासु विधवागतिषु तिस्रो गतिरुत्तमा मध्यमा-धमा उपदिष्टायं मन्त्रः। नत्वधमाधमां चतुर्थीमिति।" (निरुक्त भगवद् दुर्गाचार्य कृत टीका पृ० २२२) अर्थात् इस प्रकार विधवाओंकी चारगति है। एक पतिके मरने पर ब्रह्मचा-रिणी रहना उत्तम, दूसरे ब्रह्मचर्य न रख सकने पर सती होजाना मध्यम, और ब्रह्मचर्य तथा सती होने में असमर्थ होने पर पुन-

विवाह करलेना अधम, और चतुर्थी गति व्यभिचार और गर्भपात आदि करना अधमाधम है। इन चारगतियों में से प्रथम तीन का यह मन्त्र उपदेश कर रहा है, परन्तु चतुर्थ अधमाधम गति का सर्व सम्मत निषेध है। इसके अतिरिक्त महामन्त्री हिन्दू महासभा पं० नेकीरामजी शर्मा आज कल विधवा विवाह सनातन धर्म में प्रचलित करने के लिये भगीरथ प्रयत्न कररहे है। गौड़ ब्राह्मण महासभा के अनेक पंडित बहादुरगढ जि० रोहतक में विधवा विवाह के प्रस्ताव को पास भी करचुके हैं। जिसमें दिल्ली के प्रसिद्ध कार्य कर्ता स्व० पं० लक्ष्मीनारायण जी वैद्य भी सम्मिलित थे। कोई नगर नहीं जहां इस विषय के पक्ष में पण्डित नहों। इस दशा में स्वा० दयानन्द सरस्वती जी यदि विधवाविवाह के पक्ष में अपनी व्यवस्था दे दें तो यह कैसे कहा जासकता है, कि वे सनातन धर्मी नहीं हो सकते। परन्तु यह सुनकर आपको आश्चर्य होगाकि स्वामीजी का इस विषयमें वही मत है, जो प्राचीन ढर्रे के सनातन धर्मी का हो सकता है। आपलिखतेहैं।

"ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य वर्णों में क्षतयोनि स्त्री क्षतवीर्य पुरुषका पुनर्विवाह न होना चाहिए।

(प्रश्न) पुनर्विवाह में क्या दोष है। (उत्तर)

(१) स्त्री पुरुष में प्रेम न्यून होना, क्योंकि जब चाहे तब पुरुष को स्त्री और स्त्री को पुरुष छोड़ कर दूसरे के साथ सम्बन्ध करले।

(२) जब स्त्री वा पुरुष पति व स्त्री के मरने के पश्चात् दूसरा विवाह करना चाहे, तब प्रथम स्त्री या पतिके पदार्थों को उड़ा लेजाना, और उनके कुटुम्ब वालों का उनसे झगड़ा करना।

(३) बहुतसे भद्रकुल का नाम व चिन्ह भी न रह कर उसके पदार्थ छिन्न भिन्न होजाना।

(४) पातिव्रत्य और स्त्रीव्रत धर्म नष्ट होना, इत्यादि दोषों के अर्थ द्विजों में पुनर्विवाह कभी न होने चाहिए।
(प्रश्न) जब वंशच्छेदन हो जाय तबभी उसका कुल नष्ट होजायगा और स्त्री पुरुष व्यभिचारादि कर्म करके गर्भ पातनादि बहुत दुष्ट कर्म करेंगे। इसलिये पुनर्विवाह होना अच्छा है।
(उत्तर) नहीं २, क्योंकि जो स्त्री पुरुष ब्रह्मचर्य में स्थित रहना चाहे तो कोई उपद्रव नहोगा और जो कुल की परम्परा रखने के लिये किसी अपने स्वजाति का लड़का गोद लेलेंगे उससे कुल चलेगा और व्यभिचार भी न होगा' (सत्यार्थप्रकाश समु०४ पृ० ११४) इस उपर्युक्त लेख को देख कर कौनसा संकुचित सनातनधर्मी है। जो यह कह सके कि स्वामी दयानन्द का मत इस विषय में मेरे समान नहीं है।

अब केवल यही प्रश्न शेष है कि " जिस स्त्री या पुरुष का पाणिग्रहण मात्र संस्कार हुआ हो और संयोग न हुआ अर्थात् अक्षतयोनि स्त्री और अक्षतवीर्य पुरुष हो, उनको अन्य स्त्री या पुरुष के साथ पुनर्विवाह होना चाहिए। (सत्यार्थ प्र० समु० ४ पृ० ११४) इस लेख में जब अक्षतयोनि का पुनर्विवाह स्वामीजी मानते हैं। तब कैसे कहाजा सकता है कि वे बिधवा विवाह के बिरोधी थे। परन्तु सूक्ष्म बिचार करने से मालूम होजायगा कि यह कथन उनका पुनर्विवाह के लिये नहीं, किन्तु उन मनुष्यों को थामने के लिये है। जो बिधवा बिवाह के पक्षपाती हैं। नीति में कहा है।

यस्य यस्य हि यो भावस्तेन तेन समाचरेत्
अनुप्रविश्य मेधावी क्षिप्रमात्मवशं नयेत्

अर्थात जिस जिस का जैसा २ भाव हो उस २ भाव से ही बुद्धिमान उसके भीतर घुसकर मनुष्य को अपने मन के अनुकूल

बनावे। इसलिये उन्होंने ऐसा लिखकर भी यह लिख दिया है कि—

"जब दोनों का दृढ़ प्रेम विवाह करने में होजाय तब से उनके खान पान का उत्तम प्रबन्ध होना चाहिये कि जिससे उनका शरीर जो पूर्व ब्रह्मचर्य और विद्याध्ययन रूपतपश्चर्या और कष्ट से दुर्बल होता है, वह चन्द्रमाकी कला के समान बढ़के थोड़ेही दिनों में पुष्ट होजाय। पश्चात् जिस दिन कन्या रजस्वला होकर जब शुद्ध हो तब वेदी और मण्डप रचके अनेक सुगन्धयादि द्रव्य और घृतादि का होम तथा अनेक विद्वान पुरुष और स्त्रियों का यथा योग्य सत्कार करें। पश्चात् जिस दिन ऋतुदान देना योग्य समझें उसी दिन संस्कार विधि पुस्तकस्थ विधिके अनुसार सब कर्म करके मध्य रात्रि या दश बजे अति प्रसन्नता से सबके सामने पाणिग्रहण पूर्वक विवाह की विधि को पूरा करके एकान्त सेवन करें। पुरुष वीर्य स्थापन और स्त्री वीर्याकर्षण की जो विधि है उसीके अनुसार दोनों करें। जब वीर्य का गर्भाशय में गिरने का समय हो उस समय स्त्री पुरुष दोनोंस्थिर, नासिकाके सामने नासिका, नेत्रकेसामने नेत्र, अर्थात् सूधा शरीर और अत्यन्त प्रसन्न चित्त रहें, डिगे नहीं। पुरुष अपने शरीर को ढीला छोड़े, और स्त्री वीर्यप्राप्ति समय अपान वायुको ऊपर खींचे। योनि को ऊपर संकोच कर वीर्य का ऊपर आकर्षण करके गर्भाशय में स्थिति करे। (सत्यार्थ० समु० ४ पृ० ९३)।

इस उपर्युक्त लेख से स्पष्ट है कि जिस दिन कन्या रजस्वला होकर शुद्ध हो और गर्भाधान कराना चाहे उसी दिन संस्कार विधि से विवाह करके अर्धरात्रि के समय गर्भाधान करे। जब विवाह के दिन ही गर्भाधान करने की विधि

स्वामीजी ने लिखी है, फिर यह कैसे सम्भव है कि विवाह के अनंत्तर सिद्धान्त रूप से कोई स्त्री अक्षत योनि रहसके। जिसका पुनर्विवाह किया जावे। अतएव स्वामीजी का अक्षत-योनि स्त्री का पुनर्विवाह कहना विधवा विवाहके पक्षपातियोंका मन बहलाव मात्र है। और यह बात उन्हों ने सत्यार्थ प्रकाश में ही नहीं, संस्कार विधि में भी लिखो है।

"जब कन्या रजस्वला होकर पृ० ३६—३७ में लिखे प्रमाणे शुद्ध होजावे, तब जिस दिन गर्भाधान की रात्रि निश्चित की हो उसमें विवाह करने के लिये प्रथमही सब सामग्री जोड़ रखनी चाहिये (संस्कार० पृ० १४३) जब सत्यार्थ प्रकाश और संस्कार विधि दोनोंमें ही यह पाठ मिलता है तब स्वा० तुहनलाल मेरठी का इस पाठ को प्रक्षिप्त बताना सिद्ध करता है कि यह पाठ उनको खटकता है। और प्रकाश अखबार लाहौर के ऋषि अङ्क सं० ८४ में भी एक लेखकने संस्कारविधि की अशुद्धि बताते हुए इस पाठ को प्रक्षिप्त बताना चाहा है। परन्तु यह अनुचित चेष्टाएं स्वा० के अभिप्राय को दबाने मात्र के लिये हैं। स्वामीजीने तो साफ लिखा है कि—

"द्विजों में स्त्री और पुरुष का एकही बार विवाह होना वेदादिशास्त्रों में लिखा है, द्वितीयवार नहीं (सत्यार्थ० समु० ४ पृ०)।

स्वामीजी के खयाल में कोई वेद मन्त्र विधवाविवाह परक नहीं है अन्यथा ऋग्वेदभाष्य,भूमिका में उसे लिखकर प्रकट करते।

नियोग विषय पर स्वामीजी ने बहुत जोर दिया है। परन्तु यह सिद्धान्त उन्होंने उन लोगोंके लिये स्वीकार किया मालूम होता है, जो व्यभिचारी हैं। स्वामीजी चाहते हैं कि चाहे कोई

व्यभिचारी या व्यभिचारिणी ही क्यों न हो, हिन्दू धर्म की सीमा से बाहर न हो। जिससे हिन्दुओं की संख्या कम न हो सके। नियोग का रहस्य यद्यपि आर्यसमाजी यह बताते हैं कि नियोग विषय भोग के लिये नहीं है, किन्तु सन्तानोत्पत्ति के लिये है। जिससे किसीका कुलच्छेद न होसके। परन्तु स्वामीजी ने तो कुलच्छेद न होने का उपाय किसी के पुत्र को गोद लेलेना मात्र बताया है। (सत्यार्थ० प्र० समु० ४ पृ० १४४) और नियोग करने का कारण तो उन्होंने और ही लिखा है। "जोब्रह्मचर्य न रख सकेतो नियोग करके सन्तानोत्पत्ति करले" (सत्यार्थ० समु० ४ पृ० ११५) अर्थात् ब्रह्मचर्य न रख सकने पर ही नियोग करे। आगे चलकर स्वामीजी लिखते हैं कि--

"(प्रश्न)" हमको नियोग की बात में पाप मालूम पड़ता है (उत्तर) पाप तो नियोग के रोकने में है, क्योंकि ईश्वरकी सृष्टिक्रमानुकूल स्त्री पुरुष का स्वाभाविक व्यवहार रुक ही नहीं सकता। क्या गर्भपातन रूप भ्रूण हत्या और विधवा स्त्री मृतस्त्रीक पुरुषों के महासन्ताप को पाप नहीं गिनते हो। क्योंकि जब तक युवावस्था में हैं, मन में सन्तानोत्पत्ति विषय चाहना होने वालोंको किसी राज्य व्यवहार वा जाति व्यवहार से रुकावट होनेसे गुप्त २ कुकर्म बुरी चाल से होते रहते हैं (सत्यार्थ० समु० ४पृ० ११६) स्वामीजीके इसलेखसेभी स्पष्ट है कि मृतस्त्रीक युवा या विधवा स्त्रियोंके महासन्ताप के मेटनेके लिये ही स्वामीजी ने यह नियोग की प्रथा प्रचलित की है। वे चाहते हैं कि नियोग के नाम से यह प्रथा जारी होजावे तो राज्य और जातिका भय न रहे। और गुप्त कुकर्म के बदले सब पुरुषों के समक्ष में यह कर्म होने लगजाय, और एक स्त्री दश सन्तान तथा ग्यारह पति तक करसकती हैं। दश सन्तान और ग्यारह

पति करने में तो स्त्री का आयु भर का संताप मिटजाना सम्भव है। इस प्रकार विषयी पुरुषों को भी समाज में स्थान मिलजाना सुलभ है। स्वामीजी लिखते हैं

"(प्रश्न) जब एक विवाह होगा एक पुरुष एक स्त्री और एक स्त्री का एक पुरुष रहेगा तब स्त्री गर्भवती स्थिररोगिणी अथवा पुरुष दीर्घ रोगी हो, और दोनों की युवावस्था हो, रहा न जावे, तो फिर क्या करें।

(उत्तर) इस का प्रत्युत्तर नियोग विषय में देचुके, और गर्भवती स्त्री से एक वर्ष समागम न करने के समय में पुरुष से वा दीर्घ रोगी पुरुष की स्त्री से न रहा जाय तो किसी से नियोग करके उस के लिये पुत्रोत्पत्ति कर दे। परन्तु वेश्यागमन वा व्यभिचार कभी न करें"। * (सत्यार्थ० समु० ४ पृ० १२१)

यह भी अद्भुत सम्मति है कि एक विवाह होने पर यदि स्त्री गर्भवती हो, और रहा न जाय तो नियोग करे व्यभिचार न करें। परन्तु व्यभिचार तो कहते ही इसको हैं कि जो रहा न जाय इसकारण अन्य पुरुष से सम्पर्क किया जाय। इन्द्रिय तृप्ति केलिये सम्भोग करलिया जाय और उसे व्यभिचार न कहें यह अद्भुत बात है।

बहुतों का खयाल है कि नियोग आपद्धर्म है। इसका अभिप्राय यही है कि आपत्ति में ऐसा किया जाय। परन्तु इस नियोग को जो आपत्ति अपेक्षित है, वह जब से आर्यसमाज का जन्म हुआ है तबसे न उसके किसी गृहस्थ सभासद पर आई है। और न भविष्य में किसी पर आने की आशङ्का है। तब यह सिद्धान्त केवल पाण्डु और धृतराष्ट्र तथा युधिष्ठिर

---

* यह पाठ वर्तमान सत्यार्थप्रकाश का है और पंचमसंस्करण के बाद बदला गया है।

आदि पाण्डवों को उत्पत्ति सिद्ध करने के लिये स्वीकार किया गया मालूम होता है। बर्ताव में लाने के लिये नहीं। यदि ऐसा है तो कहना होगा कि यह सिद्धान्त भी स्वामीजी ने अपने खयाल के अनुसार सनातन धर्म पर होनेवाले आक्षेप को हटाने मात्र के ध्यान से ही स्वीकार किया है। आक्षेप करने वालों का खयाल है, कि जब विचित्रवीर्य का देहान्त होगया तब उसकी माता सत्यवतीने वेदव्यास को बुला कर उससे विचित्र वीर्य की स्त्री अम्बिका अम्बालिका और दासी में धृतराष्ट्र पाण्डु तथा विदुरको उत्पन्न किया। और ऐसा करना व्यभिचार अतएव अनुचित है। परन्तु स्वामीजी का कहना है कि जब कुल नष्ट होरहाहो तब नियोग द्वारा सन्तान उत्पन्न करा लेना कोई अनुचित बात नहीं प्रत्युत वेदसम्मत है। परन्तु महाभारत को सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर विदित होता है कि धृतराष्ट्र पाण्डु तथा युधिष्ठरादि पांडवों की उत्पत्ति आक्षेप योग्यही नहीं है। फिर वहां नियोग द्वारा समाधान करनेकी आवश्यकता ही क्या है। महा भारत में लिखा है, कि विचित्रवीर्य एक भोगविलासी राजाथे। और अपनी नववधू अम्बिका अम्बालिका से अहर्निश संभोग में प्रवृत्त रहा करते। इसी कारण उन्हे "क्षयवायशोष" रोग होगया।

ताभ्यां सह समाः सप्त विहरन् पृथिवीपतिः
विचित्रवीर्यस्तरुणो यक्ष्मणा समगृह्यत

(महा० आदि० अ० १२० श्लो० ७०)

अर्थात्—उन दोनों रानियों केसाथ सात वर्ष तक रमण करते हुए तरुण राजा विचित्र वीर्य को यक्ष्मा रोगने पकड़लिया, और वे अकाल में ही चलबसे। उनकी माता सत्यवती को यह देख कर बड़ा दुःख हुआ कि विचित्र वीर्य की मृत्यु होचुकी,

और उस के कोई पुत्र नहीं है। उसने महर्षि वेदव्यास को बुला कर यह दुःख निवेदन किया। और भगवान् वेदव्यास ने अम्बिका अम्बालिका तथा दासी में धृतराष्ट्र पांडु तथा विदुर को उत्पन्न किया। तथा हि

' विचित्रवीर्य स्त्वनपत्य एव विदेहत्वं प्राप्तस्ततः सत्यवत्यचिंतयन्मा दौष्यन्तो वंश उच्छेदं व्रजेदिति। सा द्वैपायनमृषिं मनसा चिन्तयामास सतस्याः पुरतः स्थितः किं करवाणीति। सातमुवाच भ्राता तवानपत्यएव स्वर्यातो विचित्रवीर्यः साध्वपत्यं तस्योत्पादयेति। स तथेत्युक्त्वा-त्रीन् पुत्रानुत्पादयामास। धृतराष्ट्रं पाण्डुं विदुरंचेति। तत्र धृतराष्ट्रस्यराज्ञः पुत्रशतं वभूव गान्धार्यां वरदानात् द्वैपायनस्य। (महा० आदि० अ० ६६ श्लो० ५२-५६)

अर्थात्—विचित्रवीर्य बिना संतान के मरगया। सत्यवती ने विचारा, कि कहीं वंश नाश न होजाय। उसने वेदव्यास को मनसे याद किया उन्हों ने कहा क्या आज्ञा है। वह बोली कि तेरा भाई बिना पुत्र मरगया है उसके पुत्र उत्पन्न कर। व्यासजी ने स्वीकार करलिया। और तीन पुत्र धृतराष्ट्र, पांडु और विदुर को उत्पन्न किया तथा धृतराष्ट्र के गान्धारी में वरदान से व्यास-जी ने शत (अनेक) पुत्र उत्पन्न किया इस उत्पत्ति का कोई यह अर्थ करता है, कि भगवान वेदव्यास ने उन रानियों में अपने योगबल से गर्भ स्थापन किया और दूसरा पक्ष कहता है, कि इसप्रकार गर्भ रहना असम्भव तथा सृष्टि क्रम विरुद्ध है। अतएव व्यास ने नियुक्त होकर संभोग द्वारा ही संतान उत्पन्न की। परन्तु यह दोनों समाधान अपूर्ण अतएव त्याज्य हैं।

क्यों कि महाभारत में यहीं लिखा है, कि भगवान् वेदव्यास ने गांधारी में भी शत (अनेक) पुत्र उत्पन्न किये।

जब यहां धृतराष्ट्र जीवितरहने के कारण यह कोई नहीं कहता. कि व्यासजीने गांधारी में नियोग द्वारा अनेक पुत्र उत्पन्न किये। तब उसी प्रकार की उत्पत्तिसे कैसे कहाजा सकता है. कि अम्बिका तथा अम्बालिका में वेदव्यासने नियोग द्वारा संतानकी। "विचित्रवीर्य" अहर्निश अपनी स्त्रियोंसे सम्भोग में लगा रहता था। तब क्या यह असम्भव है, कि उसकी रानियां उसकी मृत्युके समय गर्भवती हों। किन्तु ऐसा न होना ही असम्भव है। क्योंकि तीन रानियां और अहर्निश संभोग करना, फिर क्या कारण है, कि एक को भी मृत्यु समय गर्भ न होसके। और जब तीनों रानियां तरुणी थीं, और विचित्र वीर्यभी पूर्ण युवा था, तब यह सीधी बात है. कि तीनों रानियां गर्भवती होसकें। परन्तु विचित्र वीर्यके मरने से उसकी माता सत्यवती को भय होगया, कि कहीं ये प्रथम गर्भ किसी कारण गिर न जावें। अथवा कन्याएं उत्पन्न न होजावें, रानियों के विधवा होजानेसे फिर संतान होना कठिन है, अतएव आवश्यक है कि किसी मणि मंत्र (योगबल) औषधि द्वारा तीनोंके पुत्र उत्पन्न कराये जावें। भगवान वेदव्यास से अधिक इस समय कौन योगी होसकता है। जो इस कार्य को सिद्ध कर सकें। यदि नियोग होता तो क्या सम्भव है कि तीनोंके पुत्र ही उत्पन्न होते। और क्या नियोग पतिके ज्येष्ठ भ्राता से भी होसकता है। वेदव्यास विचित्रवीर्यके ज्येष्ठ भ्राता माने जाते थे। बालिका बध श्रीरामचन्द्रजी ने इसी लिए किया था, कि उसने अपने छोटे भाई की स्त्री को अपनी पत्नी बना लिया था। अत एव कहना होगा कि वेदव्यासने किसी

योग शक्तिया औषधि द्वारा विचित्रवीर्य के वीर्य से स्थापित हुए गर्भों में वरदान से पुत्रों की उत्पत्ति की। और ऐसा आज कल भी बहुत से वैद्य कर सकते हैं तब केवल विचित्र वीर्यके मरने के कारण किसी ने कुछ की कुछ कल्पना करली हो तो इसका इलाज ही क्या है। किन्तु गांधारी में भी तो वेदव्यास ने पुत्र उत्पन्न किये हैं। उसे नियोग क्यों नहीं कहते हो। परन्तु वहां धृतराष्ट्र जीवित है। इससे किसी को शङ्का ही नहीं हुई। और विचित्र वीर्य के मर जाने के कारण मनुष्योंने अपनी २ बुद्धि के अनुसार कल्पना करना प्रारम्भ करदिया। उन कल्पनाओं को कविता बद्ध करके महाभारत में सौतिने लिख दिया होगा। राव० चिन्तामणि वैद्य ने महाभारतमीमांसा में २४००० हजार मूल भारत को एक लक्ष श्लोकात्मक महाभारत का स्वरूप देना सौति द्वाराही लिखा है। और कहा है "सारांश अनेक अप्रबुद्ध परन्तु प्रचलित कथाओं को सौतिने महाभारत में पीछे से शामिल कर दिया। (महाभारत मीमांसा पृ० ३१) यदि राज्यासन शून्य होनेके कारण किसी पुत्रकी आवश्यकता भी थी। तब एक रानी द्वारा पुत्र उत्पन्न करा लेना पर्याप्त था। फिर क्या कारण है, कि दासी तकसे नियोग किया जाता। और विदुर तककी उत्पत्ति की जाती। धृतराष्ट्र के उत्पन्नहोने से पूर्व ही उसके अन्धे उत्पन्न होने का वेद व्यास द्वारा जान लेने पर अम्बालिका से नियोग करके साथही पाण्डु उत्पन्न करना हृदय ग्राही उत्तर नहीं है। महाभारत मीमांसा पृ० ३१ में कहा है कि "इस प्रकार आगे होने वाली बातों का भविष्य कथन (पूर्व ही) करने कासौतिका प्रयत्न अनुचित है" अतएव वे

गर्भ ही तीनों रानियों के अतीव का पुत्र राजा विचित्र वीर्य के थे। और रानों में ही भोग करने धृतराष्ट्रादि पुत्र उत्पन्न किये। और इसी प्रकार युधिष्ठिर आदि पाण्डवों को धर्म आदि देवताओं का अंशावतार कहा है।

धर्मस्यांशं तु राजानं विद्धि राजन् युधिष्ठिरम्
भीमसेनं तु वातस्य देवराजस्य चार्जुनम्
अश्विनोस्तु तथैवांशौ रूपेणाप्रतिमौ भुवि
नकुलसहदेवश्च सर्वभूत मनोहरौ ॥

(महा० आदि० अ० ६७ श्लो० ११२-११३)

हे राजन् धर्म वायु इन्द्र और अश्विनी कुमार के अंश से क्रम से युधिष्ठिर भीम अर्जुन नकुल सहदेव का उत्पन्न हुआ था। परन्तु क्या अंशावतार होने से वे पाण्डु के वीर्य से उत्पन्न हुए पुत्र नहीं हैं। अंशावतार तो दुर्योधनादि अन्य योद्धा भी हैं अपितु जो २ महाभारत में उत्तम योधा लड़े हैं वे सब महाभारत आदि पर्व के अध्याय ६७ में किसी न किसी देवता या दैत्य के अंशावतार अवश्य हैं।

विप्रचित्ति दैत्य का अंश जरासंध, हिरण्यकशिपु का शिशुपाल, संह्लाद का शल्य, कालनेमि का कंस, वर्चा का अभिमन्यु, विश्वेदेवा के द्रौपदी पुत्र, रुद्रगण का कृपाचार्य, आदि अंशावतार वर्णन किये हैं।

कलेरंशस्तु संजज्ञे भुवि दुर्योधनो नृपः

(महा० आ० दि० अ० ६७ श्लो० ..)

कलि अर्थात् अधर्म के अंश से पृथिवी पर दुर्योधन उत्पन्न हुआ।

तथा भीष्मः शान्तनवो गंगायाममितद्युतिः
वसुवीर्यात्समभवत् महावीर्यो महायशाः

(महा० आदि० अ० ६३ श्लो० ९१)

अर्थात्—महाबली भीष्म गङ्गा में वसुवीर्य से उत्पन्न हुआ इस श्लोक में तो 'वसुवीर्य" यह स्पष्ट शब्द पड़ा है परन्तु फिर भी भीष्म वसुओं के वीर्य नहीं माने जाते हैं। वीर्य तो वे शान्तनु राजा के ही थे।

तथैव धृष्टद्युम्नोपि साक्षादग्निसमद्युतिः
वैताने कर्मणि तते पावकात् समजायत

(महा० अ० ६३। श्लो० ९)

अर्थात्—अग्नि के समान धृष्टद्युम्न भी यज्ञ में अग्नि से उत्पन्न हुआ। यहां अग्नि से उत्पन्न होना धृष्टद्युम्न का अग्निके वीर्य होने की दलील नहीं है।

जैसे उपर्युक्त महारथी अंशावतार होने पर भी उन २ देवताओंके वीर्य नहीं हैं किन्तु अपने २ पिता से उत्पन्न हैं। उसी प्रकार धर्म वायु और इन्द्र के युधिष्ठर भीम और अर्जुन तथा अश्विनी कुमार के नकुल सहदेव अंशा वतार होने पर भी उनसे नियोग द्वारा उत्पन्न नहीं हैं। किसी मनुष्य से तो नियोग होना सम्भव भी हैं, परन्तु देवताओं से स्त्रियों का नियोग कैसे सम्भव होसकता है। अतएव अंशावतार का तात्पर्य केवल यही है, कि उन २ देवताओं के समान उत्तम २ गुण इन महारथियों में थे।

राजा पाण्डु एक दिन मृगया खेलने गये। वहां उन्हों ने अपनी हरिणी से सम्भोग करता हुआ एक हिरण बाण का

लक्ष्य बनाया। परन्तु उसके मरने से राजा का हृदय करुणार्द्र होगया, और उसी दिनसे उन्होंने शिकार खेलना छोड़ कर अपनी रानियों को साथ लेकर बनकी राहली। पञ्जाब के एक क्षत्रिय कुमारने भी इसी प्रकार एक गर्भवती हरिणी को मारा था। उसके बाणसे गर्भस्थ बच्चे के भी विध जानेसे उसके करुणा होआई। और वह साधु होगया। जो पीछे चलकर सिक्ख इतिहास में "वीर वैरागी" या बन्दाबहादुर के नाम से प्रसिद्ध हुआ। परन्तु थोड़े दिन पीछे ही राजा पाण्डु का निर्वेद शान्त हुआ। और ऋतुकाल में अपनी स्त्री कुन्ती और माद्री में समय २ हर पांच पुत्र बनमें ही उत्पन्न किये। कुन्ती देवताओंकी आराधना करना जानती थी। और जिस गुण विशिष्ट संतान उत्पन्न करना चाहती थी करलेती थी। अतएव उसने जैसे २ गुण वाली संतान चाही वैसी उत्पन्न की। और ऐसा कर लेना कोई असम्भव नही है। पाण्डु की मृत्युके अनन्तर उन बच्चों और रानियोंको लेकर ऋषि मुनि नगरमें आये, और शङ्कित मनुष्यों को शङ्का मेटकर बनको चलेगये। जब राजा पाण्डु जाते हैं। तब भी यदि उनके संतान उत्पन्न होती है, तो वह भी नियोग द्वारा बतायी जाती है। राजा पाण्डु की सम्भोग शक्ति का कोई ह्रास नही होगया था। बल्कि उनकी तो मृत्यु ही माद्री से सम्भोग करने के कारण हुई थी। (महा० आदि० अ० ९६।९४), और अंशावतार होना उन देवताओं के वीर्य होने की दलील नही। क्योंकि सारे योद्धा ही महाभारत आदि पर्व अध्याय ५८।६७ में तक अंशावतार लिखे हैं। फिर उन्हें देवताओं के सम्भोग द्वारा उत्पन्न मानना जैसा अनुचित है।

पाठक स्वयं विचार सकते हैं। इस लिये सारांश यही है कि

बन में पाण्डुने अपने वीर्य से पांच पुत्र उत्पन्न किये, उनकी रानियोंने जिस देवताके अनुसार पुत्र चाहा वैसा ही उत्पन्न किया। और स्वयं पाण्डु, धृतराष्ट्र, विदुर, अपने पिता विचित्र वीर्य की मृत्यु के समय महीनों के आगे पीछेसे गर्भ में थे। इस लिये इनकी उत्पत्तिको धर्मानुसार सिद्ध करने केलिये नियोग सिद्ध करने का स्वामीजी ने प्रयत्न किया है, तो कहना होगा कि उन्होंने महाभारत के विचारने में शीघ्रता की। या कार्य बाहुल्य से विचार करना कठिन होगया। स्वामीजी ने लिखा है कि 'व्यासजीने चित्रांगद और विचित्रवीर्य के मरजाने पश्चात् उन अपने भाइयों की स्त्रियों से नियोग करके अम्बिका अम्बा में धृतराष्ट्र और अम्बालिका में पाण्डु और दासी से विदुरकी उत्पत्तिकी (सत्या० समु० ४ पृ० १२१) अब देखिये कि स्वामीजी को यह भी पता नहीं है, कि चित्रांगद पहले ही मरचुका था, यह रानी तो केवल विचित्र वीर्य की ही थी। इसके अतिरिक्त अम्बिका और अम्बा में धृतराष्ट्र की उत्पत्ति लिखी है। भला! दो स्त्रियों में एक बच्चा कैसे उत्पन्न हो सकता है। और अम्बा का विवाह तो विचित्र वीर्यसे हुआ ही नहीं था और न वह इसकी रानी ही थी। परन्तु तो भी आर्य राजाओं की उत्पत्ति के शास्त्र संगत लगाने की जो उनकी सद्भावना है। उसकी प्रशंसा किये बिना कैसे रहा जासकता है। अतएव हमारी रायमें जुबानी जमाखर्च नियोगका सिद्धान्त स्वामी दयानन्द सरस्वती को सनातनधर्म की सीमासे बाहर करने केलिये पर्याप्त नहीं है। अतएव इस विषय को यहीं छोड़ कर आगे ईश्वर के अवतार के विषय में लिखा जावेगा।

ईश्वर का अवतार होता है, या नहीं यह एक जटिल प्रश्न है। और इसको सनातनधर्मकी सम्प्रदायोंने बुरी तरह उलझा

दिया है। आज कलके सनातनी पण्डित इसका रहस्य ही नहीं समझते। श्री स्वा० शङ्कराचार्य के मतमें एक ही ब्रह्म अनादि स्वतन्त्र पदार्थ है और जीव तथा माया (प्रकृति) उसकी विभूति या नाम रूप है। इस सिद्धान्त को 'ब्रह्माद्वैत" या "केवलाद्वैत" कहते हैं। परन्तु श्रीस्वा० रामानुजाचार्य के मत में जीव ईश्वर, प्रकृति, तीनों अनादि स्वतन्त्र हैं। और इसका नाम उन्होंने 'विशिष्टाद्वैत' रख छोड़ा है। इसी प्रकार अन्य वैष्णव सम्प्रदायों में "द्वैताद्वैत" शुद्धाद्वैत" आदि अनेक भेद हैं। तब इस दशामें अवतारवादके सिद्ध करनेके लिये भी अपने सिद्धान्त के अनुसार भिन्न २ युक्तिवाद अवलम्बन किया जाना चाहिए। परन्तु आज कल कोई भी विद्वान् ऐसा नहीं करता। और प्रायः सबके सब इस विषय पर घपला खिचड़ी से बोलते हैं। श्री स्वा० रामानुजाचार्य आदि द्वैतवादियों की रीति से 'अवतार" का सिद्ध करलेना ही कठिन है। क्योंकि उनके मतमें जीवात्मा अणु परिच्छिन्न परमात्मा से भिन्न और स्वतन्त्र, तथा ईश्वर आकाश की भांति सर्व व्यापक है।

"जैसे कोई अनन्त आकाश को कहे, कि गर्भ में आया वा मूंठी में धर लिया ऐसा कहना कभी सच नहीं होसकता। क्योंकि आकाश अनन्त और सर्व में व्यापक है। इससे न आकाश बाहर आता है, और न भीतर जाता है। वैसे ही अनन्त सर्व व्यापक परमात्माके होने से उसका आना जाना कभी सिद्ध नहीं होसकता। जाना आना वहां हो सकता है, जहां नहो। क्या परमेश्वर गर्भ में व्यापक नहीं था जो कहींसे आया और बाहर नहीं था, जो भीतर से निकला। ऐसा ईश्वर के विषय में कहना और मानना विद्या हीनों के सिवाय कौन कह और मान सकेगा (सत्यार्थ० स० ७ पृ० २००)।

परन्तु जैसे महाकाश, मेघाकाश, मठाकाश, और घटाकाश, एक ही व्यापक आकाश के मेघ मठ और घट आदि की उपाधि से अनेक नाम रूप होजाते हैं। उसी प्रकार श्री स्वा० शङ्कराचार्य के मत में एक ही ब्रह्मके माया तथा अविद्या की उपाधि से ईश्वर, देवता, अवतार, और जीव, ये भेद प्रतीत होने लगते हैं। सत्व गुण जब तक शुद्ध बना रहता है, उसे माया कहते हैं। और ज्यों ही वह मलिन हुआ अविद्या कहाती है। अविद्योपाधि के कारण ही परमात्माका अंश जीवात्मा कहाता है। इसी तरह मायोपाधि वाले ईश्वर का आविर्भूत अंश अवतार कहाता है। प्रारम्भमें ब्रह्मकी शक्ति माया सत्वगुणमयी ही होती है। तब ईश्वर, देवता, अवतार, आदि सतो गुणियों की उत्पत्ति स्वाभाविक ही है। पश्चात् ज्यों ही वह माया और रजोमिश्रित हो जाती है। त्यों ही अस्मदादि जीवोंकी उत्पत्ति होती है। अब जिसे अवतार खण्डन करना हो उसे आवश्यक है, कि वह मूल भूत सिद्धान्त "अद्वैतवाद" पर आक्षेपकरे। जो जीवात्मा को भी प्रकृति के गुणों से मुक्त होने पर ब्रह्म मानने को उद्यत हैं। उन जन्मसिद्ध शुद्धस्वरूप श्रीकृष्णादि के अवतार मानने वालों पर अनन्त आकाश की दलील कैसे लागू होसकती है। वेद में लिखा है।

रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव तदस्य रूपं प्रति चक्षणाय

इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते युक्ता ह्यस्य हरयः शतादश

(ऋग्वेद ६।४।४७।१२)

अर्थात्- परमात्मा अपने रूपको प्रकट करने केलिये प्रत्येक रूपके प्रति वैसाही रूप धारण किये हुए हैं। जोकि इसके असंख्य रूप हैं। परमात्मा अपनी माया से अनेक रूपों को धारण करता है।

अग्नि यथैको भुवनं प्रविष्टः रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव
एवं तथा सर्व भूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च

(कठ० उ० वल्ली ५ मं० १०)

अर्थात्—एक अग्नि जैसे संसार भर में प्रविष्ट होरहा है। और प्रत्येक स्थान पर अपना प्रकाश करता है। उसी प्रकार सर्वान्तर्यामी परमात्मा प्रत्येक रूप होकर बाहर भीतर परिपूर्ण होरहा है।

सम्भव है कि रामानुज सम्प्रदायी भी यह ही कहने लगें कि हमभी परमात्मा को सर्वव्यापक मानते हैं। और जैसे बिजली या अग्नि सर्व व्यापक होते हुए भी जिस किसी स्थानपर रगड़ खाती है, उत्पन्न होजाती है। उसी प्रकार परमात्मा भी जहां भक्त की रगड़ होती है, प्रकट होजाता है। परन्तु यह युक्ति तो अद्वैतवादियों की है। क्योंकि जब एक ही परमात्मा एक ही समय में श्रीराम तथा परशुराम के भीतर लीला कर रहा है। वही परमात्मा श्रीकृष्ण, वेदव्यास, परशुराम, राम, के भीतर एककालावच्छेदेन विद्यमान हैं। तब इसही न्याय को उपयोग करते हुए यह क्यों न कहा जाय, कि वह ब्रह्म ब्रह्माण्ड भर में इसी प्रकार लीला कर रहा है। परमात्मा के धर्म जैसे माया उपाधियुक्त राम, कृष्ण परशुराम में नहीं हैं, वैसे ही अविद्योपाधिविशिष्ट जीवात्मा में भी सृष्टि रचना आदि गुण चाहे न हों, परन्तु उपाधि नष्ट होने पर दोनों ही एक रूप हैं यह कैसे सम्भव होसकता है कि एकही परमात्मा राम, परशुराम, कृष्ण, और वेदव्यास में, एक समय में अनेक रूप धारण करले। परन्तु जब जगत् भरका प्रश्न आवे तो उस युक्तिका त्याग कर दिया जाय। अविद्या और माया के भेदसे

जीवात्मा और अवतार में भेद रह सकता है। इससे सिद्ध है कि रामानुजमतावलम्बियों को भी अवतार सिद्ध करने के लिये एकही ईश्वर के शङ्कराचार्य की भांति अनेक रूप होना मानना पड़ता है। एवं अवतार और जीवात्माओं का मूलस्वरूप भी ब्रह्म ही मान लिया जाय तो कौनसी युक्ति विरुद्ध बात है। क्योंकि राम और कृष्ण आदि अवतारों आत्माओंका भी शरीर कोई मनुष्यों के भिन्न आकार का नहीं था। हम पीछे दिखा चुके हैं, कि श्रीस्वा० दयानन्द सरस्वती भी शंकर मतानुयायी हैं, अतएव उन्होंने अवतार के विषय में श्रीरामानुजाचार्य के ही मार्ग अर्थात् आकाश की भांति व्यापक होकर भी साक्षात् परमात्मा अवतार धारण करता है इस का ही खण्डन किया है, श्रीस्वा० शङ्कराचार्य का नहीं, स्वामीजी लिखते हैं।

"(प्रश्न) यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥
(भ० गी० ४।७)

श्री कृष्णजी कहते हैं, कि जब २ धर्म का लोप होता है। तब २ मैं शरीर धारण करता हूं। (उत्तर) यह बात वेद विरुद्ध होने से प्रमाण नहीं। और ऐसा होसकता है, कि श्रीकृष्ण धर्मात्मा और धर्म की रक्षा करना चाहते थे, कि मैं युग २ में जन्म लेके श्रेष्ठों की रक्षा और दुष्टों का नाश करूं तो कुछ दोष नहीं। (सत्यार्थ० समु० ७ पृ० १९९)

इस श्लोक के स्वामीजी ने दो अर्थ माने हैं एकतो वह जो अर्थ प्रश्न कर्ता को अभीष्ट है। परन्तु इस अर्थ को स्वामीजी वेदविरुद्ध अतएव त्याज्य मानते हैं, परन्तु दूसरा अर्थ आपही करते हैं कि ऐसा होसकता है, कि श्रीकृष्ण धर्मात्मा और

धर्म की रक्षा करना चाहते थे, कि मैं युग २ में जन्म श्रेष्ठों का नाश करूं तो कुछ दोष नहीं। इस लेखके प्रथम भाग में यही आपत्ति है, कि ईश्वर आकाशकी भांति होने से अवतार नहीं लेसकता। परन्तु दूसरा भाग स्पष्ट है। श्री कृष्ण युग २ में श्रेष्ठों की रक्षा और दुष्टों के नाश केलिये अवतार लेसकते हैं। युग प्रमाणकेलिये स्वामी जी लिखते हैं कि "सत्रहलाख अट्टाईस हजार वरसका सत्युग, बारहलाख छ्यानवे हजार का, त्रेता, आठलाख चौंसठ हजार बरसका द्वापर, चार लाख बत्तीस हजार वर्षों का नाम कलियुग होता है। (ऋग्वेद भा० भू० पृ० २३)

अब यदि स्वामी जी श्रीकृष्ण को जीवात्मा मानते तो फिर युग २ में ही श्रीकृष्ण का जन्म क्या करा होता। क्योंकि जीवात्मा तो कर्मफलानुसार अवश होकर जन्मलेता रहता है। परन्तु जो संसार और धर्म की रक्षाके लिये आविर्भाव को प्राप्त होते हैं, वे कर्म फलों से मुक्त हैं। अतएव जब २ युगोंमें आवश्यकता होती है, तबही अवतार लेते हैं। अतएव स्वामीजी ने दोनों पक्षके सनातन धर्मियों के अवतार का अनुवाद करके एक का खण्डन और दूसरे स्वा० शङ्कराचार्य के सिद्धान्तानुकूल अवतार का मण्डन किया है। और यह बात नहीं है, कि यह स्वामीजी का लेख किसी आर्य समाजी को खटकता नहीं कि "श्रीकृष्ण युग २ में आता है" अतएव वे इसको इस प्रकार उलझाया करते हैं, कि गीता में श्रीकृष्ण कहते हैं। "ज्ञानीत्वात्मैव मे मतम्" (गीता ७।१८) अर्थात् ज्ञानी मेरीही आत्मा है। तब कृष्ण का यह कहना कि मैं आता हूं। इसका अर्थ है कि ज्ञानी आता है। परन्तु ऐसा श्रीकृष्ण को ज्ञानी मानने वालों को ही यह भासता है, क्योंकि वहां लिखा है कि —

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन !
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ।
उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम् ॥
(गी० ७ । १६ १७)

अर्थात्— हे अर्जुन ! चार प्रकार के पुण्यात्मा मुझे भजते हैं । आर्त, जिज्ञासु, 'अर्थार्थी' तथा ज्ञानी, यद्यपि ये सब उत्तम हैं, परन्तु ज्ञानी तो मेरी आत्मा ही है, यह सीधा अर्थ है यहां यह अर्थ कहां निकलता है, कि जहां जहां आत्मा शब्दका प्रयोग हो २ वहां आत्मा शब्दसे ज्ञानी समझो । क्या गीतामें आने वाले आत्मा शब्द का सर्वत्र ज्ञानी अर्थ करके कोई निर्वाह कर सकता है ।

प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थं अहं सच मम प्रियः (गीता)

अर्थात् ज्ञानी को मैं प्रिय और ज्ञानी मेरा प्यारा है । अतएव उपर्युक्त श्लोकमें यही अर्थ है, कि ज्ञानी मेराआत्मा अर्थात् प्रिय है । यदि आत्मा शब्द का ज्ञानी अर्थ कोई कर भी लेतो हमारी हानि में कोई हानि नहीं है । क्योंकि हमारातो पक्ष ही यह है, कि जो आत्मा उत्तम ज्ञानी है वही अवतार है । इस लिये स्वामीजी के मतको व्यर्थ उलझा देने से क्या लाभ है, स्वामी दयानन्द सरस्वती को यदि अवतार वाद मूल मेंही अस्वीकृत होता तो ऋग्वेदभाष्यभूमिका में मूर्तिपूजा की तरह उसका भी खण्डन करते ।

बहुत आर्य पण्डितों का ख्याल है कि ऋग्वेदभाष्यभूमिका के पृ० २६ में " स्पर्शनात् " इस मन्त्र में आये हुए " स्वाय " पदका स्वामीजी ने अर्थ किया है ।

(एतत्स्थूलसूक्ष्मकारणशरीरत्रयसम्बन्धरहितम्)

अर्थात् वह ब्रह्म स्थूल सूक्ष्म और कारण शरीर से रहित है जब ईश्वर शरीर त्रय से रहित है, तो उसका अवतार कैसे हो सकता है, यहां स्वामीजी ने अवतार का खण्डन किया है। परन्तु यह अनसमझी है। क्योंकि यह मन्त्र ब्रह्म का निरूपण करता है, और इसका ऐसाही अर्थ स्वा० शङ्कराचार्यने किया है।

"अकायमशरीरो लिङ्गशरीरवर्जित इत्यर्थं अव्रणमक्षतं अस्नाविरं स्नावाः शिरा यस्मिन्नविद्यते इत्यस्नाविरम्. अव्रणमस्नाविरमित्याभ्यां स्थूलशरीरप्रतिषेधः शुद्धं निर्मलं अविद्यामलरहितमिति कारणशरीरप्रतिषेधः"

(ईशोपनि० शा० भा० पृ० ११)

अर्थात् आत्मा लिंग स्थूल कारण शरीर त्रय रहित है। जब शङ्कराचार्य भी इस मन्त्रका यही अर्थ करतेहैं, और गीताभाष्य आदि में अवतार मानते हैं। तब इस ब्रह्म के निरूपण करने वाले मंत्र से अवतार खण्डन नहीं होसकता। हम प्रथम ही लिख चुके हैं कि ब्रह्मके तो कोई शरीर नहीं है। परन्तु उस निराकार और निर्गुण ब्रह्म का ज्योंही माया में आभास होता है, त्योंही ईश्वर देवता अवतार, जीवात्मा, आदि उपाधि कृत व्यवहार होने लग जाते हैं। परन्तु मूल में तो ब्रह्म निराकार ही है। जिसका वर्णन उपर्युक्त मन्त्र में है। इसका स्वामीजी का निराकार परक अर्थ करने में अवतारवाद पर तनक भी आंच नहीं आती। स्वामीजीने स्वयं इस मंत्र को "वेद नित्यत्व" विषय में लिखा है। अवतारवादके खण्डन का उन्होंने भाष्य भूमिका में कोई प्रकरण ही नहीं उठाया। इस विवेचन से

पाठकों को विदित होगया होगा कि अवतारके विषय में स्वा० दयानन्द सरस्वती का शंकर मतसे कोई भिन्न मत नहीं है।

अब मूर्ति पूजा का सिद्धान्त अवशिष्ट है। जिसके खण्डन करने के कारण ही स्वा० दयानन्द सरस्वती विशेष कर सनातनधर्मियों के कोपभाजन बने हैं परन्तु ऐसा केवल स्वा० दयानन्द सरस्वती ने ही तो नहीं किया है, बहुत से धर्म प्रचार होचुके, जिन्होंने मूर्ति पूजा का खण्डन किया है। और वे सनातन धर्म मेंही सम्मिलित है। महात्मा कबीरदास को सब कोई जानते हैं। और उनका चलाया हुआ पन्थ भी जिसे "कबीर पन्थ" कहते हैं सनातनधर्म केही अन्तर्गत है। उन्होंने भी मूर्ति पूजा का घोर विरोध किया है।

पत्थर पूजे हरि मिलैं तो हमलैं पूज पहाड़
तासे तो चक्की भली पीस खाय संसार
माई मस्वानी सेढ शीतला भैरु भूत हनुमन्त
साहब से न्यारा रहे जो इनका पूजन्त (कबीर)

॥ भजन ॥

सन्तो देखो जग बौराना।
सांच कहौं तो मारन धावे झूठे जग पतियाना।
नेमी देखा धर्मी देखा प्रात करे अस्नाना॥
आतम मारि पाषाणहि पूजे उनमें किछउ न ज्ञाना।
आसन मारि डिंभ धरि बैठे मन में बहुत गुमाना॥
पीतर पाथर पूजन लागे तीरथ गर्भ भुलाना।
कहैं कबीर सुनो हो सन्तो ई सब भरम भुलाना॥
कितिक कहौं कहा नहीं माने सहजे सहज समाना।
(बीजक शब्द ३)।

इसके अतिरिक्त महात्मा कबीर के अनेक भजन हैं। जिन्हें अनेक सनातनधर्मी भी गाते हैं। जो कबीर पन्थी नहीं हैं।

ऐसोरी जनम जर जइयो जग में आय के ॥ऐसोरी जनम ॥
कंकर पत्थर पूजा कीनी ठाकुर बनाय के।
वे नर अपनी काया भोगो लख चौरासी जाय के ॥ऐसो०॥

॥ भजन ॥

मन में ही दीनानाथ मन्दिर में काहे ढूंढ़त डोले।
मूरत कोर धरी पत्थर की वो मुख से नहीं बोले ॥
करनी पार उतरनी बन्दे वृथा जन्म क्यों खोले ॥मन में ही०॥

इसका अभिप्राय भी साफ है। कि मनमें ही अन्तर्यामी की उपासना करो। मन्दिर में ईश्वर नहीं है। वहां तो कोरी पत्थर की मूर्ति रक्खी है। जो मुख से बोलती तक नहीं। इसलिये वृथा क्यों भटकते फिरते हो। इन मूर्तियों के विश्वास में न रहो और जन्म व्यर्थ न गंवाओ कुछ सत्कार्य करोगे तो संसार से पार उतर जावोगे। महात्मा कबीरने केवल मूर्ति पूजा के विरुद्ध ही नहीं कहा है किन्तु वर्तमान आर्यसमाज के जितने सिद्धान्त ईसाइयों के मुकाबिले के लिये स्वामी दयानन्द सरस्वतीने खोज निकाले हैं, वेही सिद्धान्त मुसलमानों से भिड़ने के लिये महात्मा कबीरने चुने थे। जहां दोनों आचार्य मूर्ति पूजा नहीं मानते। वहां श्राद्ध के विषय में भी दोनों का एक मत है। महात्मा कबीरने कहा है।

जीवित पितरों के जूते मारे, मरे पितरों के लड्डू खावे।
जीते पितरों का करें अपराध मरे पितरों का करें श्राद्ध॥

जीते पितरों की पूछी न बात, मरे पितरों को दूध और भात।
कहैं कबीर मुझे आवे हांसी, पितर न खावें कौआ ही खासी॥

विधवाविवाह कबीरपन्थ में आजकल भी प्रचलित है। गुण कर्म से ही उन्होंने वर्णव्यवस्था मानी है। कबीरजीने अनेक स्थानों पर लिखा है कि एक बिन्दु से सबकी उत्पत्ति है इसमें कौन अच्छा तथा कौन बुरा है ईश्वर की सृष्टि में सब समान है।

"एक त्वचा हाड मल मूत्रा, एक रुधिर एक गूदा।
एक बिन्दु से सृष्टि रची है को ब्राह्मण को शूद्रा॥
(बीजक शब्द ७५)।

कबीरजी स्वयं जुलाहे थे, इससे गुण कर्म स्वभाव से वर्ण व्यवस्था मानना आवश्यक ही था। आचार की दृष्टि से कबीर पन्थ तथा आर्य समाज में कोई भेद नहीं है। और यही कारण है कि स्वा० दयानन्द सरस्वतीने कबीर पन्थ का कहीं खण्डन नहीं किया है। कबीरजी के चेलों के दोष यद्यपि सत्यार्थ प्रकाश में दिखाये हैं, कि वे खड़ाऊं चरण आदि की पूजा करते हैं। परन्तु शिष्यों की त्रुटि से महात्मा कबीर और स्वा० दयानन्द सरस्वती के सिद्धान्तों में भेद नहीं हो सकता। यदि कोई भेद है तो वह अध्यात्मदृष्टि का है अर्थात् कबीर का उपदेश "अद्वैतवाद" और स्वा० दयानन्द सरस्वती का "द्वैतवाद" है। परन्तु हमने तो पीछे स्वा० दयानन्द सरस्वती का भी निजमत "अद्वैतवाद" ही दिखाया है। ऐसी दशा में एक को अर्थात् महात्मा कबीर को तो सनातनधर्मी स्वीकार कर लिया जाय, और स्वामी दयानन्द सरस्वती को सनातन-

धर्म की सीमा से बाहर निकाल दिया जाय, यह कैसे बुद्धिमत्ता की बात होसकती है। महात्मा कबीरने ही मूर्ति-पूजा के विरुद्ध नहीं कहा है, श्रीगुरुनानकदेवने भी मूर्ति पूजा का खंडन करने में कोई बात उठा नहीं रखी है आप कहते हैं।

अन्धे गूंगे अन्ध अन्धार, पत्थर ले पूजे मगध गंवार।
आहो ! जे आप डूबे, तुम्हें कहां तारन हार ॥
(ग्रंथ सा० मं० ?)

घर में ठाकुर नजर न आवे, गल में पाहन ले लटकावे।
भरमे भूला साकत फिरता, नीर बिरूले खप २ मरता ॥
जिस पाहन को ठाकुर कहता, वह पाहन ले उसे डूबता।
गुनहगार लून हरामी, पाहन नाव न पार गिरामी ॥
(ग्रंथ सा० महो० ५)

जो पाथर को कहते देव, उनकी वृथा होवे सेव।
न पाथर बोले न कुछ देय फोकट करम निफल है सेव ॥
(ग्रंथ सा० महो० ५)

इस प्रकार के मूर्ति पूजा के विरुद्ध गुरुनानकदेव के उद्गार हैं. परन्तु सनातनधर्मी उदासी निर्मले आदि सिक्ख साधु तथा अपने साधुओं से व्यवहार करने में कोई भेद ही नहीं रखते हैं। गुरुनानकदेव का उपदेश भी मुसलमानों के विरुद्ध था अतएव उन्होंने भी कबीरपन्थ या आर्यसमाज के अनुसार ही अपने सिद्धान्त माने हैं. न मूर्ति पूजा है, और न श्राद्ध, गुण कर्म स्वभाव से ही वर्ण व्यवस्था मानते हैं, वे लिखते हैं।

जो तू बिरहमन बिरहमनी जाया,
तो आन बाट करने नहीं आया।

तुम कत बिरहमन हम कत शूद,
हम कत लोहू तुम कत दूद ॥
(ग्रंथ सा०)

विधवा विवाह भी सिक्खों में होता है। इस प्रकार आचार की दृष्टि से कबीर पन्थ सिक्खधर्म आर्यसमाज सब एक ही है, केवल आध्यात्मिक सिद्धान्त अद्वैतवाद का भेद है। परन्तु पिछले विवेचन से स्वा० दयानन्द सरस्वती का सिद्धान्त भी अद्वैतवाद दिखाया जा चुका है; फिर ग्रंथ सा० की पूजा या श्रीनानकदेव को बहुत बड़ा ईश्वर तुल्य मान लेने से ये आर्यसमाज से भिन्न नहीं हो सकते। आज कल स्वा० दयानन्द सरस्वती को भी राम, कृष्ण, वेदव्यास शङ्कराचार्य, आदि सबसे बड़ा मानता है और अपने २ आचार्यों को सबने बड़ी दर्जा दे रखा है। परन्तु आचार्यों के पूज्य मानने से सिद्धान्त में कोई भिन्नता नहीं होसकती।

इसी प्रकार दादूजीने भी मूर्तिपूजा के विरुद्ध कहा है।

दादू जिन कंकर पत्थर सेविया, सो अपना मूल गंवाय।
अलख देव अन्तरि बसे, क्या दूजी जागं जाय ॥
पत्थर पीवे धोय कर, पत्थर पूजे प्राण।
अन्तकाल पत्थर भये, बहु बूडे इहि ज्ञान ॥
कंकर बंधा गांठड़ी, हीरे के वेसास।

अन्तकाल हरि जौहरी दादू सूत कपास ॥
(दादू जी की वाणी—सांच का अङ्ग पद -१२६-१४१)

उपर्युक्त तीनों महात्मा जिन्हों ने मूर्ति पूजाका खण्डन किया है, अद्वैतवादी थे। अतएव आवश्यक है, कि इस विषय का अधिक विवेचन किया जाय कि जिससे यह प्रकट होसके कि अद्वैतमार्ग में मूर्तिपूजा कहां तक स्वीकार की गई है। इसका विवेचन लोकमान्य बालगंगाधर तिलकने इस प्रकार किया है।

" इस (अद्वैत) मार्ग में ध्यान करनेकेलिये जिस ब्रह्म स्वरूपका स्वीकार किया गया है। वह केवल अव्यक्त और बुद्धि गम्य अर्थात् ज्ञानगम्य होता है और उसीको प्रधानता दीजाती है। इस लिये इस क्रिया को भक्ति मार्ग न कह कर अध्यात्म विचार, अव्यक्तोपासना, या केवल उपासना, अथवा ज्ञान-मार्ग कहते हैं। और उपास्य ब्रह्मके सगुण रहने पर भी जब उसको अव्यक्त के बदले व्यक्त और विशेषत: मनुष्य देहधारी रूप स्वीकृत किया जाता है। तब वही भक्तिमार्ग कहलाता है। इस प्रकार यद्यपि मार्ग दो हैं। तथापि उन दोनों में एक ही परमेश्वर की प्राप्ति होती है। और अन्तमें एक ही सी साम्य-बुद्धि मनमें उत्पन्न होती है। इस लिये स्पष्ट देख पड़ेगा कि जिस प्रकार किसी छत पर जाने केलिये दो जीने होते हैं। इसी प्रकार भिन्न२ मनुष्योंकी योग्यताके अनुसार ये दो (ज्ञानमार्ग या भक्तिमार्ग) अनादि सिद्ध भिन्न २ मार्ग हैं। इन मार्गों की भिन्नतासे अन्तिम साध्य अथवा ध्येय में कुछ भी भिन्नता नहीं होती। इन में एक जीने (ज्ञान मार्ग) की पहली सीढ़ी बुद्धि है, तो दूसरे जीने (भक्ति मार्ग) की सीढ़ी श्रद्धा और प्रेम है।

और किसी भी मार्ग से जाओ, अन्त में एक ही परमेश्वर का एक ही प्रकार का ज्ञान होता है। एवं एक ही सी मुक्ति भी प्राप्त होती है। इस लिये दोनों मार्गों में यही सिद्धान्त स्थिर रहता है कि अनुभवात्मक ज्ञानके बिना मोक्ष नहीं मिलता फिर यह व्यर्थ का बखेड़ा करनेसे क्या लाभ है, कि ज्ञानमार्ग श्रेष्ठ है, या भक्तिमार्ग श्रेष्ठ है। (गीता रहस्य पृ० ४१२)

इस कथनसे आपको मालूम होगया होगा कि शंकरमत में ज्ञानमार्ग है। और वैष्णव मतमें भक्तिमार्ग। शंकरमत या ज्ञानमार्ग में ईश्वर के अव्यक्त अर्थात् निराकारकी उपासना की जाती है और ये दोनों मार्गवाले परस्पर एक दूसरेसे झगड़ा किया करते हैं। लोकमान्य तिलक लिखते हैं कि—

"प्राचीन उपनिषदों में ज्ञानमार्गका ही विचार किया गया है। और शांडिल्यसूत्रों में तथा भागवत आदि ग्रंथोंमें भक्तिमार्ग की ही महिमा गाई गई है। (गीता रहस्य पृ० ४१४)

"इसमें सन्देह नहीं कि कोई बुद्धिमान पुरुष अपनी बुद्धिसे परब्रह्मके स्वरूपका निश्चय कर उसके अव्यक्त (निराकार) स्वरूप में केवल अपने विचारोंके बलसे अपने मनको स्थिर कर सकता है। (गीता रहस्य पृ० ४१२) और यही कारण है कि प्रखरबुद्धि शंकर, कबीर, नानक, दादू, दयानन्द आदिने मूर्तिपूजा अर्थात् भक्ति मार्गको गौण माना है। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि शङ्कर मतानुयायियोंने बिलकुल व्यक्त उपासना छोड़ ही दी है। लोकमान्य तिलक लिखते हैं कि "उपनिषदोंमें भी जहां २ ब्रह्मकी उपासनाका वर्णन है। वहां प्राण, मन, इत्यादि निर्गुण और केवल अव्यक्त वस्तुओंका ही निर्देश न कर उनके साथ २ सूर्य, (आदित्य) अन्न, इत्यादि सगुण और

व्यक्त पदार्थों की उपासना भी कही गई है। (तै० ३।२६ छां०७ गीतारहस्य पृ० ४१५)

छांदोग्य उपनिषद् में प्राचीनशाल, सत्ययज्ञ, इन्द्रद्युम्न, जन, और बुडिल, इन पांच ऋषियोंकी एक कथा है। उसमें लिखा है कि ये ऋषि भिन्न २ रूपमें द्युलोक सूर्य, आकाश, और जल, के प्रतीकोंको उपासना किया करते थे। राजा अश्वपतिने प्राचीनशाल आदिसे पूछाकि तुम किसीकी उपासना करते हो। उन्होंने क्रमसे उत्तर दिया कि—

दिवमेव भगवो राजन्।
आदित्यमेव भगवो राजन्॥
वायुमेव भगवो राजन्।
आकाश मेव भगवो राजन्॥
अपएव भगवो राजन्निति।

(छां० उत्त० प्र० ५ खं० २-६)

अर्थात् हे राजन हम द्युलोक आदित्य, (सूर्य) वायु, आकाश, जल आदिके प्रतीकों की क्रमसे उपासना करते हैं। इस प्रकार अकृत्रिम अर्थात् ईश्वर रचित पदार्थोंके प्रतीकों की उपासना उपनिषदों में विद्यमान है। परन्तु ये प्रतीक परमात्मा नहीं माने जाते। किन्तु परमात्माके ज्ञानका एक साधनमात्र समझा जाता है। लोकमान्यतिलकने कहा है कि "वेदान्त सूत्रों की नांई (वेदान्तसूत्र ४। १। ४) गीता में भी यही स्पष्ट रीतिसे कहा है, कि प्रतीक एक प्रकारका साधन है। वह सत्य सर्व व्यापी नित्य परमेश्वर हो नहीं सकता"। गी० र० ४२०)
"प्रत्येक मनुष्य अपनी २ इच्छा और अधिकार के अनुसार

उपासनाके लिये किसी प्रतीक का स्वीकार करलेता है। परन्तु इस बातको नहीं भूलना चाहिए कि सत्य परमेश्वर इस प्रतीक मे नही है। (न प्रतीके न हि सः वे० सू० ४। १। ४।) उसके परे है * (गीता रहस्य पृ० ४११)

इस पहले विवेचनसे समझ में आगया होगा कि उपनिषदोंमें उनही पदार्थोंको प्रतीक बनाया है। जो ईश्वर रचित हैं। जैसे सूर्य, चन्द्रमा नक्षत्र, जल वायु, अग्नि पृथिवी.

---

* नोट —आवलो के राजासा० दुर्जन सिंहजी इस लेख पर टिप्पणी देते हुए कहते है, कि—

"क्या श्रीभगवान जिन्होंने इस गीताशास्त्रका उपदेश किया वस्तुतः स्वयं सत्य परमेश्वर नहीं हैं। और उसके प्रतीक मात्र है। इतने कहे बिना इस लेखको समाप्त करना प्रायश्चित रूप होगा, कि उस हृदय पर वज्र पड़े जिसमें ऐसे भाव भरे। और उस जिह्वा को विद्युत मारे जो ऐसे शब्दों का प्रयोग करे।

(गीता सिद्धान्त पृ० १६०)

इस लेखको देखकर हंसी आती है कि राजासा० ने इतना क्यों व्यर्थ जोर खर्च किया है। यहां लोकमान्यके लेख में तो यह प्रकरण ही नहीं कि गीताके रचयिता श्रीकृष्ण साक्षात् परमात्मा हैं या नहीं, यहां तो केवल इतना ही जिक्र है, कि श्रीकृष्णकी काष्ठ लोष्ठ मयी व्यक्त मूर्ति साक्षात् परमात्मा नहीं किन्तु परमात्माके ज्ञानका साधनमात्र है। श्रीकृष्ण को तो लोकमान्यतिलक भी साक्षात् परमात्माका अवतार मानते हैं। (गीता ४। ८) बाततो सच यह है कि अभिमानवश महात्माओंके लेखपर प्रत्येकका लेखनी उठा लेना हिन्दु जाति का दुर्भाग्य ही कहना चाहिए।

मन, अन्न, आदि। क्योंकि इन पदार्थों से ईश्वर की महिमा का ज्ञान होता है। अपने हाथ से रचना की हुई मूर्ति आदि का वर्णन उपनिषदों में नहीं है। नारदपञ्चरात्र भागवतादि वैष्णव ग्रंथों में है। सूर्य आदि की उपासना स्वा० शङ्कराचार्य ने अपने उपनिषद्भाष्यों में स्थान २ पर स्वीकार की है। अब देखना है कि इस प्रकार की प्रतीकोपासना स्वा० दयानन्द सरस्वती मानते या नहीं।

(१) काशीशास्त्रार्थ में स्वा० विशुद्धानन्द सरस्वती ने स्वा० दयानन्दसरस्वती से मूर्तिपूजा के प्रकरण में प्रश्न किया था कि—

'मनो ब्रह्मेत्युपासीत, आदित्यं ब्रह्मेत्युपासीतेति.

यथा प्रतीकोपासनमुक्तं तथा शालग्रामपूजनमपि ग्राह्यम्

(काशीशास्त्रार्थ शता० पृष्ठ ८०४)

अर्थात् मन को ब्रह्म का प्रतीक मान कर उपासना करो, आदित्य (सूर्य) को ब्रह्म का प्रतीक मानकर उपासना करो, यह वाक्य जैसे मन, सूर्य, आदि को प्रतीक बनाकर उपासना बताते हैं। उसी प्रकार शालग्राम को भी ब्रह्म का प्रतीक मानकर उपासना करना चाहिए। इसका उत्तर देते हुए स्वामीजी कहते हैं

'यथा मनो ब्रह्मेत्युपासीत आदित्यं ब्रह्मेत्युपासीतेत्यादि वचनं वेदेषु दृश्यते। तथा पाषाणादि ब्रह्मेत्युपासीतेति वचनं क्वापि वेदेषु न दृश्यते। पुनः कथं ग्राह्यं भवेत्

(का० शा० शता० ८०४)

जैसे मनको ब्रह्म का प्रतीक मान कर उपासना [illegible] को ब्रह्म का प्रतीक मानकर, उपासना करने की वेद में आज्ञा है। [illegible]

प्रकार पाषाणादि मूर्ति को ब्रह्म का प्रतीक मान कर उपासना करो ऐसा किसी भी वेद में नहीं दिखाई पड़ता है। फिर पाषाणादि मूर्ति पूजा का कैसे ग्रहण किया जा सकता है। अब कोई निष्पक्षपाती कहे बिना नहीं रह सकता, कि स्वामीजी जल या सूर्य को ब्रह्म का प्रतीक मानकर उपासना करना वेद प्रति पाद्य मानते थे। और मनुष्य रचित पाषाणादि मूर्तियों का ही वे विरोध करते थे

(२) "जब रात्रि में चन्द्रमा प्रकाशमान हो, तब बालक की माता लड़के को शुद्ध वस्त्र पहना दाहिनी ओर से आगे आके पिता के हाथ में बालक को उत्तर की ओर शिर और दक्षिण की ओर पग करके देवे। और बालक की माता दाहिनी ओर से लौटकर बांई ओर आ अञ्जलिभर के चन्द्रमा के सन्मुख खड़ी रहके—

ओं यददश्चन्द्रमसि कृष्णं पृथिव्या हृदयं श्रितम्

तदहं विद्वांस्तत्पश्यन्माहं पौत्रमघं रुदम्।

(मं० ब्रा० १।५।१३)

इस मन्त्र से परमात्मा की स्तुति करके जलको पृथिवी पर छोड़ देवे। और इसी प्रकार बालक का पिता इस मन्त्र को बोलकर अञ्जलि छोड़ देवे। (संस्कार वि० पृ० ७२)

इस लेख पर विचार करने से साफ प्रकट होजायगा कि स्वामीजी ने यहां चन्द्रमा को अञ्जलि दान कराई है। क्योंकि जिस मन्त्र से परमात्मा की स्तुति करना बताया है, उस मन्त्र का अर्थ है कि—

(यद्) जो (अदः) यह (पृथिव्याः) पृथिवी की (कृष्णं) कृष्ण छाया (चन्द्रमसि) चन्द्रमा में (हृदयं) बीच में (श्रितम्) स्थित है (तद्) उसको मैं (विद्वान्) जानता हूं इत्यादि—

अब विचारना चाहिए कि जिस मन्त्र में स्तुति करना बताया है। उस मन्त्र में चन्द्रमा का वर्णन है। क्योंकि चन्द्रमा के बीच में जो कालिमा है वह पृथिवी की छाया है। महाकवि कालिदास ने कहा है कि—

"छाया हि भूमेः शशिनो मलत्वे नारोपितः शुद्धि-मतः प्रजाभिः (रघु० सर्ग १४)

अर्थात् शुद्ध चन्द्रमा में पृथिवी की छाया को लोगों ने कलङ्क समझ लिया है। इससे मानना पड़ेगा कि चन्द्रमा की प्रतीक द्वारा स्वामीजी ने परमात्मा की स्तुति कराई है। क्योंकि वेद में कहा है कि—

तदेवाग्निस्तदादित्य तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः

तदेव शुक्रंतद्ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः

अर्थात् वही परमात्मा अग्नि और वही सूर्य है। वही वायु है, और वही चन्द्रमा। वही शुक्र, और वही ब्रह्म है। और वही जल, तथा वही प्रजापति है।

(२) जो मूर्ति के दर्शनमात्र से परमेश्वर का स्मरण होवे तो, परमेश्वर के बनाये पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, और वनस्पति, आदि अनेक पदार्थ जिनमें ईश्वर ने अद्भुत रचना की है। क्या ऐसी रचना युक्त पृथिवी पहाड़ आदि परमेश्वर रचित महामूर्तियां कि जिनसे मनुष्य कृत मूर्तियां बनता है। उनको देखकर परमेश्वर का स्मरण नहीं हो सकता। (सत्यार्थ० समु० ११ पृ० ३२४)

इस उपर्युक्त स्वामी जी के लेख से ही स्पष्ट है, कि जो स्मरण मात्र प्रयोजन के लिये मूर्तियां बनाते हैं तो मनुष्य कृत मूर्तियों से ईश्वर का स्मरण नहीं होसकता। परमेश्वर कृत पृथिवी, सूर्य, आदि के प्रतीक से उसका स्मरण ध्यान होसकता है, क्योंकि उनमें उस परमात्मा ने अद्भुत रचना की है। और उनसे उस परमात्मा की अलौकिक शक्ति का बोध होता है।

(४) संस्कारविधि गर्भाधान प्रकरण में —

"ओं अग्ने प्रायश्चित्ते त्वं देवानां प्रायश्चित्तिरसी

त्यादि २० मन्त्रों से हवन लिखा है। और प्रत्येक मंत्र के अन्त में—इदं अग्नये इदन्नमम, इदं वायवे इदन्नमम, इदं चन्द्राय इदन्नमम, इदं सूर्याय इदन्नमम, इत्यादि वाक्य लिखे हैं। (संस्कार विधि पृ० ३९)

जिससे विदित है, कि यहां स्वामीजी ने हवन द्वारा अग्नि वायु चन्द्र, सूर्य, आदि देवताओं की तृप्ति की है। यदि ऐसा नहीं है, तो यहीं सूर्य आदि नाम के मन्त्र क्यों बोलेगये। परमात्मा की स्तुति करने वाले तो और भी बहुत मन्त्र हैं। अग्नि, वायु, चन्द्र, सूर्य इस स्थान पर परमात्मा के नाम है। ऐसा समझ पण्डित मान नहीं सकते। और यह हम पहिले लिख चुके कि सूर्य आदि परमात्मा न होकर भी उसकी प्राप्ति के साधन अर्थात् प्रतीक माने जाते हैं। क्या मन्त्रों द्वारा हवन करने से परमात्मा की तृप्ति होती है, इस प्रकार के अग्नि आदि का लक्ष्य करके बोले हुए मन्त्रों से संस्कारविधि भरी पड़ी।

(५) "जिस तिथि या नक्षत्र में बालक का जन्म हुआ हो, उस तिथि और उस नक्षत्र का नाम लेकर उस तिथि और उस नक्षत्र के देवता के नाम से चार आहुति देनी अर्थात् एक तिथि, दूसरी तिथि के देवता, तीसरी नक्षत्र, और चौथी नक्षत्र के देवताओं के नाम घी की आहुति देवे जैसे किसी का जन्म प्रतिपदा और अश्विनी नक्षत्र में हुआ हो तो:—

ओं प्रतिपदे स्वाहा, ओं ब्रह्मणे स्वाहा ओं अश्विन्यै स्वाहा, ओं अश्विभ्यां स्वाहा (संस्कार वि० पृ० ६७)

यह लिखकर स्वामीजी ने नक्षत्र और तिथियों के देवता लिखे हैं। अब बताइये प्रतिपदा का देवता कौनसा ब्रह्मा है जो स्वामीजी ने माना है। और अश्विनी नक्षत्र के कौन से अश्विनीकुमार देवता हैं जो स्वामीजी ने आहुति देने के लिये बताये हैं।

(६) ओं वसवस्त्वा गायत्रेणच्छन्दसा भक्षयन्तु।

इस मंत्र से मधुपर्क में से पूर्व दिशा को।

ओं रुद्रास्त्वा त्रैष्टुभेनच्छन्दसा भक्षयन्तु।

इस मन्त्र से दक्षिण दिशा में।

ओं आदित्यास्त्वा जागतेनच्छन्दसा भक्षयन्तु।

इस मन्त्र से पश्चिम दिशा में।

ओं विश्वे त्वा देवा आनुष्टुभेनच्छन्दसा भक्षयन्तु।

इससे उत्तर दिशा में।

ओं भूतेभ्यस्त्वा परिगृह्णामि।

इस मन्त्र से ऊपर की ओर तीन बार फेंके (सं० वि० विवाह सं० १४८)।

इन मन्त्रों में वसु, रुद्र, आदित्य, आदि समस्त देवताओं के भक्षण के लिये मधुपर्क के इधर उधर छींटे दिये गये, जो इन मन्त्रों के अर्थों से स्पष्ट है क्या इस लेख के रहते हुए भी कोई कह सकता है, कि स्वामीजी देवतावाद नहीं मानते थे। और उनकी तृप्ति के लिये यह मधुपर्क दान नहीं है। पं० बालशास्त्री कुम्बईवाले जो शताब्दीसम्मेलन पर विद्वत्परिषद् के सभापति थे, उन्होंने अपनी वक्तृता में इस लेखसे देवता तृप्ति मानकर इसी तरह मृतक श्राद्ध में पितर तृप्ति क्यों नहीं होती यह शङ्का की है।

(७) ओं इयं नार्युपब्रूते लाजानावपन्तिका आयुष्मानस्तु मे पतिरेधन्तां ज्ञातयो मम स्वाहा। इदमग्नये, इदन्न मम।

इत्यादि मन्त्रों से थोड़ी २ धाणियां और शमी पत्र की आहुति प्रज्वलित इन्धन पर दे। (संस्कार विधा० पृ० १६८)

इस स्थान पर स्वामीजी ने अग्नि की पूजा कही है। मन्त्र का अर्थ देखिये।

यह कन्या धाणी हवन करती हुई प्रार्थना करती है कि मेरा पति आयुष्मान हो। और मैं सन्तान युक्त होऊं और इसी प्रकार का अग्नि परक इससे पहिला और पिछला मन्त्र है कि "कन्या अग्निमयक्षत" अर्थात् कन्या अग्नि की पूजा करती है। पिछले मन्त्र का अर्थ है कि इन धान की खीलों को मैं अग्नि में हवन करती हूं। हे अग्ने! तुम मेरे और इस पति के सम्बन्ध को अनुमोदन करो।

आर्यसमाजी कह सकते हैं, कि यह अग्नि की पूजा नहीं किन्तु परमेश्वर से प्रार्थना है। परन्तु हमारा भी तो यही

कथन है कि यहां अग्नि की प्रतीक द्वारा परमेश्वर से प्रार्थना की गई है। हम पहले ही लिख चुके कि प्रतीक स्वयं परमेश्वर नहीं होता। वह तो परमेश्वर की पूजा का एक साधन मात्र है। इसी प्रकार यहां अग्नि की पूजा द्वारा परमेश्वर प्रार्थना है। नहीं तो कोई आर्यसमाजी नहीं बता सकता कि यहां शमीपत्र और धाणी क्यों हवन की गई। हिन्दू (आर्यों) में प्राचीन रीति है कि राजा या देवता पर पुष्पों की भांति कन्या धान की खील वर्षा करती हैं। महाकवि कालिदास ने लिखा है।

आचारलाजैरिव पौरकन्याः (रघुवंश सर्ग २)।

नगर में कन्याएँ राजा पर जिस प्रकार लाजा अर्थात् खील बखेरा करती हैं उसी प्रकार वन में लतायें राजा दिलीप पर फूलों की वर्षा करने लगीं। इसी तरह अग्निदेव को प्रत्यक्ष देखकर कन्या उसकी पूजा के लिए लाजाओं की वर्षा करती है। शमीपत्र का भी यही भाव है। महाकवि कालिदास ने कहा है—

शमीमिवाभ्यन्तरलीनपावकम् (रघु० स० ३)

अग्निगर्भां शमीमिव (शकुन्तला ना० ४।३)।

अर्थात् अग्नि जिसके भीतर रहती है, ऐसे शमीवृक्ष की तरह राजा ने अपनी रानी को गर्भवती देखा।

इस प्रकार सनातनधर्म में शमीवृक्ष अग्नि का निवास माना है, और अग्नि के आसन के निमित्त ही शमीपत्र हवन करना है। इस प्रकार भौतिक अग्नि के निमित्त ही लाजा और शमीपत्र हवन किया जाता है। परन्तु लाजाओं का अर्थ समाजी कोई स्पष्ट अभिप्राय न बताकर ऊटपटाँग मारा

करते हैं, कि लाजा हवन करने का कन्या का यह अभिप्राय है कि हे पति! मैं तेरे साथ लाजाओं की तरह हलकी रहूंगी, चक्की का पाट बन कर गले में नहीं लटकूंगी। हमें तो आश्चर्य हुआ करता है कि ऐसा तार्किक आर्य समाज भी ऐसे मौकों पर अन्ध विश्वास करके कैसे इन अप्रामाणिक बातों को सुनता और मानता रहता है।

(८) 'ओं तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्तादित्यादि मन्त्र को बोल कर वर और कन्या सूर्य का अवलोकन करें।

(संस्कार० वि० पृ० १७२)

इस मन्त्र में सूर्य की प्रतीक द्वारा वरवधू के १०० वर्षपर्यन्त जीवित रहने आदि की परमात्मा से प्रार्थना की गई है। अन्यथा इसही मन्त्र को बोलकर सूर्य दर्शन से क्या प्रयोजन है इस मन्त्र का देवता भी सूर्य ही है। सनातनधर्मी भी तो इसी मन्त्र को बोलकर सूर्य दर्शन किया करते हैं। और यही मन्त्र पूर्व निष्क्रमणसंस्कार में सूर्य दर्शन करने के लिये स्वामीजी ने प्रयुक्त किया है (सं० वि० पृ० ७२) क्या अन्य कोई मन्त्र परमात्मा की प्रार्थना का नहीं है। जो इस समय बोला जासके बार बार इसके ही सूर्य दर्शन कराने का क्या प्रयोजन है।

(९) ओं अग्निर्भूतानामधिपतिः स मावत्वस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् क्षत्रेऽस्यामाशिष्यस्यां पुरोधायामस्मिन् कर्मण्यस्यां देवहूत्यां स्वाहा, इदमग्नये इदन्न मम

इसी प्रकार प्रत्येक देवताका नाम बदल कर अन्य हवन मन्त्र लिखे हैं और जिनके मन्त्र में पूर्ववत् ये वाक्य है।

इदमिन्द्राय ज्येष्ठानामधिपतये इदं न मम

इदं यमाय पृथिव्या अधिपतये- इदं न मम

इदं वायवे अन्तरिक्षस्याधिपतये- इदं न मम

इदं सूर्याय दिवो अधिपतये इदं न मम

इदं चन्द्रमसे नक्षत्राणामधिपतये- इदं न मम

इदं वरुणाय अपामधिपतये- इदं न मम

इदं समुद्राय स्रोतसामधिपतये इदं न मम

इदं इन्द्राय पशूनांपतये इदं न मम

इदं विष्णवे पर्वतानामधिपतये- इदं नमम

इदं मरुद्भ्यो गणानामधिपतये- इदं न मम

इत्यादि रीतिसे अभ्याधान होम करे । (संस्कार० वि० पृ० २५७ - २६०)

अब सोचना चाहिए कि यदि यहां सूर्य चन्द्र अग्नि, इन्द्र, रुद्र, आदि नाम ईश्वर के हैं तो चन्द्रमा के साथ "नक्षत्राणामधिपतये" अर्थात् नक्षत्रों का पति, ऐसा ही क्यों लिखा । और सूर्य के साथ "दिवोऽधिपतये" अर्थात् दिनका पति ऐसा ही क्यों आया । और इसी प्रकार प्रत्येक देवताके साथ लिखा है । रुद्रके साथ मन्त्र में पशुपति शब्द पड़ा है । वरुण के साथ "अपामधिपतये" अर्थात् जलका पति शब्द है ।

इससे मानना पड़ेगा कि प्रत्येक देवता की प्रतीक द्वारा स्वामीजीने यहां परमेश्वराराधन किया है ।

(१०) "इन मन्त्रों को पढ़ कर यज्ञकुण्ड की ओर प्रदक्षिणा करे (सं० वि० पृ० १६८)

इस [illegible] न परिक्रमाका भी आर्यसमाजी कोई तात्पर्य नहीं बता [illegible], कोई २ आर्यपण्डित कहा करते हैं कि चार आश्रमों [illegible] लिये चार परिक्रमा हैं। तीन आश्रमों में तो आ[illegible] रहती है। इससे कन्या परिक्रमा में आगे रहती है। और [illegible] आश्रम सन्यास में उसका त्याग है। इससे पीछे कर[illegible] है। परन्तु ये सब अप्रामाणिक ढकोसले हैं। क्या ब्रह्मचर्य में [illegible] साथ होती है। और क्या सब ही वान-प्रस्थ वन में स्त्री को साथ लेजाते हैं ये तो अग्निकी परिक्रमा है। और सनातनधर्मी शास्त्रों में अग्निकी चार परिक्रमा लिखी हैं। प्रत्येक देवता की भिन्न २ संख्या में परिक्रमायें लिखी हैं।

(६०) [illegible] से जो जलके कलशको लेके यज्ञकुण्ड के दक्षिण की ओर में बैठा था वह पुरुष उस पूर्व स्थापित जल कलश को लेके वधूवर के समीप आवे और उसमेंसे थोड़ासा जल लेके वधू वरके मस्तक पर छिड़कावे और वर इन "आपो हिष्ठा मयो भुवः" इत्यादि चार ऋग्वेद के मन्त्रों को बोले। (सं० वि० वि० पृ० १७१)

इन बनाइये मार्जन किसलिये है, क्या वधूके लिये जलकी प्रतीक द्वारा परमेश्वर से आशीर्वाद ग्रहण नहीं कराया जारहा है। मन्त्रों में स्पष्ट जलवाची 'अप्' शब्द पड़ा हुआ है। तो अप्का अर्थ परमात्मा करोगे तो दूसरा "अग्निमीडे" आदि अग्नि वाची परमात्मा के मन्त्र जलसिञ्चन के समय क्यों नहीं बोल लेते हो। और इस सिञ्चन से लाभ ही क्या है। यदि वर वधू को आलस्य होगया है तो घटके जलसे ही सिञ्चन क्यों कराया जाता है। दूसरा जल लाकर आलस्य मुक्तिकेलिये बिना मन्त्रोच्चारण छींटे लगा लेने चाहिए।

(११) शन्नो देवीरभिष्टय आपो भवन्तुपीतये इत्यादि मन्त्र से तीन आचमन करे। (सं० वि० पृ० २२२)

अब यदि "अप्" शब्द जलका वाची न मान कर ईश्वर का वाची मानते हो, तो यहां जलके आचमन के समय जलवाची शब्द काही मन्त्र, क्यों लिखा, क्या और मन्त्र नहीं थे। स्वामी जी जानते थे, कि कुतर्कियों के उत्तर के लिये ऐसा अर्थ करो, परन्तु मंत्रोच्चारण के समय तो जो मन्त्रका सत्य अर्थ है वह आपही उसका देवता या परमात्मा समझ लेगा, सनातन कर्म काण्डका लोप किसी प्रकार न होना चाहिये।

(१२) "पूर्वाभिमुख बैठके नीचे लिखे हुए मन्त्रोंसे प्रातः काल हवन करे।

ओं सूर्यो ज्योति ज्योतिः सूर्यः स्वाहा इत्यादि।

सायंकाल नीचे लिखे मन्त्रों से हवन करे।

ओं अग्नि ज्योति ज्योति रग्निः स्वाहा इत्यादि

(सं० वि० २२८)

यहां भी सूर्य और अग्नि द्वारा परमेश्वर की उपासना की है। क्योंकि प्रातः काल के हवन मंत्रों में सूर्य है, और सायङ्काल के मन्त्रोंमें अग्नि है। सिवाय इसके इस बातका और क्या तात्पर्य है, कि प्रातः काल सूर्य में प्रकाश रहता है। और रात्रिको वही प्रकाश अग्नि में चला जाता है। इसी लिये इन सूर्य और अग्नि का प्रातः साय ग्रहण है। यहां हवन में मन्त्र केवल स्मरण रखनेके लिये बोले जाते हो, यह समझ में नहीं आता। क्योंकि मन्त्रोंके स्मरण के लिये तो और अनेक स्थान होसकते थे। भौतिक पदार्थों के गुणों का वर्णन करनेके लिये भी मन्त्रों का उच्चारण

करना इस समय व्यर्थ है। हवन द्वारा परमात्माराधन करना ही स्वामीजी का मुख्य उद्देश्य है। अन्यथा मन्त्रोंके कण्ठस्थ होजाने परभी उनका पिष्ट पेषण करते रहनेसे लाभ ही क्या है।

(१३) निम्नलिखित मन्त्रों से बलिदान करे।

ओं सानुगायेन्द्रायनमः इस से पूर्व
ओं सानुगाय य आपायनमः इमसे दक्षिण
ओं सानुगाय वरुणाय नमः इमसे पश्चिम
ओं सानुगाय सोमायनमः इसमे उत्तर में

"अद्भ्योनम" इससे जलमें भागधरे (सं० वि० पृ० २२७) यहां भी जो पीछे लिख आये हैं वही दशा है। "अद्भ्योनमः" यह जलवाची शब्द कह कर जलमें भाग रखा गया है। इन्द्र की यह दिशा पूर्व है। इसमें पूर्व में इन्द्र को और यम की दिशा दक्षिण होने से दक्षिण में यमको भाग रखा गया है। नहीं तो सनातनधर्मी ख्याल के विरुद्ध इन्द्रके साथ पश्चिम और वरुण केसाथ पूर्व आदि दिशायें क्यों न उलट पलट कीगईं।

(१४) "ओं विष्णो र्द्रंष्ट्रोऽसि" मुण्डन संस्कार में उस्तरे की ओर देखकर कहे हेउस्तर ! तू विष्णु की दाढ है। पं० भीमसेनजी इटावे वालोंने 'आर्यमत निराकरण प्रश्नावली" नामक पुस्तक में इस मन्त्र में मूर्तिपूजा की गन्ध बताई है। स्वामीजी लिखते हैं।

(१५) "जिन को तुम बुतपरस्त समझते हो, वे भी उन मूर्तियों को ईश्वर नहीं समझते किन्तु उसके सामने ईश्वर की भक्ति करते हैं।" (सत्यार्थ० समु० १४ पृ० ५६५)

यहां स्वामीजी ने मुसलमानों को उत्तर देते हुए स्पष्ट कर दिया है कि सनातनी मूर्ति को परमेश्वर से अधिक कुछ नहीं समझते हैं। जो कि पहले हम लोकमान्य बालगंगाधर तिलक के अक्षरों में दिखा चुके हैं। यह लेख स्वामीजी का शङ्कर मत से मिलता है कि प्रत्येक परमेश्वर नहीं किन्तु उसकी प्राप्ति का साधन है। वैष्णवमत में ऐसा स्वीकार नहीं किया गया है।

(२६) " एक दिन स्वामीजी व्याख्यान के अनन्तर कई राजा और पण्डितों सहित भ्रमण करने जारहे थे आगे मार्ग के लोगों का एक देवालय आगया। उस समय वहां छोटे २ बच्चे मिल जुल कर स्वच्छन्दता पूर्वक खेल कूद रहे थे। स्वामीजीने वहां एका एक शिर नीचा कर दिया और फिर आगे चल पड़े। एक साथी पण्डितने कहा, स्वामीजी प्रतिमा पूजन का खण्डन चाहे जितना करो पर देवस्थल का भी प्रत्यक्ष प्रभाव है कि देवालय के सामने आपका मस्तक आप ही आप नीचा होगया। महाराज यह सुनते ही उन्हीं पांव खड़े होगये और उन बालकों में एक चतुर्वर्षीया विगतवस्त्रा बालिका को और संकेत करके बोले देखते नहीं हो यह मातृ शक्ति है जिसने हम सबको जन्म प्रदान किया है (दयानन्द प्र० पृ० ४३१

इस घटना से पता लगता है कि स्वामीजी की वर्तमान मूर्ति पूजा में भी आन्तरिक श्रद्धा थी अन्यथा देवालय को देखते ही मूर्ति को क्यों नमस्कार करते। स्वामीजी के अभिप्राय को नहीं समझने वाले शुष्क पण्डितने इसका झगड़ा खड़ा कर दिया इसीलिये सत्यामति स्वामीने अपने शिष्यों को समझाने के लिये यह मातृशक्ति का पचड़ा खड़ाकरना पड़ा। नहीं तो क्या अब तक अनेक स्थानों पर उन्होंने बच्चे खेलते नहीं देखे थे। परन्तु कहीं भी इस तरह मातृशक्ति को प्रणाम करना नहीं देखागया। मातृ

शक्तिके अतिरिक्त उन बच्चों में पितृशक्ति भी तो होगी, फिर स्वामीजी ने पितृ शक्ति को क्यों नहीं प्रमाणित किया, क्या पितृ शक्ति प्रामाण्य नहीं है। हमारी सम्मति में तो इस प्रकार मातृ शक्ति को प्रमाणित करना केवल हास्यास्पद है, तथा साधारण मनुष्यों का प्रतारण मात्र है। और यदि तुम ऐसा मानते हो तो नवरात्रों में कन्याओं को बुलाकर मातृशक्ति का क्यों नहीं पूजन करते हो।

अब इस प्रकार स्वामीजी के लेखसे जल, समुद्र आदि के प्रतीक मानना सिद्ध है, तब तीर्थ के विषय में भी स्वामी जी का मत आपही प्रकट होजाता है। क्योंकि तीर्थोंका रहस्य ही जल, पृथिवी, आदि की प्रतीकोपासना है। स्वामीजी ने तो अपनी आयुका अधिक भागही गंगातट पर बिताया था, और तो क्या वे गंगातट पर रहना धन्य समझते थे। आप जब काशी शास्त्रार्थ करने गये और शास्त्रार्थ के अनन्तर "काशी शास्त्रार्थ" नामक पुस्तक निकाली उसके प्रारम्भ में ही लिखा है।

"एको दिगम्बरः सत्यशास्त्रार्थ विद्यानन्दसरस्वती स्वामी गङ्गातटे विहरति (का० शा० १)

अर्थात्—एक दिगम्बर सत्य शास्त्रार्थ करने वाला स्वा० दयानन्द सरस्वती गंगातटपर विचरण करता है।

स्वा०—दयानन्द सरस्वती यद्यपि सारे भारत में घूमा करते थे, परन्तु जब शास्त्रार्थ की पुस्तक लिखने बैठे, तो अपना प्रशंसा द्योतक गंगा तट अवश्य लिखा। गंगातट पदके लिखने में स्वामीजी की कोई ध्वनि है या नहीं इसे सहृदय कवि ही जान सकते हैं। साधारण पदोंका ज्ञान रखने वाले पण्डित की यहां गम्य ही नहीं है।

अब तक जितने वर्तमान आर्यसिद्धान्तों का ऊपर दिग्दर्शन कराया गया है यदि उन सिद्धान्तों को जैसाका तैसा आर्यसमाज मानता रहे तो भी कोई कारण नहीं है कि वे वर्तमान सनातन-धर्मसे पृथक् माना जावे। क्योंकि पीछे दिखाया जाचुका है कि आर्यसमाज के पास कोई ऐसा सिद्धान्त नहीं है जो आज कल सनातनधर्म की सम्प्रदायों में नहीं माना जा रहा। जीव ईश्वर प्रकृति, तीनों अनादि नित्य स्वतन्त्र, तथा १८ पुराणों का अप्रमाण, एवं शिवादि की मूर्ति पूजा का निषेध रामानुज सम्प्रदाय में माना गया है, तो कबीरपन्थ में श्राद्ध तथा मूर्ति पूजाका निषेध है। इत्यादि बातें अन्वेषण करने पर सब सनातनधर्मकी सम्प्रदायों में मिलजायगी, परन्तु जिस सिद्धान्त के कारण से सनातनधर्म से भिन्न माने जाते हैं वह है गुण-कर्मानुसार वर्ण व्यवस्था अर्थात् चाण्डाल अन्त्यज आदि का ब्राह्मण आदि वर्ण में सम्मिलित होजाना। सिद्धान्त रूप से गुण कर्म से वर्ण व्यवस्था मानने वाली सम्प्रदाय भी यद्यपि सनातनधर्म में सम्मिलित है। परन्तु या तो वह शब्दों तक ही परिमित है उसका प्रचार व्यवहार में नहीं है, या उसने अपने सिद्धान्त का व्यवहार छोड़ दिया है। आर्यसमाज का यह प्रधान सिद्धान्त है अतएव आवश्यक है कि इस सिद्धान्तका विवेचन करके स्वामीजीका मत पाठकों के सन्मुख उपस्थित किया जाय।

इसमें सन्देह नहीं कि स्वा० दयानन्द सरस्वती का जन्म एक ऐसे नाजुक समय में हुआ था जबकि हिन्दूजाति घोर अन्धकार में निमग्न थी। ब्राह्मण आदि वर्ण इतने मिथ्या अभिमान में फस चुके थे कि चाहे कितना ही अपना प्यारा ऐसी ही भूल से ईसाई मुसलमान होजाय और पीछे कितना

ही सत्य पश्चात्ताप करे, परन्तु उसके लिये हिन्दुधर्म का द्वार सदा के लिये बन्द कर दिया जाता था। अछूत लोग हिन्दु जाति के अत्याचारों से बिलबिला उठे थे। और वे ईसाइयों की ओर टकटकी लगाये हुए थे। ऐसी दशा में द्विजातियों से यह कहना बहुत ही कठिन था कि तुम अछूतों के साथ सहानुभूति करो, और अपने ही अंग भूत भाइयों को काट २ मत गिरावो। इस प्रकार तो थोड़े ही दिन में हिन्दु जाति नष्ट होजायगी। परन्तु वे तो अपने दुराग्रह में एक भी तिल हिलना स्वीकार नहीं कर सकते थे चाहे कुछ भी होजाय। अछूतों से तो यह कहा ही कैसे जा सकता था किन्तु तुम इसही दुरवस्था में पड़े सड़ कर हिन्दु बने रहो, परन्तु ऐसे कराल समय में भी आर्य जाति तथा धर्म की रक्षा का वे जाडू मार्ग ढूंढ निकालना स्वा० दयानन्द सरस्वती जैसे योगी का ही कार्य था।

स्वामीजी ने विचारा कि सर्व प्रथम हमारा यही कर्तव्य है कि सात करोड़ अछूत हिन्दुधर्म से निकलने न पावें और द्विजातियों में से भी कोई विधर्मी न बन सके।

परन्तु जो द्विजाति विदेशी चकाचौंध में फंसकर अभक्ष्य भक्षणादि करने में निःशङ्क हो चुके हैं। उन्हें रोका ही कैसे जावे। जाति उन्हें अपने में सम्मिलित रखना नहीं चाहती। अतएव आवश्यक है कि एक ऐसा समाज नियत किया जाय जिसमें पतित द्विजातियों के अतिरिक्त शूद्र और शुद्ध किये हुए विधर्मी भी सम्मिलित रहसकें। उसका नाम स्वामीजी ने "आर्य समाज" रक्खा, जिसमें शूद्रों को भी गुणकर्मानुसार ब्राह्मण आदि वर्ण बनने का अवसर मिल गया और वे ईसाइयों के चुंगल से निकल आये। अब उन सरल सनातनियों

से पूछना है कि, इस प्रकार का एक समाज खड़ा करदेने से हिन्दू धर्म के लिए लाभ के सिवाय हानि ही क्या हुई। जब सनातनधर्म सार्वभौम (यूनिवर्सल) धर्म है, तब अन्य धर्मावलम्बी यदि सनातनधर्म को स्वीकार करना चाहें तो किस वर्ण में सम्मिलित हो सकते हैं। सङ्कुचित विचारवाले सनातनधर्मी को भी कहना पड़ेगा कि सनातनधर्मानुसार विधर्मी शूद्र समुदाय में सम्मिलित किए जा सकते हैं।

काश्मीर के राजा पण्डितों ने भी 'रणवीर प्रकाश' नामक ग्रंथ में स्वा० दयानन्द सरस्वती के पूर्व ही यह व्यवस्था दी थी कि जन्मके ईसाई मुसलमान भी शुद्ध होकर शूद्रों में मिल सकते हैं। यथा –

"मूलतो म्लेच्छादीनां वा सत्यामिच्छायां नास्तिकपरत्यागेन भक्तिशास्त्र प्रत्यभिज्ञाशास्त्र राममन्त्राद्युपदेश्यताधिकारः। शूद्रकमलाकरोक्तसंस्कारप्राप्तिश्च सिध्यतीत्यत्र नकस्यापि कटाक्षावसरः इति सकल श्रुतिस्मृति पुराणेतिहासादिनिर्गलितो विमर्शो निष्पक्षपातधीभिः सुधीभिर्निपुणं विचारणीयः (रणवीर प्रकाश)।

अर्थात्, जो जन्म से ईसाई मुसलमान आदि चले आते हैं, उनकी भी इच्छा हो तो म्लेच्छता त्याग से भक्तिशास्त्र, प्रत्यभिज्ञाशास्त्र और राम मन्त्रादि में उनका अधिकार है, और शूद्रों के संस्कारों के भी वे अधिकारी हैं। इस बात में किसी को भी कटाक्ष करने का अवसर नहीं है। यह श्रुतिस्मृति पुराण इतिहास आदि का निचोड़ है। ऐसा पक्षपात रहित विद्वानों को मानना चाहिये।

जब इस प्रकार सनातनधर्मी विद्वत्समाज की व्यवस्था विद्यमान है। तब स्वा० दयानन्द सरस्वती का आर्यसमाज खड़ा कर देना सनातन धर्म का विरोध ही करना है।

बहुतों का ख्याल होगा कि यदि आर्यसमाजी बहुत बढ़ गये तो मन्दिरों की मौत आजावेगी परन्तु जिन्होंने यह सोच लिया वे यह भी तो विचारें कि यदि ये सात करोड़ अछूत मुसलमानों में मिल गये तो क्या होगा, मन्दिर ही क्या हमें भी संसार में छोड़ेंगे या नहीं इसी में सन्देह है। स्वा० दयानन्द सरस्वती के धर्म में तो धोखे और बलात्कार से मूर्ति तोड़ना कहीं नहीं लिखा है—

किसी मनुष्य ने फर्रुखाबाद में स्वामीजी से कहा था कि यदि तुम अपने प्रेमी स्कूल मन्दिर में करदो तो यह भ्रम का स्थान मन्दिर शहर की नाकके समय यहां से हट जाय इसका जो उत्तर स्वामीजी ने दिया है वह स्वर्णाक्षरों में लिख लेना चाहिये। स्वामीजी ने कहा—

"ऐसी उलटी पट्टी मुझे न पढ़ाइये। ऐसे टेढ़े तिरछे मार्गों से किसी मत को हानि पहुंचाना अधर्म है। और नीचता, अनीति, और अन्याय, है। मुसलमान बादशाहों ने सैकड़ों मन्दिरों को मूर्तियों सहित मलियामेट कर दिया। परन्तु मूर्ति पूजा बन्द करानेमें सफल न हो सके। हमारा काम तो मनुष्यों के मनोमन्दिरों से मूर्तियां निकालना है। न कि ईट पत्थर के बने देवताओं को तोड़ना फोड़ना" (दयानन्द प्र० पृ० ३९९)।

इसके अतिरिक्त जब शताब्दी सम्मेलन पर कुछ मूर्ख आर्य लड़कों ने मूर्तियों का अपमान किया तो आर्य समाज

के सब से बड़े नेता स्वा० श्रद्धानन्दजी ने खुले अक्षर में इस काम की निन्दा करते हुये क्षमा याचना की थी। इसलिये आर्यसमाजियों से तो यह शङ्का नहीं है कि वे निधड़क मन्दिरों को तोड़ डालेंगे। परन्तु जो अपने को 'बुतशिकन' अर्थात् मूर्ति तोड़ने वाले कहलाने में धन्य समझते हैं। उनसे मन्दिरों के बचाने का क्या उपाय करना चाहते हो या नहीं। "न रहेगा बांस न बजेगी बांसुरी" क्या इस कहावत को चरितार्थ हो करके छोड़ोगे! क्या इस कराल काल में भी परस्पर असंगठित रह कर जीवित रह सकोगे! हमतो अब आपका समय खराब न करके इस प्रकाण्ड ताण्डव को यहीं समाप्त कर देना चाहते हैं, और स्वामीजी का गुणकर्मानुसार वर्ण-व्यवस्था मानने का रहस्य बताकर यह दिखाना चाहते हैं कि वास्तव में स्वामीजी भी वर्णव्यवस्था सनातनधर्मानुकूल जन्म और कर्म दोनों से ही माना करते थे।

इससे प्रथम कि हम स्वामीजी का लेख पाठकों की सेवामें प्रस्तुत करें, एक महाभारत की घटनाका उल्लेख कर देना उचित समझते हैं। द्रौपदी के स्वयम्बर में यह शर्त थी कि जो कांचों ऊपर लटकते और फिरते हुए मत्स्य को बेध देगा उसे द्रौपदी वर माला पहनावेगी। कर्ण उसको बेधने को खड़ा हुआ परन्तु वह सूत पुत्र था, द्रौपदी तथा क्षत्रियों ने कोलाहल मचा दिया कि यह क्षत्रिय नहीं है, इससे मत्स्य बेधनेकी आज्ञा नहीं दी जासकती, परन्तु कर्ण अपनेको गुणकर्मानुसार क्षत्रिय मानते थे इस लिये उन्होंने उत्तर दिया कि—

सूतो वा सूत पुत्रो वा यो वा को वा भवाम्यहम्
दैवायत्तं कुले जन्म मदायत्तन्तु पौरुषम्

(वेणीसंहार नाटक

अर्थात्—मैं सूत हूं या सूतपुत्र , कछ भी हूं, कुल में जन्म लेना दैवाधीन है। परन्तु हमारे आधीन तो पौरुष है। अर्थात् तुम लोगों को हमारे पराक्रमसे जातिका निर्णय करना चाहिये इसी तरह गुणकर्म से वर्ण व्यवस्था मानने वाले स्वामीजी को भी समय पड़ने पर ऐसाही उत्तर देना चाहिए था. परन्तु वे ऐसा उत्तर न देकर कहते हैं। "हममें बहुत लोग पूछते हैं आप ब्राह्मण हैं, हम कैसे जानें। आप अपने इष्ट मित्र भाई बन्धु के पत्र मंगा देवें अथवा किसी की पहचान बनावें, ऐसा कहते हैं इसलिये अपना वृत्तान्त कहता हूं। गुजरात देश में दूसरे देशों की अपेक्षा मोह अधिक है। यदि मैं इष्ट मित्र भाई बन्धु की पहचान दूं, या व्यवहार करूं तो मुझे बड़ी उपाधि होगी. जिन उपाधियों से छूट गया हूं, वही उपाधि पीछे लग पड़ेगी यही कारण है कि मैं पत्र मंगाने का यत्न नहीं करता. प्रथम दिन से ही जो मैंने लोगों को अपने पिता का नाम और अपने कुल का स्थान बताना अस्वीकार किया, इसका यही कारण है। कि मेरा कर्त्तव्य मुझे इस बात का आज्ञा नहीं देता यदि मेरा कोई सम्बन्धी मेरे इस वृत्त से परिचय पा लेता तो वह अवश्य मेरे ढूंढने का प्रयत्न करता, इस प्रकार उनसे साक्षात्कार होने पर मेरा उनके साथ घर जाना आवश्यक होजाता सुतरां एक बार पुनः मुझे धन हाथ में लेना पड़ता, अर्थात् गृहस्थ होजाता। उनकी सेवा शुश्रूषा भी मुझे ग्राह्य होती। इस प्रकार उनके मोहमें पड़ कर सर्व सुधारका यह उत्तम काम जिसके लिये मैंने अपना जीवन अर्पण किया है जो मेरा यथार्थ उद्देश्य है जिसके अर्थ, स्वजीवन बलिदान करने की किञ्चित् चिन्ता नहीं की। और अपनी आयु को बिना मूल्य जाना और जिसके लिये मैंने अपना सब कुछ स्वाहा करना अपना मन्तव्य समझा है

अर्थात् देशका सुधार और धर्म का प्रचार यह देश दुर्वचन
अन्धकार में पड़ा रह जाना।

धाङ्गध्रा करके गुजरात देश में एक राज स्थान है उसके सीमान्तवर्ती मच्छु काठा नदी के तट पर मोरवी एक नगर है वहां १८८१ वि० में मेरा जन्म हुआ, मैं उदीच्य ब्राह्मण हूं यद्यपि उदीच्य ब्राह्मण सामवेदी हैं, परन्तु मैंने शुक्ल यजुर्वेद पढ़ा था।। स्वकथित जीवन चरित्र पृ० १।।

अब विचारिये, चाहिये कि स्वामी जी ने इतना अवश्य माना कि [illegible] परन्तु यह नहीं कहा कि मेरे गुण कर्म से ब्राह्मण [illegible] कौन हूं। हे सम्बन्धी मुझे यों पकड़ ले जाते, मैं यों [illegible] हो जाता, यों मेरा उद्देश्य जो रह जाता, और यों देश सुधार और सुधार नहीं हो पाता, इत्यादि कारण बताकर सम्बन्धी जनों से पत्रादि लगाने का मनसूबा तो इस वृद्धावस्था में भी प्रकट की परन्तु कर्ण के "सूतो वा सूतपुत्रो वा" इत्यादि श्लोक के अनुसार उत्तर पत्र भी नहीं दिया। इससे कैसे चित्त में तो यह अभिलाषा घर किये हुए है कि जन्म से ब्राह्मण होने का महत्व किसी तरह मारा न जाय. अपनेको जन्म से ब्राह्मण सिद्ध करने के लिये ही तो आपने यह व्याख्यान दिया है, जैसा कि इस लेख से प्रकट है।

"स्वा० दयानन्द सरस्वती को चाहे कोई कापड़ी कहे या वे कापड़ी हो हों, परन्तु हम तो उनको गुण कर्म के अनुसार ब्राह्मण ही मानेंगे" ऐसा चाहे स्वा० अनुभवानन्दजी अपने व्याख्यानों में कहते रहें, परन्तु स्वा० दयानन्द सरस्वती ने तो यह उत्तर न देकर बड़े परिश्रम से अपने को जन्म से ब्राह्मण सिद्ध करनेका कष्ट उठाया है।

(२) 'शर्म ब्राह्मणस्य, वर्म क्षत्रियस्य गुप्तेति वैश्यस्य।

अर्थात् देव ब्राह्मण हो तो देव शर्मा, क्षत्रिय हो तो देव वर्मा, वैश्य हो तो देव गुप्त, और शूद्र हो तो देवदास, इत्यादि बालक का नाम धरे। (संस्कार विधि पृ० ६८।६९)।

यहां जन्म से ही वर्णों का भेद स्वामीजी ने माना है। यदि कोई बालक ब्राह्मण हो तो शर्मान्त, क्षत्रिय हो तो वर्मान्त, वैश्य हो तो गुप्तान्त, और शूद्र हो तो दासान्त नाम रक्खे। ये वर्ण भेद बालक में ही कैसे होगये।

अभी तो उसके कुछ भी गुण कर्म नहीं बदले हैं। शर्मान्त आदि नामको आचार्य कुलमें रखने चाहिये थे। जहां गुण कर्मानुसार आचार्य विद्याध्ययन के अनन्तर ब्रह्मचारी को वर्ण प्रदान करता है।

(२) "अष्टमे वर्षे ब्राह्मणमुपनयेत्, एकादशे क्षत्रियं द्वादशे वैश्यं आषोडशात् ब्राह्मणस्यानतीतः कालः आद्वाविंशात् क्षत्रियस्य आचतुर्विंशात् वैश्यस्य, अत ऊर्ध्वं पतितसावित्रीका भवन्ति (आश्व० गृह्यसूत्रम्)

अर्थात् जिस दिन बालक का जन्म हुआ हो अथवा जिस दिन गर्भ रहा हो उससे ८ वें वर्ष में ब्राह्मण के, जन्म वा गर्भ से ग्यारहवें वर्ष में क्षत्रियके, और जन्म वा गर्भसे बारहवें वर्ष में वैश्य के, बालका का यज्ञोपवीत करे। तथा ब्राह्मण के १६, क्षत्रिय के २२, और वैश्य के बालक का २४, वर्ष से पूर्व २ यज्ञोपवीत कराना चाहिये। यदि पूर्वोक्त काल में इनका यज्ञोपवीत नहो तो ये पतित माने जावें। (संस्कार० पृ० ८३) यहां भी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य में भेद रक्खा गया है। कि वे क्रम से ८

तथा ११ और बारहवें वर्ष में यज्ञोपवीत ग्रहण करें। यदि जन्म से वर्ण व्यवस्था स्वामी जी नहीं मानते थे, तो ऐसी व्यवस्था नहीं करते अथवा यज्ञोपवीत धारण करने के पीछे जो कोई गुण कर्मानुसार शूद्र होजाता तो उसकी जनेऊ उतारने की व्यवस्था कर देते। स्वा० जी ने तो यहां तक लिखा है कि ब्राह्मण आदि वर्ण यज्ञोपवीत न लेने पर क्रम से १६। २२। २४ वर्ष पीछे पतित होजाते हैं और शूद्रों के यज्ञोपवीत का अधिकार नहीं है, और भी लिखा है।

" ब्रह्मवर्चसकामस्य कार्यं विप्रस्य पञ्चमे
राज्ञो बलार्थिनः षष्ठे वैश्यस्येहार्थिनोऽष्टमे। २—३७

अर्थात् जिसको शीघ्र विद्या बल और व्यवहार करने की इच्छा हो तो ब्राह्मण के लड़के का जन्म वा गर्भ से पांचवे क्षत्रिय के छठे और वैश्य का आठवें वर्ष में यज्ञोपवीत करें। (संस्कार विधि पृ० ८६) स्वामी जी ने यहां प्रत्येक वर्ण को शीघ्र उन्नति करने के लिये इस प्रकार यज्ञोपवीत ग्रहण करना बताया है, परन्तु शूद्र को आगे उन्नति के लिये भी यज्ञोपवीत धारण करना नहीं लिखा। इससे स्पष्ट है कि अपने २ वर्ण के क्रमानुसार ही उन्नति करने के लिये यज्ञोपवीत लेनेका स्वामी जी ने विधान किया है।

(५) " वसन्ते ब्राह्मणमुपनयेत् ग्रीष्मे राजन्यं

शरदि वैश्यं सर्व कालमेके (शत० ब्रा०) ब्राह्मण का वसन्त क्षत्रिय का ग्रीष्म और वैश्य का शरद् ऋतु में यज्ञोपवीत करें" (संस्कार० वि० पृ० ८७) यहां भी जन्म से ही वर्ण भेद के अनुसार काल भेद किया गया है।

(६) पयोव्रतो ब्राह्मणो यवागूव्रतो राजन्य: आमिक्षाव्रतो वैश्यः (शत० ब्रा०) जिस दिन बालकका यज्ञोपवीत करना हो उससे तीन दिन अथवा एक दिन पूर्व तीन वा एक व्रत बालक को करना चाहिये । इन व्रतों में ब्राह्मण को एक बार वा अनेकबार दुग्धपान करे, क्षत्रियका लड़का यवागू (खिचड़ी) तथा वैश्य का लड़का शिखरन पीकर व्रत करे (संस्कार वि० पृ० ८४) यहां व्रतके भोजन में भी जन्म के वर्णों भेद से भेद किया गया है । क्योंकि अभी बच्चे के वर्ण का पता नहीं है कि किस वर्ण में गुणकर्मानुसार मिलाया जाय । इससे यह उपदेश जन्मसे वर्ण मानकर ही किया जारहा है । इसके अतिरिक्त व्रत करना तो सनातन धर्म का सिद्धान्त है, उसका भी स्वामीजीने साथ ही निर्देश कर दिया ।

(७) स्वामीजीने अपने यजुर्वेद भाष्य में "नृत्याय सूतम्" इत्यादि मन्त्रका भाष्य करते हुए कहा है कि—

"नाचनेके लिये क्षत्रियसे ब्राह्मणीमें उत्पन्न हुए सूतको उत्पन्न कीजिये ।" (यजुर्वेद ३० । ५)

क्या आर्य समाज में भी भिन्न २ वर्णों के माता पिताके होने पर जन्म से ही वर्ण संकर उत्पन्न होसकता है । यदि ऐसा है तो कहना होगा कि बालक का जन्म समय में ही माता पिता के वर्णों से सम्बन्ध होजाता है । और स्वामीजी जन्मसे वर्ण व्यवस्था मानते थे, इसके सिद्ध करनेके लिये यह एक ही प्रमाण पर्याप्त है ।

(८) स्वामीजी ने एक चिट्ठी चौबे कन्हैया लालको लिखी है कि "कायस्थ अम्बष्ठ हैं शूद्र नहीं" स्वामीजी ने यहां भी वर्ण जन्मसे ही माना है । क्या कभी भी कायस्थ शूद्र नहीं हो

इसके लिखने की आवश्यकता ही नहीं रहजाती। इसलिये हम सत्यार्थ प्रकाश के एकादश समुल्लास के अन्त में लिखी हुई पीढ़ियों को पुराणों से मिलान करके विस्तार भय से यहां नहीं लिखते हैं। स्वामीजी ने यह पीढ़ियां दो समाचार पत्रों से उतारी है, परन्तु उस समाचार पत्रके लेखकों ने वे कहांसे ली यह पाठक अनुमान कर सकते हैं। हम ऐसे हेतुवाद लिखकर भी पाठकों का समय व्यर्थ करना नहीं चाहते कि विवाह संस्कार में अरुन्धती दर्शन (सं० वि० १७६) पौराणिक सिद्धान्त है। जिस तरह पातिव्रत्यके प्रभाव से वशिष्ठ ऋषि के साथ २ अरुन्धती भी नक्षत्रता को प्राप्त हुई, उसी प्रकार वधू को चाहिए कि पातिव्रत्य धारण करे। अन्यथा अरुन्धती दर्शन का उद्देश्य ही क्या हो सकता है। सम्भव है आर्यसमाजी कोई ऊंट पटांग कल्पना करलें, परन्तु अप्रामाणिक कल्पना का आदर नहीं होसकता। पुराणों के प्रक्षिप्त भाग से स्वामीजी सहमत नहीं थे, यह होसकता है।

अब तक सनातनधर्म और आर्यसमाज का जिन सिद्धान्तों में भेद था उनकाही दिग्दर्शन कराया गया है, परन्तु जिन सिद्धान्तों में कोई मतभेद नहीं है, वे यहां नहीं दिखाये गये और न उनका यहां दिखाना आवश्यक ही है यह सब जानते हैं कि जितने भी संसारमें अन्यमत जैन, बौद्ध, पारसी, ईसाई, मुसलमान, आदि हैं, वे न तो वेद, उपनिषद्, गीता स्मृति, आदि ग्रन्थोंको ही प्रामाणिक मानते हैं और न ऋषि, मुनि, पंचयज्ञ, षोडश संस्कार गायत्री आदि मन्त्रोंका ही कुछ महत्व स्वीकार करते हैं। परन्तु आर्यसमाजसे ये ही क्या, करीब २ सारी बातें मिलती हैं, फिर मेरी समझ में नहीं आता कि बहुत से सनातनधर्मोपदेशक यह कहने क्यों नहीं लज्जित होते कि समाजियों

से नमाज़ी अच्छे हैं। जहां स्वा० दयानन्द सरस्वती भी सना-
तनधर्मी थे वहां आर्यसमाज भी सनातनधर्मका ही एक अंग है।
जो सनातनधर्मी आर्यसमाज को उजाड़ना चाहते हैं, या जो
आर्यसमाजी सनातनधर्म का नाम शेष करने की चिन्ता में है,
वे दोनों ही उस गुरुके उनही चेलों की तरह अज्ञानी हैं, जो
एक गुरुके दोनों पैरों का परस्पर झगड़कर एक दूसरे पैर को
पीटने लगे थे। हिन्दुजातिको नष्ट करने की शक्ति न तो
ईसाइयोंमें ही है, और न मुसलमानों में। यह घर तो आज
अपने घरके चिराग से ही जल रहा है। ईश्वर न करे यदि
यह हिन्दुजाति कभी नष्ट होगई, तो इसका कारण भावी
लेखक आर्य और सनातनियों की परस्पर की लड़ाई को ही
लिखा करेंगे।

हमें शोक तो इस बात का है कि आदि सृष्टि से अपने धर्म
को प्राचीन मानने वाले सनातनियों ने यह टेका लेलिया है कि
समयने चाहे कितने ही उलटफेर खाये हों परन्तु हमारी जाति
में किसी भी कुरीतिने समावेश नहीं किया है। अतएव हमें न
किसी सुधार की आवश्यकता है, और न कुछ सुधारकों की
सुनना चाहते हैं। पक्षपाती मनुष्य चाहे ऐसा कहदें, परन्तु जो
सत्य की खोज के लिये भटकते हैं, उनके यहां ऐसी बातों का
कुछ मूल्य नहीं है। कौन कह सकता है कि हमारी अयुक्त बातें
भी सारी ही ठीक हैं और दूसरे की युक्तियुक्त भी अनुचित
हैं। हमें जहां सनातनधर्मानुसार खाले हृदय से अपनी बातों
पर विचार करना चाहिये, वहां दूसरों की बातों को भी सुन
कर उनकी सत्यता पर दृष्टिपात करना योग्य है। कौन कह
सकता है कि हमारे सिवाय दूसरों को सचाई सूझ ही नहीं
सकती। यदि आजकल के समान सनातनी होते तो हमारे

यहां भगवान् बुद्ध को अवतार अथवा आचार्य पदवी प्राप्त होती इसमें सन्देह है ।। हम तो सनातनधर्म का महत्व ही यह समझते हैं कि वह सबके धर्म पर स्वतन्त्रता और उदारता से विचार करता है । इस धर्म में जहां आचार की परतन्त्रता है वहां विचार की अनुपम स्वतन्त्रता मिली हुई है। आज जो संकुचितपन इस धर्म के अनुयायियों ने प्रकट कर रखा है उसे देखकर लज्जा से शिर नीचा होजाता है। कहां तो वह समय था कि जब वेद पर भी प्रश्न करने वाले ऋषि मुनि माने जाते थे। कौत्स मुनि ने वेद पर अनेक प्रश्न किये हैं। निरुक्त में लिखा है कि "अनर्थका हि मन्त्रा इति कौत्सः (निरुक्त १।१५) अर्थात् मन्त्र अनर्थक होते हैं यह कौत्स का मत है। जिसका यास्काचार्य ने अपने निरुक्त अध्याय १ खण्ड १६ में खण्डन किया है, और कहं आजकल का कराल कलिकाल। कि जरा यह कह देने पर कि शास्त्रों में कन्योपनयन का विधान है, सनातनधर्म की वेदी से बाहर कर दिया जाता है। शुद्धि और अछूतोद्धार पर बोलने वाले पापी समझे जाते हैं। यदि किसी ने विधवा विवाह पर मुंह खोल दिया तो उस पर विधर्मी होने की पक्की छाप लग जाती है। हमने ऐसा तो मुसलमानों में ही सुना है कि जरा किसी ने स्वतन्त्रता से धर्म पर विचार प्रकट किये कि उस पर "कुफ्र" के फतवे निकल जाया करते हैं। यही हानिकारी भाव सनातनधर्म में भी कहीं से शुरू होगया। हमारी सम्मति में तो इसका एक मात्र कारण वे निर्बुद्धि सम्पत्ति शाली हैं जो अपने संकुचित विचारों को द्रव्य द्वारा पण्डितों से सिद्ध कराया करते हैं। उन पण्डितों की तो चर्चा ही क्या है जो यजमान के अप्रसन्न हो जाने के डर से आत्म हत्या करते रहते हैं। जिस सनातनधर्म के सघन उपवन को

इस्लाम की चमकती हुई तलवार न ीं काट सकी, उसको आज हमारे अन्धे उदर पात्र एवं स्वार्थी विद्वान स्वयं श्मशान बना रहे हैं। आज श्रीकृष्ण की सन्तान काबुल में मुसलमान हो चुकी (टाडराजस्थान भाग २ अध्याय ३) और सात करोड़ के करीब भारत की ऋषि सन्तान भी यवन मत स्वीकार कर चुकी है। करोड़ करीब ईसाई होगये और करोड़ों रु० अमेरिका आदि देशों से ईसाई बनाने के लिये आरहे हैं। यह सुनकर हृदय फटने लगता है कि प्रति मनुष्य एक रु० मिलने पर अनेक अछूतों को ईसाई बना देने वाले बहुत हिन्दू कुल कलङ्क हममें ही विद्यमान हैं। आज ब्राह्मणों ने धर्म को अपनी उदरदरी भरने का साधन मात्र समझ रखा है। ब्राह्मणों के पूर्वजों ने धर्म और वेद को अपना कोष समझा था, इसलिये उन्होंने धनके साधनों को स्वीकार ही नहीं किया, परन्तु आज उनकी सन्तान साधन न रहने पर भी योग्य अयोग्य धर्म अधर्म सब मार्गों से धन कमाने की चिन्ता में निमग्न है। जब कोई हिन्दू जाति के सुधार का ढंग प्रस्तुत करता है और उसमें यदि ब्राह्मणों की उदर दरी का प्रश्न आजाता है, तो सब ब्राह्मण चीख और चिल्ला उठते हैं, और जाति की उन्नति के मार्ग को कण्टकाकीर्ण बना देते हैं। मुफ्त के दान मिलने से ब्राह्मणों में परस्पर फूट घर कर गई है जिसको मुफ्त का माल मिल जाता है तो दूसरे लालची ईर्ष्या वश उसके शत्रु बन जाते हैं। परिश्रम करके खाने वाली जाति में फूट नहीं पड़ती है। यह जाति केवलदान और भीख मांग कर पराधीन रहने में मग्न है। साधु सम्प्रदाय की तो कथा ही क्या है, जो चोर व्यभिचारी हिंसक पापी गपोड़ी जुआरी आदि सब कुछ करने वाले मनुष्यों के छुपने की एकमात्र कन्दरा है। आज क्षत्रिय कुलतिलक नहीं

रहे। बड़े २ राजा महाराजाओं का खयाल ही यह है कि हम प्रजा के रक्त चूसने के लिये ही ईश्वरने राजा बनाये हैं। मांस मदिरा ही हमारा परमधर्म है और इन्द्र के समान परीस्तान बनाकर केलि करना ही हमारा अन्तिम पुरुषार्थ है। छोटे मोटे क्षत्रिय नशेका पीनक में मस्त रहते हैं। क्षत्रियों की इस दुर्दशा से भारत धन्य क्षत्रिय ललनाओं के सतीत्व पर जो आ बनी है वह क्षत्रिय जाति से छुपी नहीं है। वैश्य जाति ने आज कल सबके सुधार का बीड़ा उठाया है। आप घृत में चरबी बेचकर धन इकट्ठा करें। दिवाले निकाल कर सबका रु० हजम कर जाय परन्तु सब वर्णोंके सुधारक बनने की लालसा बुरीतरह बेकरार कर रही है, चाहे कहीं विधवाओं की दुर्दशा हो, अनाथ बच्चे ईसाई मुसलमान होरहे, गायों के करुणा क्रन्दन से आकाश गूंज उठा हो, हिन्दू जातिकी नौका डूबरही हो, परन्तु उनका रु० उनके देशमें ही जायगा जो खुशामदी टट्टू हैं। आज इनके अपात्र दानने बहुतसे लोगों को हरामखोर बना दिया है, मूर्ख रहना और नामपर रु० दान देना यह इनका स्वभाव बन गया है, परस्पर के दोषों के कारण ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, आपस में एक दूसरे की निन्दा करने में तत्पर हैं। सारे देशके नाशका दोष एक दूसरे पर मढ़ना है। इस आन्तरिक आगसे वर्णाश्रम धर्म बच नहीं सकता। शूद्रोंने अलग क्रान्ति करदी है। उन्हीं में आज ईसाई मिश्नरियों के गुप्तदूत पहुंच चुके हैं। राज्याधिकार के लोभ में फंसे हुए इनके अनेक मनुष्य हिन्दुधर्म को छोड़ने केलिये सन्नद्ध हैं। इन्हें यह ध्यान नहीं है कि यदि ईसाई राज्य न रहा तो तुम्हारी भी बड़ी दुर्दशा होगी। जो शाही ज़माने में उन्नतिके लालचसे मुसलमान हुए थे अब उनके पास मिट्टीके हांडी कूंडी और बदनों के सिवाय कुछ नहीं है। क्या किसीके

अत्याचार से चिढ़ कर तथा लालच में फंसकर धर्म छोड़ देना परलोक में हितकारी होसकता है । अभी तक शूद्रोंके नाम से इतिहास कलङ्कित नही हुआ है। परन्तु अब आशा होचली है कि आजकलके अज्ञानी अनेक शूद्र फूटका बीज बोकर भारत के भविष्य इतिहास में कलङ्कित होने से न बचेंगे । इन भोले भाले भाइयों को दोष नहीं है इन में इनकी ही जाति के छुपे हुए ईसाई महात्मा बनकर घुस पड़े हैं । और इनके सामने हिन्दुओं के अत्याचारों के फोटो खैंच कर इनको बहकाते फिरते हैं । परन्तु हिन्दुधर्मके श्रद्धालु अछूत भक्तों को घबड़ाना नहीं चाहिये क्योंकि अब उनकी विपत्ति के दीपक का अन्त होचला है ।

आर्य समाजियों से मेरा कुछ कथन नहीं है, क्योंकि उन्होंने समझ रक्खा है, कि जब हम आर्यसमाजी ही बनगये अब और करना बाकी रहही क्या गया । न हमारा कुछ श्रोतव्य है, और न कर्तव्य, पर आर्य बन जानेसे ही अब बेड़ापार होचुका, और सारे सुधार कर लिये । सब संसार पागल है, और हम ही दुनियाके एक तुर्कोंके बुद्धिमान् हैं । अपने को सत्यके पक्षपाती कहते हुए भी निरे हठीले होते जाते हैं । न किसी की सुनते हैं और न किसी बात पर ठण्डे हृदय से विचार ही करते हैं । काम चाहे उतना न करें, परन्तु वावेला इतना मचा देते हैं कि बस मानो शोर और गुलसे ही जाति की रक्षा होजावेगी । इनका खयाल है कि सिवाय आर्यसमाज के संसार भरके धर्म सर्वथा निरे पोलकी पिटारी हैं । श्री कृष्णकी निन्दा कर देना तो इनके बायें हाथका खेल है, हाल में ही ता० २१ अगस्त सन् १९२७ के अर्जुन में "इस बेहूदगी को बन्द करो" यह शीर्षक देकर यह लेख लिखा है ।

"स्यालकोट से समाचार आया कि किसी आर्यसमाजीने "श्रीमद्भागवतलीला" नामका पैम्फलेट लिखकर श्रीकृष्ण की निन्दा छापी। जिसका उत्तर सनातनधर्मियों की ओर से दिया गया। हम उत्तर देने वाले को दोष नहीं देंगे। हमारा तो कुछ शिकायत है वह उस आर्यसमाजी महाशय से है जिसने अपने पूर्वपुरुषाओं के सम्बन्ध में कुवाक्य लिख कर लेखनी को अपवित्र किया। ऐसे लोगों को शर्म आनी चाहिये जो आर्य समाज का नाम लेते हैं, और ऐसी अशिष्टता भरी किताबें लिखते हैं, वह आर्यसमाज के मित्र नहीं शत्रु है। आर्य समाज को चाहिये कि अपना बलवान् शब्द उठा कर महा पुरुषों के चरित्र को कलङ्कित करने वाले ऐसे लिक्खाड़ों की लेखनी तोड़दे, ऐसे लोग आर्यसमाज को लज्जित कराते हैं इसके अतिरिक्त अनेक आर्य समाजी न भक्ति मार्ग को समझते हैं, न ज्ञान मार्ग को परन्तु हुज्जत करने में सब के सब एक नम्बर हैं अपनी लचर दलील को भी बड़े प्रेमसे सुनाते हैं। परन्तु दूसरे की बात कान पर आकर रपट जाती है, मानो सच्चाई समझना आर्य समाज के ही हिस्से में आया है। जहां स्वा० दयानन्द सरस्वती प्राचीन आदर्श नियत करना चाहते थे। उसके स्थान में नवीन सभ्यता की ओर बड़ी तेजी से सरपट लगा कर भी अपने को भारत के सुधारक मानते हैं। आज स्वा० दयानन्द सरस्वती के कथन पर विश्वास नहीं है। उनके कथन को भी अपने खयाल के अनुसार ही खैंचने का बुरा प्रयत्न किया जारहा है, समाज के किसी व्यक्ति द्वारा कीगई गलती को अन्त तक निभाना चाहते हैं। चाहे उससे देश और जाति का कुछ भी नुकसान होजाय। पं० लेखरामजी एक जल्द बाज़ मनुष्य थे उन्होंने जो स्वामीजी का जीवन चरित्र लिखा है उसमें यह

लिख दिया कि 'स्वामीजी को उनके रसोइये धौल [illegible] (जग-न्नाथ) ने विष दे दिया था। और स्वामीजी ने उसको [illegible]) रु० देकर नैपाल भगा दिया इसी असत्य घटना का [illegible] आज तक ढोल पीटा जा रहा है- पं० लेखरामजी पुलिसके एक [illegible] कर्मचारी थे। उनके ऊपर जब किसी मुकद्दमे में प्रमाणों का तकाजा [illegible] करता था तब फौरन किसी को [illegible]कर मिस्ल को मुकम्मिल बना दिया करते थे। आर्य प्रतिनिधि सभा का ऊपरसे जब स्वामीजीके जीवन चरित लिखनेका तकाजा आया उसी अभ्यास वश फौरन धौल मिश्र (जगन्नाथ) को फांस कर जीवन चरित को मुकम्मिल समाप्त कर दिया, परन्तु यह सब जानते हैं कि पं० लेखरामजी न तो स्वामीजी की जन्म भूमि का ही पता लगा सके, और न उनके पिताका नाम ही मालूम कर सके थे ये दोनों ही बातें उन्होंने अपने जीवन चरित में गलत लिखी है। स्वामी दयानन्द सरस्वती की यह नीति ही न थी कि वे किसी अपराधी को बिना दण्ड मुक्त करदें। वैदिकप्रेसके रु० खा जाने वाले किसी कर्मचारी पर मुकदमा दायर करने केलिये इलाहाबाद किसी अपने व्यक्ति के पास स्वामी जी ने लिखा था कि अपराधी को छोड़ना नहीं चाहिये दावा दायर करदो। शायद यह पत्र "ऋषि दयानन्द के पत्र व्यवहार" नामक पुस्तक में दर्ज हो। फिर इस तरह से विष देने वाले आततायी को ५०) रु० देकर भगा देने का गपोड़ा क्या मायने रखता है! यदि विष देनेवाले को भी ४०) रु० देकर स्वामीजी ने भगा दिया तो स्वा० श्रद्धानन्द जी के कातिल को ४०) रु० देकर आर्य समाज क्यों नहीं स्वामीजीका अनुकरण करता है यदि ४०) रु० देकर अपने रसोइये को स्वामीजी भगा [illegible]

उसका अर्थ यही समझना चाहिये था कि यहां की पुलिस मेरे विष देने वाले सच्चे अपराधी को तो नहीं पकड़ेगी और यदि यह विषकी घटना खुल गई तो इस रसोइयेको फांसी के तख्ते पर लटका देगी । इससे इसको रु० देकर भगा देना चाहिये क्योंकि यह निर्दोष है । परन्तु स्वामीने मृत्यु समय तक इस विषय में कुछ नहीं कहा और इन्होंने उनके मरे पीछे यह "मदारीका पेड़" खड़ा करलिया । बात तो सच यह है कि न तो स्वामीजी को विषही दिया गया और न स्वामीजी का रसोइया धौलमिश्र (जगन्नाथ) कहीं नेपाल ही भागा । वह तो सन् १९२५ ई० तक "शाहपुरा" में जीवित था, स्वा० सत्यानन्द जीने भी अपने लिखे जीवन चरित में अच्छा गपोड़ा घड़ा है कि वह जगन्नाथ सं० १९७० वि० तक साधु हुआ गंगा तटपर फिरा करता था और उसे लोगोंने ब्रह्म हत्यारा लक्ष्य कर लिया था । धौलमिश्र शाहपुरा स्टेट का रहने वाला था इस लिये हमने इसकी बाबत महाराजा शाहपुराको लिखा कि इस घटना का क्या रहस्य है । उनका जो पत्र आया वह नीचे उद्धृत किया जाता है, और साथ ही धौलमिश्र (जगन्नाथ) के बयान भी लिख दिये हैं, वह पत्र इस प्रकार है ।

॥ ओ३म् ॥

श्रीमान शास्त्री जी साहब की सेवा में सादर नमस्ते !

आपका पत्र हुजूर में मालूम हुआ उत्तर में निवेदन है के जन्मशताब्दी के पत्रों द्वारा विरोध करने पर धौलमिश्रका बयान लिया जाकर पूज्य श्रीस्वामी श्रद्धानन्दजी की सेवा में भेजागया और यह लिखा गया के रसोइयेका बयान लिया जाकर आप की सेवा में भेजा जाता है । श्रीमान राजाधिराज साहब का भाषण जो शताब्दी महोत्सव पर हुआ है, वह निरा-

धार नहीं है। अगर आपकी आज्ञा हो तो उपरोक्त रसोइये को राज के खर्च से आपकी सेवा में भेजा जासकता है। श्रीमानजी का विचार है के यदि स्वामीजी महाराजके जीवन की महत्वता उनको विष दिये जाने में है तो इस बातका कोई विरोध नहीं परन्तु रसोइये द्वारा विष दिया जाना सिद्ध होने में कठिनाई है। सत्यको छुपाना नहीं चाहिये इसलिये जो बात मालूम हुई है। वह सेवा में प्रेषित है जो उचित समझें करें। धौलमिश्र के बयान में अली मर्दान डाक्टर के दवादेने में तो सन्देह होता है और कोई स्थान सन्देह का नहीं मिलता उस बयान की नकल आपके पास भेजा जाता है। रसोइये को ४०) रु० देकर नेपाल भेजना चित्रावली में दर्ज है। सो न तो ४०) रु० रसोइया को दिये गये और न वो नेपाल भागा जो उसके बयान से मालूम होता है। और यहां आने पर उस रसोइया ने इस रियासत की नौकरी जब तक वो जिन्दा रहा की, और अब वो फौत होगया। मरा जब तक वो राजके मामूली नौकरोंमें नौकर रहा, और उसकी हालात मामूली थी श्रीमानजी का तो अब भी यही फर्माना है के श्रीमान स्वामीजी महाराज के जीवन की महत्वता जिस में हो उसमें श्रीमान को कोई विरोध नहीं ता० १६।६।२७

पं० रामनिवास जोसी

मन्त्री आर्यसमाज शाहपुरा स्टेट।

॥ ओ३म् ॥

नकल बयान धौल मिश्र वाके २५/४/२५ १६।

प्रश्न—आप स्वामी महाराज के साथ रसोई बनाते थे?

धौ०—जी हां ।

प्र०—आप कब से स्वामीजी महाराज के साथ कैसे हुये ।

धौ०—जब स्वामीजी महाराज यहां (शाहपुरामें) पधारे और कोठी ठहरे थे एक गासीलालजी बोहरा स्वामीजी के यहां पंखा खींचता था मुझे उनके दर्शनों को लेगया । उस समय स्वामी जी हौज़ में स्नान कर रहे थे । स्वामीजी शरीर के बड़े मोटे तगड़े थे वहां गासीरामजी ने स्वामीजी से अर्ज किया के यह आदमी रसोई अच्छी बनाता है और ईमानदार है इसको रखले स्वामीजी ने फर्माया कल आना, मैं दूसरे दिन गया तब से रहने लगा ।

प्र०—पहले कौन रसोइया था उसे क्यों निकाल दिया और वह कहां गया ।

धौ० मुझे मालूम नहीं कौन था गासीरामजी कहते थे के वह चुराकर घी मलाई वगैरः खाता था इससे स्वामीजी महाराज नाराज़ थे मुझे मालूम नहीं वह कहां गया ।

प्र०—वहां से स्वामीजी कहां गये ।

धौ०—जोधपुर से मरदानेजी चारण (शुद्ध नाम उमरदान जी) यहां बुलाने को आये तो स्वामीजी वहां पधारे मैं भी साथ ही गया ।

प्र०—स्वामीजी के साथ और कौन २ था ।

धौ०—स्वामीजी मोते बहुत कमथे बराबर लिखाते रहते थे इस लिये उनके साथ कई आदमी लिखने पढ़ने वाले रहते थे एक मोदी सामान लाने को व एक नोकर चौका बर्तन करने वाला भी रहता था ।

प्र०—तुम्हें किसी का नाम याद है ।

धौ०—एक ब्रह्मचारी रामानन्द थे, और का नाम याद नहीं।

प्र०—स्वामीजी जोधपुर में कहां ठहरे थे।

धौ०—फैजुलाखांकी कोठी में।

प्र०—स्वामीजी बीमार किस प्रकार हुये।

धौ० स्वामीजी जोधपुर पधारे तो आश्विन का महिना था, वे रात को नित्य छतपर सोते थे, एक दिन पित्त होगया, या क्या जाने क्या हुआ, प्रातः जल्दी ही उठकर पानी पीकर उलटी करने लगे। जिससे छातीमें दर्द होने लगा एक वैद्यने गिलास लगाया जिससे कुछ आराम मालूम होने लगा यहां नोकर चाकर छड़ी दार चोबदार बहुत रहते थे जिनसे यह खबर श्री जी हजूर दर्बार केपास पहुंची थ डी ही देर बाद श्री दर्बार एक डाक्टर अलीमर्दान को लेकर मोटर में वहां पधारे और डाक्टरकी दवा लेने को अर्ज किया स्वामीजी महाराज ने पहले तो इन्कार किया लेकिन जब दर्बार ने तारीफकी तो दवा लेली बाद में दर्द बढ़ता ही गया फिर स्वामीजी आबू पधार गये।

प्र०—तुम भी साथ गये।

धौ०—मैं भी साथ गया।

प० जोधपुर में स्वामी जी के साथ जितने आदमी थे उन में से कोई भाग भी गया या सब साथ गये।

धौ० भागा कोई नहीं पहिले कलवा जाट चोरी करके भाग गया, था और वहां से कोई नहीं भागा जो स्वामी जी के साथ आये, वे सब साथ गये जो जोधपुर के थे, वे वहीं रह गये।

प्र०—रसोई बनाने वाला कोई और भी था, या तुम अकेले।

धौ०—मेरे सिवाय और कोई रसोइया नहीं था।

प्र०—स्वामीजी दूध कब २ और कैसा पीते थे।

धो०—स्वामीजी दूध दोनों वक्त प्रातः सायं पीते थे। कुछ साधारण गर्म कराते थे और कुछ मीठा भी डलवाते थे।

प्र० दूध कौन गर्म करता था।

धो०—इस काम पर कोई खास आदमी नहीं था, कभी मैं करता कभी उनके साथ का ही कोई दूसरा आदमी कर लेता।

प्र०—जिस रातको बीमार पड़े उसरात को किसने गर्म किया।

धो०—मुझ को याद नहीं।

प्र०—लेकिन वहां से भागा कोई नहीं।

धो०—नहीं भागा कोई नहीं।

प्र०—क्या बीमारी में भी दूध पीते थे।

धो०—नहीं बीमारी में खाली साबू दाना खाते थे।

प्र०—स्वामीजी हमेशा सुबह कब उठते थे और बीमार हुये उस दिन कब उठे।

धो० हमेशा तीन बजे उठते थे लेकिन जिस दिन बीमार उस दिन कुछ देर से उठे।

प्र०—कोई जोधपुर का भी रसोइया वहां था या नहीं।

धो०—जोधपुर का कोई रसोइया न साथ वहां रहा और न गया ही।

प्र०—आबू से स्वामीजी कहां गये।

धो०—आबू से स्वामीजी जब कुछ आराम नहीं मालूम हुआ तो अजमेर पधारे और भिनाय राजा की कोठी में ठहरे।

प्र०—अजमेर में कौन २ आये थे।

धो०—अजमेर में बहुत बड़े २ आदमी आये परन्तु मुझे उनका नाम मालूम नहीं।

प्र०—जोधपुर में स्वामीजी कभी महलों भी गये थे।

धौ०—स्वामी जी महाराज प्रातः काल घूमने जाया करते थे लेकिन जङ्गल में श्री हजूर दर्बारही अकसर स्वामीजी के पास कोठी परही पधारते थे मुझे जहां तक मालूम है स्वामीजी कभी महलों नहीं गये।

प्र०—श्रीदर्बार कोठी पर रोज पधारते थे ? और कब ?

धौ०—शामको घड़ी दिन रहते स्वामीजी कुर्सी पर विराजतेथे, उस समय चार २ पांच २ हजार आदमी आतेथे, और रात तक रहते थे स्वामीजी व्याख्यान देतेथे उस समय दर्बार भी पधारते थे कभी २ नही भी पधारते थे।

प्र०—कौन २ आते थे।

धौ०—मुझे नाम तो मालूम नही लेकिन बहुत लोग आते थे, दोका नाम मुझे याद है प्रतापसिंहजी व किसोरसिंहजी।

प्र०—राव राजा तेजसिंह जी भी आते थे।

धौ०—इस बात को ४०—४२ साल हुए मुझको याद नही रावराजा जी भी आते थे या नही आते रहे होंगे।

प्र०—स्वामीजी व्याख्यान में लोगों को फटकारते भी थे।

धौ०स्वामीजी महाराज सच्ची बात कह देते थे किसी का लिहाज या संकोच नही करते थे कई वहीं व्याख्यान में कहाथा कि तुम लोग सिंह होकर कुतिया के पीछे क्यों फिरते हो ऐसे ही किसी को भी फटकार देते थे।

प्र०—क्या तुमने आबू में या अजमेर में कहीं सुनाके स्वामी को विष दिया।

धौ०—मैंने कहा नही सुनाको स्वामीजी को विष दिया गया।

प्र०—तुम्हारी उमर उस समय कितने वर्ष की थी।

धौ०—मैं २० २२ सालका था।

प्र०—अजमेर में जिस दिन स्वामीजी का स्वर्गवास हुआ उस दिन किस प्रकार हुवा।

धौ०—स्वामीजी ने सवेरे ही बाल बनवाये और न्हाकर फूल माला गले में डालकर लोगों से कहा अब दिन में मुझ से कोई न मिलो शाम को स्महाल लेना, मैं अब अपना चित्त परमात्मा में थिर करता हूं, बाद अन्दर चले गये शामको देखागया तो शव मिला फिर विमान वगैरा बनाया गया और दूसरे दिन बाजार से गाती बजाते अर्थी निकली।

प्र०—फिर तुम लोगों ने क्या किया।

धौ०—सब अपने २ घर चले गये मैं भी यहां (शाहपुरे) चला आया और तब से यहां रहता हूं।

प्र०—तुम से पहले भी कोई ये बातें पूछने आया था।

धौ०—हां एक बंगाली बाबू आये थे और उन्होंने पूछा था मैंने येही बातें उनसे भी कही थी।

प्र०—अजमेर में तुमसे किसी ने पूछ ताछ नहीं की थी।

धौ०—नहीं। यहां किसीने कुच्छ नहीं पुछा।

प्र०—बंगाली बाबू कब आये।

धौ०—मुझे याद नहीं पर बहुत दिन हुये।

द० हिन्दी में भगवान स्वरूप जी
शर्मा न्यायभूषण

द० हिन्दी में रामनिवास शर्मा
उपमन्त्री आर्यसमाज
राज्य,शाहपुरा (मेवाड़)

इस उपर्युक्त पत्र और धौलमिश्र के बयान देखने से इस विषय में सन्देह ही नहीं रह जाता कि स्वामीजी को रसोइये ने विष नहीं दिया था। जब स्वा० श्रद्धानन्द जी को यह मालूम हुआ कि स्वामीको विष नहीं दिया गया तो उन्होंने भी वकील

पनेके चाल करके इस बातको गुमराह और कहा होगा कि स्वामी जी की मृत्यु का महत्व इस प्रकारकी घटना से ही है।

राजा साहबने ऊपर पत्रमें कहा है कि "श्रीमान् जी का विचार है कि यदि स्वामीजी के जीवन की महत्वता उनको बिगड़िये जाने में है तो इस बात का कोई विरोध नहीं" परन्तु क्या किसी को मृत्यु को महत्वपूर्ण बनाने केलिये किसी को कलङ्कित करदेना न्याय सङ्गत है और क्या विष से मृत्यु महत्वपूर्ण होसकती है। मेरे विचार में तो इस से अधिक कोई बुरी बात नहीं है कि किसी निरपराधी के मुख को कलङ्क की कालिमा से सृष्टि के अन्त तक के लिये लीप दिया जाय, इस बनावटी घटना से आर्यसमाज को जो सनातनधर्मियों से ग्लानि हो गई है वह देश और जाति के लिये भयानक है, और हिन्दूसंगठन का महान् अन्तराय है। इस लिये देश और जाति के काम में पुलिस और वकीलों के हथकण्डों की आवश्यकता नहीं है। आर्यसमाज को ऐसी गलती निकाल देनी चाहिये। इस विषय को यदि अधिक जानने की इच्छा हो तो राव राजा तेजसिंह जी का शताब्दीसम्मेलन के अनन्तर समाचार पत्रों में किये हुए आन्दोलन को देखना चाहिये,

अब पाठकों की सेवा में अन्तिम यही निवेदन है कि जब देश और कालानुसार हिन्दू सभ्यताकी रक्षाके लिये ही भगवान बुद्ध महावीरस्वामी शङ्कराचार्य श्रीनानकदेव स्वा० दयानन्द स० का आविर्भाव हुआ है, तब इस घोर सङ्कट के समय उन के अनुयायियों को आपस में शिर फुटौवल कर के अपनी प्राचीन सभ्यता का नाश नहीं करना चाहिये. सनातन धर्मियों को योग्य है कि वे परस्पर बर्गों के दोषोद्घाटनको छोड़ कर सत्य हृदय से एक दूसरेका सुधार करने का प्रयत्न करें, और निष्प

प्रकार प्राचीन काल में भगवान् बुद्ध तथा ऋषभदेव आदि धर्म की सेवा करने वाले आचार्यों का उदारता से आदर करते थे उस प्रकार ही हिन्दूसंस्कृति की रक्षा करने वाले महात्मा कबीर, श्रीनानक और स्वा० दयानन्दसरस्वती, का आदर करना सीखें। तथा हिन्दूसंगठन के लिये सब कुछ न्योछावर करनेकेलिये हर समय सन्नद्ध रहें हिन्दूधर्मके शत्रुओंनेहिन्दूधर्मके वेरान करनेके लियेसाधारण तय्यारियें नहीं की हैं यदि आपकी जातिका नाशहो गया तो जो उन ऋषि और मुनियोंने कष्ट सहन कर के आप के लिये अनुपम साहित्य का कोष छोड़ा है न जाने हाय, उस का क्या करेंगे, उस सुदर्शनधारी गीतोपदेशक श्रीकृष्णका नाम कौन लेगा उन पद्मिनी आदि पतिव्रताओं का गुण गान कौन करेगा जिन्हों ने धर्म के लिये फूलों के समान सुकोमल शरीर को अग्नि देवता को समर्पण कर दिया था। अब आलस्यमें पड़े रह कर समय खोने का समय नहीं है संगठन का शङ्ख बज चुका खड़े होजाओ। वेद भगवान् का उपदेश है कि--

समानी व आकूतीः समाना हृदयानि वः

समानमस्तु वो मनो यथावः सुसहासति ॥

यथा वः सुसहासति (ऋग्वेद १० । १९१ । ४ ।

अर्थात्- तुम्हारा अभिप्राय एक समान हो तुम्हारे अन्तःकरण एक समान हो और तुम्हारा मन एक समान हो जिससे तुम्हारी सङ्घशक्ति की दृढता होगी । ऋग्वेद की समाप्ति में इस मन्त्र के आने के कारण इस में 'यथावः सुसहासति' इस पद की द्विरुक्ति की गई है हमनेभी इसग्रंथ की समाप्तिदिखलाने के लिये द्विरुक्ति लिखदी है।

वेदवस्वङ्कचन्द्रे ऽब्दे वैक्रमे मासि चाश्विने
गुरुवारे सिते पक्षे विजयादशमीतिथौ ॥ १ ॥
सम्पतुरामात्मजातेन रामदुर्गनिवासिना
इदं गङ्गाप्रसादेन शास्त्रिणालेखि पुस्तकम् ॥ २ ॥
प्रेक्षावतां निरीक्ष्येदं हिन्दूमङ्गठने शुभे
बलीयसी प्रवृत्तिः स्यात्कृतकृत्यो मम श्रमः ॥ ३ ॥
मच्चित्ताऽचिन्तितः खेदो यदिस्यात्कस्य चेतसि
दया वशम्वदैः प्राज्ञैः क्षन्तव्योऽयं जनस्तु तैः ॥ ४ ॥

इति श्रीदयानन्दसरस्वतीनिजमतं समाप्तम्

तत्सद् ब्रह्मार्पणमस्तु ।

लाला मुन्शीराम के प्रबन्ध से मार्तण्ड प्रेस कूंचा बुलाकी बेगम
देहली में मुद्रित ।

पुस्तक मिलने का पता—
श्रीगौरीशङ्कर विद्यालय,
मैदान परेड दिल्ली।

ॐनमस्ते

प्रेमोपहारः

यज्ञे पशुवधो वेदविरुद्धः ।

दृते दृंह मा मित्रस्य चक्षुषा
सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम् ।
मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे ।
मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे ॥ —यजुर्वेदः

संपादकः प्रकाशकश्च

श्रीनरदेवशास्त्री, वेदतीर्थः, ज्वालापुरीयः ।

सहायकः

श्रीलक्ष्मीशंकरमिश्रशास्त्री, भाग्यनगरीयः ।

द्वितीयवारम्	वैशाखी पूर्णिमा	मूल्यम् —
१०००	संवत् १९९३	पशुबलिदाननिरोधः पशुबलिदानविरोधश्च

ॐ तत्सत्

अवतरणिका

कालिकामन्दिरद्वारि, कालिकातापुरे किल ।
हन्यन्ते पशवो भूरि, प्रत्यहं बलिदायकैः ॥१॥

जयपत्तनवासस्य, रामचन्द्रस्य शर्मणः ।
तन्निवृत्त्यै प्रयासोऽभून्महान् सत्याग्रहात्मकः ॥२॥

तेन बङ्गप्रदेशे चान्यत्र देशे च तत्कृतः ।
जनतायां समुत्पन्नः, क्षोभः कलकलात्मकः ॥३॥

महामना मालवीयो, गत्वा तत्र पुरे द्रुतम् ।
वारयामास तं सत्याग्रहं योऽभूत्पुराकृतः ॥४॥

स्वयञ्च पुनरारब्धो, बलिदानविरोधतः ।
प्रचारस्तेन तत्रैव, मालवीयेन धीमता ॥५॥

स्वकीयनिर्मिते ग्रन्थे, बलिदानाभिधे तथा ।
विचारश्चात्मनः सम्यक्, प्रस्तुतो विस्तरेण वै ॥६॥

विदुषां भारतीयानां, सम्मतिस्तेन प्रार्थिता ।
तत्र तत्पठनान्मेऽपि, मनःस्फूर्तिरजायत ॥७॥

प्रस्तुत्य 'बलिदानं' हि, स्वकीया सम्मतिः शुभा ।
मयापि समुपस्थाप्या, विदुषामग्रतो ध्रुवम् ॥८॥

इति कृत्वा प्रयत्नो मे, प्रबन्धेऽत्र महान् किल ।
तुष्यन्त्वनेन विद्वांसः, उदाराः सुहृदः प्रियाः ॥९॥

'गच्छतः स्खलनं क्वापि, भवत्येव प्रमादतः ।
हसन्ति दुर्जनास्तत्र, समादधति सज्जनाः ॥'
—इति नीतिवचः स्मृत्वा, कृतोऽञ्जलिरयं मया ॥१०॥

देवाश्रमः
ज्वालापुरीयः
महाविद्यालयः

नरदेवशास्त्री,
(वेदतीर्थः)

क्रूराः कृतोऽञ्जलिरयं बलिरेष दत्तः ।
कार्यो मया, प्रहरनात्र यथाभिलाषम् ॥
अभ्यर्थये विनयवाङ्मयपांशुवर्षैः ।
मा माऽविलीकुरुत कीर्तिनदीः परेषाम् ॥

(वाचस्पतिमिश्रः)

ओ३म् तत्सत्

यज्ञे पशुवधो वेदविरुद्धः।

ये रात्रिमनुतिष्ठन्ति, ये च भूतेषु जाग्रति।

पशून् ये सर्वान् रक्षन्ति, ते न आत्मसु जाग्रति.

ते नः पशुषु जाग्रति ॥ अथर्व० १९, ४८, ५

अत्र 'पशून् ये सर्वान् रक्षन्ति' इत्यनेनेश्वर आज्ञापयति, मनुष्यैः सर्व एव पशवो रक्षणीया इति।

यज्ञस्य स्वरूपं किमस्तीत्युच्यते—

द्रव्यं देवता त्यागः ॥ का० श्रौ० सू० २३

अस्यार्थः—व्रीहियवादि द्रव्यम्, या तेनोच्यते सा देवता मन्त्रार्थः, अग्नावाहुतीनां दानं त्यागः। अग्न्यादिव्यावहारिकेभ्यो देवेभ्यः संस्कृतानां व्रीहियवादीनां द्रव्याणां घृतादीनां वा वेदमन्त्रोच्चारणपूर्वकमग्नावाहुतिदानं यज्ञः।

हविस्तु क्षाराम्लतिक्तगुणादिरहितं किन्तु सुगन्धिपुष्टमिष्टरोग-नाशादिगुणसहितं चतुर्विधमेव। अत्र प्रमाणम्—

उपावसृज त्मन्या समञ्जन्, देवानां पाथ ऋतुथा हवींषि। वनस्पतिः शमिता देवो अग्निः, स्वदन्तु हव्यं मधुना घृतेन ॥ यजु० २९, ३५ अथर्व० ५, १२, १९

'पाथः' 'हवींषि' 'मधुना' 'घृतेन' सर्वाण्येतानि पदानि

चतुर्विधानां द्रव्याणामेव हवनं कर्तुमुपदिशन्ति । अतस्तेषामेव ग्रहणं यज्ञे, न प्राणिवधजन्यमांसस्येति । 'मांसन्त्वशुचिद्रव्यं दुष्टञ्चेति यथा च श्वमांसादीनां स्वत एवाऽशुचित्वमिति' वैशेषिक-शास्त्र प्रशस्तपादभाष्यम् ।

दुष्टस्य हविषोऽप्स्वहरणम् ॥ का० श्रौ० २५, ११५

अर्थः—होमद्रव्यं दुष्टञ्चेज्जले प्रक्षेपणीयम्, न तद्धोतव्यमित्यर्थः ।

उक्तो वा भस्मनि ॥ का० श्रौ० सू० २५, ११६

वा (अथवा) दुष्टं हविर्भस्मनि प्रक्षेप्तव्यम्, न तस्य होमः कार्य इत्यर्थः ।

शिष्टभक्षप्रतिषिद्धं दुष्टम् ॥ का० श्रौ० सू० २५, ११७

शिष्टैर्मांसादभक्ष्यं वस्तु दुष्टमुच्यते ।

मांसभक्षणे प्रायश्चित्तमप्यस्ति यथा—

जग्ध्वा मांसमभक्ष्यं च, सप्तरात्रान्यवान्पिबेत् । मनु० ११, १५२

अभक्ष्यं मांसं भक्षयित्वा सप्तरात्रान् यवान् पिबेदित्यर्थः ।

अथ चतुर्विधानां द्रव्याणां विषये प्रमाणानि—

१—'घृतं तीव्रं जुहोतन' (यजु० ३, १) अग्नौ सर्वदोष-निवारकं घृतं होतव्यमित्यर्थः ।

२—'घृतेन वर्द्धयामसि' (यजु० ३, ३) । यज्ञसिद्ध्यर्थं घृते-नाग्निं प्रदीप्तं कुर्वन्ति ।

यज्ञस्य फलम्—'निकामे निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु' इति (यजु० २२, २२) अस्यार्थः—'निकामे निकामे नः वै तत्र पर्जन्यो वर्षति यत्रैतेन यज्ञेन यजन्ते' (शत० १३, १, १) 'यज' देवपूजा-

सङ्गतिकरणदानेषु धातुनाऽनेन 'यजयाचयत०' (अष्टा० ३, ३. ९०) इति सूत्रेण नङ् प्रत्यये कृते यज्ञशब्दो व्युत्पद्यते। यजनं यज्ञः।

२—'अस्मिन् हव्या जुहोतन' (यजु० ३, १) (आ) समन्तात् (अस्मिन्) अग्नौ (हव्या) दातुमत्तुमादातुमर्हाणि वस्तूनि (जुहोतन) प्रक्षिपत। मन्त्रे होतव्यानि द्रव्याण्येव गृह्यन्ते नाऽभक्ष्याणि। अत्र वपादिकं पशुवधजन्यं न घृतपदवाच्यमपितु गवादीनां दुग्धाद् यदुत्पद्यते तदेव घृतम्। तथाह्यायुर्वेदे घृतस्य गुणा अन्ये वपादीनाञ्चान्ये सन्ति। अतो घृतादिकमेव होतव्यं न वपादिकमिति।

दुग्धघृतार्थमेव पशवो यज्ञेष्वानीयन्ते स्म न च वधार्थमिति, यथोक्तम्—

"आदिकाले खलु यज्ञेषु पशवः समालम्भनीया बभूवुर्नालम्भाय प्रक्रियन्ते स्म। अतश्च प्रत्यवरकालं पृषध्रेण दीर्घसत्रेण यजमानेन पशूनामलाभाद् गवामालम्भः प्रवर्तितः। तं दृष्ट्वा प्रव्यथिता भूतगणास्तेषाञ्चोपयोगादुपाकृतानां गवां गौरवाच्चोपहताग्नीनामुपहतमनसामतीसारः पूर्वमुत्पन्नः पृषध्रयज्ञे।" (चरक विमा० १०, ३)

अत्र गोमांसभक्षणादेवातीसारोत्पत्तिरुक्ता। मांसन्तु पशुवधमन्तरेण नोपलभ्यते, न च पशुवधः स्वर्ग्यः। यथा—

"नाकृत्वा प्राणिनां हिंसां, मांसमुत्पद्यते क्वचित्।

न च प्राणिवधः स्वर्ग्यः, तस्मात् मांसं विवर्जयेत्।" (मनु० ५. ४८)

पृषध्रयज्ञात् पूर्वं यज्ञेषु पशुवधप्रचारो नासीदिति 'आदिकाले खलु०" इत्यनेन स्फुटमुच्यते। अत्रैव मनुस्मृतौ 'यज्ञे वधोऽवधः' (५, ३९) इति यत् तत् प्रक्षिप्तमेव प्रतिभाति। उपर्युक्तश्लोके न च प्राणिवधः स्वर्ग्य इति पौर्वापर्यविरोधात्।

"अथो भैषज्ययज्ञा वा एते यच्चातुर्मास्यानि तस्मादृतुसन्धिषु प्रयुज्यन्ते। ऋतुसन्धिषु वै व्याधिर्जायते।' (गो० ब्रा० १, १९) भैषज्ययज्ञा इत्यनेनाऽशुचिद्रव्याणां मांसादीनां खण्डनं स्पष्टमेव।

तथा 'वैश्वदेवी' (का० ४, १२६) चातुर्मास्य-पर्वसु वैश्वदेवी पयस्या भवति।

अन्यत्र 'न मांसमश्नीयात्, यन्मांसमश्नीयात्, यन्मिथुनमुपेयादिति नत्वेवैषा दीक्षा।' (श० ६, २)।

अत्र यज्ञे मांसभक्षणस्य निषेध एवेति।

व्रतादौ दुग्धस्यैव सेवनम्। तद्यथा 'क्षीरव्रती भवति। सपत्नीको यजमानो व्रते दुग्धं पिबेत्, यवागू राजन्यस्यामिक्षा वैश्यस्य।' (का० सू० ११२, १२८) व्रते राजन्यः सपत्नीकः क्षत्रियो यवागूं पिबेत्। एवं सपत्नीको वैश्यः आमिक्षां श्रीखण्डं पिबेत्। मांसभक्षको न दीक्षितपदं प्राप्नोति, न व्रती भवति।

पशुवधपक्षपोषकेण सायणाचार्येणापि दुग्धपक्षे मन्त्रा गवां दोहने क्षीरपाके च मंत्रद्वयं विनियुक्तम्। यथा—

'गां दोग्धुमध्वर्युरयक्ष्मा वः प्रजया इति मंत्रेण वत्सं बन्धनान्मुञ्चेत्, क्षीरं श्रपयेत् मातरिश्वनो घर्म इति मन्त्रेणाग्नौ गार्हपत्ये स्थापयेत्' (कृ० य० तै० सं० १, ६, ९)

आभ्यां मन्त्राभ्यामत्र यज्ञे दुग्धस्यैवोपयोगो भवतीति सायणाचार्यस्याभिप्रायः पशुवधनिषेधे वर्तते।

एवम् 'अन्वारब्धेषु पयो जुहोति द्वे सृती इति' (का० १९, ८१) अत्र स्पष्टमेव यज्ञे दुग्धस्योपयोगो नतु मांसस्य। 'शेषं यजमानो भक्षयतीदं हविरिति' (का० १९, ८२)

तथैव याज्ञवल्क्यजनकसंवादेनापि सिद्ध्यति सर्वे पयादीनामेवोपयोगः । तद्यथा—

"तद्धैतज्जनको वैदेहः याज्ञवल्क्यं पप्रच्छ वेत्थाग्निहोत्रं याज्ञवल्क्या इति । वेद सम्राडिति । किमिति । पय एवेति । यत् पयो न स्यात् केन जुहुया इति । व्रीहियवाभ्यामिति । यद् व्रीहियवौ न स्याताम् , केन जुहुया इति । या अन्या ओषधय इति । यदन्या ओषधयो न स्युः केन जुहुया इति । वानस्पत्येनेति । यद्व वानस्पत्यो न स्यात् केन जुहुया इति । सहोवाच, नवा इह तर्हि किञ्चनासीदथ तद् हूयतैव सत्यं श्रद्धायामिति, वेत्थाग्निहोत्रं याज्ञवल्क्य इति धेनुशतं ददामि " (श० कां० ११)

संवादेऽस्मिन् हिंसाजन्यं मांसं वपादिकञ्च न क्वापि लिखितमस्ति । तेनापि विज्ञायते न तदानीं यागेषु पशुवधप्रचार आसीत् ।

आयुर्वेदेऽपि वपामांसादिहोमविधिर्न, किन्तु तत्रादौ दुग्धाद्युत्पन्नस्य घृतस्यैवेति । तद्यथा 'नाऽग्रोचिकत्समाज्यालतानिलकुशसर्षपैरिति जुहुयात्' (च० वि० अ० ८) अत्राप्याज्यस्यैव होमविधिर्न वपादेरिति ।

अजाया दुग्धं सर्वरोगहारकम् । कस्मात् ? 'अजा ह सर्वा ओषधीरत्ति सर्वासामेवैनामेतदोषधीनां रसेनानक्ति' (श० पृ० ३४९)

'मधुसर्पिषा त्रिस्त्रिर्जुहुयात्' (च० वि० अ० ८)

'ओषधीनां वा परमो रसो यन्मधु' (श० ११, ५)

एवञ्चतुर्विधानां द्रव्याणामेव सर्वत्र होमविधिर्वेदादिसत्यशास्त्रेष्विति । यथा—'अपामार्गहोमः' (कात्या० १६, २९) । 'अजाक्षीरमेके' (का० १८, १) 'अजाक्षीरेणैके जुह्वति शाखान्तरात्'

इति कर्काचार्य्यः। अत्राऽजायाः क्षीरमेव गृहीतं न तन्मांसमिति।

'घृतेन ह वा एष देवाँस्तर्पयति' (श० ११, २५) घृतमेवात्र यज्ञसाधनमस्ति। 'अग्नये रसवतेऽजक्षीरं निर्वपेत्' (कृ० य० तै० सं० २, ४)।

वेदलिङ्गाच्चापि सिद्धं यज्ञे दुग्धघृतादीनामेवोपयोगः। तद्यथा 'ये देवा दिविषदो अन्तरिक्षसदश्च, ये चेमे भूम्यामधि। तेभ्यस्त्वं धुक्ष्व सर्वदा क्षीरं सर्पिरथो मधु।' अथर्व (१०, ९ ३)।

वेदमन्त्रेऽस्मिन् सर्वदापदेन यज्ञादौ सर्वत्र दुग्धं घृतञ्चापदिश्यते। तत्प्रचारार्थमेव पशुरक्षाविधायको मन्त्रः 'यजमानस्य पशून् पाहि।' (यजु० १, १) महीधरभाष्यानुसारिणा तन्मन्त्रोपार्थं तत्कृतभाष्यमेवात्रोद्ध्रियते—'यजमानस्य पशून् अरण्ये सञ्चरतश्चोरव्याघ्रादिभयात् पाहि रक्ष' इति महीधरेणापि पशुवधो न स्वीकृतः। यथा 'यजमानस्य पशूनित्यवस्थागारस्यान्यतरस्य पुरस्ताच्छाखामुपगूहति।' (का० ४, ४०) पशूनां तु कल्पद्रुमभूतानां पालनमिहोच्यते' इति कर्काचार्यः।

एवमेव 'ओषधे त्रायस्व स्वधिते मैनं हिंसीः' (य० ४, १) मन्त्रेणानेन यैर्याज्ञिकैः पशुवधः क्रियते, तैस्तद्भाष्यकारस्य महीधरस्यार्थो विलोकनीयः। यथा—'ओषधे कुशतरुणं देवता। हे ओषधे! कुशतरुण! त्वं यजमानं त्रायस्व क्षुरात् रक्ष। स्वधिते क्षुरो देवता। हे स्वधिते क्षुर एनं यजमानं मा हिंसीः। महीधरेणात्र रक्षापरत्वमेव भाष्यं कृतं तत्कथं नामाऽयं मन्त्रः साम्प्रतं याज्ञिकैः पशुवधकर्मणि विनियुज्यते? कात्यायनेन लिखितमिति चेत् तत्कृतविनियोगार्थविरुद्धत्वादिति।

वेदेऽपि 'ये रात्रिमनुतिष्ठन्ति ये च भूतेषु जाग्रति। पशून् ये

सर्वान् रक्षन्ति, ते न आत्मसु जाग्रति ।' (अ० १९, ४८, ५)। इत्यादिषु मन्त्रेषु सर्वेषां पशूनां रक्षार्थमेवाज्ञास्ति। तेषां महोपकारं विस्मृत्याऽपराधमन्तरेण ये तान् घ्नन्ति यज्ञे ते कृतघ्नाः स्वार्थसाधकाः।

कात्यायनसूत्रादावपि पशूनां महिमैव गीयते। यथा—
'महीमेव गोर्महिमेत्यध्वर्युः। अध्वर्युर्गां महयति'। (शत० ३,३, २) "ध्वरा हिंसा तदभावो यत्र" (नि० पृ०)।

अध्वरमिति यज्ञनामसु पठितं निघण्टौ। यज्ञे यजमानस्य प्रतिनिधिरध्वर्युः। अध्वर्युर्गोर्दुग्धस्य महत्त्वं तदुपकारं वा वर्णयति। 'महयतीति' मह पूजायाम्, पूजा नाम सत्कारः। अध्वर्युर्गां महयति पूजयति सत्करोति, तद् गुणान् वा गायति।

'गोर्वै प्रतिधुक्' (का० अ० ५)। 'प्रतिधुक श्रुतेः। प्रतिधुक्शब्देन पात्रदुग्धमात्रं धारोष्णमभिधीयते' इति कर्काचार्यः। दुग्धसिद्धा अनेके पदार्था भवन्ति। तद्यथा—'तस्यै शृतं, तस्यै शरस्तस्यै दधि, तस्यै मस्तु, तस्या आतञ्चनं, तस्यै नवनीतं, तस्यै घृतं, तस्या आमिक्षा, तस्या वाजिनम्।'

'हैयङ्गवीनं सञ्ज्ञायाम्' (अष्टा० ५, २, २३) ह्यो गोदोहादुद्भवं हैयङ्गवीनं नवनीतं घृतं वा। तात्कालिकं घृतं, नवनीतञ्च शिरोभागं पोषयति, यतः सात्त्विका एव पदार्था देहोर्ध्वं गच्छन्ति। पशुवधे सति कथं धारोष्णदुग्धाऽवाप्तिः स्यात्, कथं वा तत्सिद्धा अनेके पदार्था बुद्धिबलवर्द्धकाः स्युरिति। अहो क्व यागे धारोष्णदुग्धघृतादीनामुपयोगः, क्व तत्र पशुवधः। महोपकारकाश्छागादयः पशवः पालनीयास्तत्र न तु मारणीया इति।

छागशुभाशुभलक्षणमभिधास्ये, नवदशाष्टदन्तास्ते ।
धन्याः स्थाप्याः वेश्मनि, सन्त्याज्याः सप्तदन्ताः ये ॥१॥
कुट्टकः कुटिलश्चैव, जटिलो वामनस्तथा ।
ते चत्वारः श्रियः पुत्राः, नालक्ष्मीके वसन्ति वै ॥२॥
वर्णैः प्रशस्तैर्मणिभिश्च युक्ता, मुण्डाश्च ये ताम्रविलोचनाश्च ।
ते पूजिता वेश्मसु मानवानां, सौख्यानि कुर्वन्ति यशः श्रियश्च ॥३॥

(बृहत्संहितायाम् अ० ६५ । छागशुभाशुभलक्षणम् अभिधास्ये ते नवदशाष्टदन्ताः, वेश्मनि गृहे स्थाप्याः, ये सप्तदन्ताः सन्त्याज्याः ॥ १ ॥ कुट्टकः कुटिलः जटिलः तथा वामनः चत्वारः ते श्रियः पुत्राः । वै निश्चयेन अलक्ष्मीके न वसन्ति ॥२॥ ये प्रशस्तैः वर्णैः मणिभिः युक्ताः, मुण्डाः ताम्रविलोचनाः, ते मानवानां वेश्मसु पूजिताः पालिताः सौख्यानि, यशः, श्रियं कुर्वन्ति ॥३॥

अथ छागदुग्धगुणाः —
दीपनं लघु संग्राहि, श्वासकासास्रपित्तनुत् ।
अजानामल्पकायत्वात् कटुतिक्तनिषेवणात् ॥
नात्यम्बुपानाद् व्यायामात्, सर्वव्याधिहरं पयः ॥ (सु०सू०अ०४५)

अजादुग्धं दीपनं, लघु, संग्राहि, श्वास-कासास्र-पित्तनुत् । अजानाम् अल्पकायत्वात्, कटुतिक्तनिषेवणात् , नात्यम्बुपानात् , व्यायामात् श्रमणात्, तासां पयः सर्वव्याधिहरम्भवति
अन्यत्राप्युक्तम् —

अजाश्वा चन्दनं वीणा, आदर्शो मधुसर्पिषी ।
विषमौदुम्बरं शङ्खः स्वर्णनाभोऽथ रोचना ॥

गृहे स्थापयितव्यानि, धन्यानि मनुरब्रवीत् ।
देवब्राह्मणपूजार्थं, अतिथीनां च भारत ॥ (महा० उद्योग०)

यज्ञादिषु देवानां ब्राह्मणानामतिथीनां वा दुग्धद्वारा सत्कारार्थमजादयः पशवः पुराकल्पे आसन । तथैवेदानीमपि सत्कारार्थं रक्षणीयाः ।

दुग्धप्रयोजनाऽभावे भैषज्ययज्ञेष्वजा महौषधी ग्राह्या । यथा—

अजास्तनाभकन्दा तु, सक्षीरा क्षुपरूपिणी ।
अजा महौषधी ज्ञेया, शङ्खकुन्देन्दुपाण्डुरा ॥ (सु० चि० अ० ३०)

यज्ञे पाकशालिका भवन्ति । तत्र सुब्रह्मण्यायै दानमजाया इति । तथाहि सूत्रम्—'अजः सुब्रह्मण्यायै' (ताण्ड्यमहाब्रा० २१,१४,१९) अजा सुब्रह्मण्यायै देयेत्यर्थः । पर्युषितस्य दुग्धस्य तत्र नोपयोगो भवति । अतएव पयःप्रदाश्छागादयः पशव आनीयन्ते रक्ष्यन्ते च, न वधार्थमिति । पर्युषितस्य दुग्धस्य धारोष्णदुग्धवन्नास्ति गुणः । यथा—'क्षीरम्पर्युषितं सर्वं, गुरु विष्टम्भि दुर्जरम् ।' रक्ताद् दुग्धमिति चेन्न, रसादेव दुग्धमुत्पद्यते । तद्यथा—'रसात् स्तन्यं प्रवर्तते' (च० चि० अ० १५, १५)

अथ पशुं हत्वा तद्धोमेन यजमानः स्वर्गं याति, तथैव पशुरपीति मिथ्यैवास्ति, यतो नात्राऽऽम्नायस्य प्रामाण्यम् । आत्मनो नित्यत्वात् कथन्तस्य हिंसेति यस्य पक्षस्तस्य खण्डनार्थं गोतममुनिराह । यथा—'न कार्याश्रयकर्तृवधात्' (३, १, ६) । अत्र वात्स्यायनभाष्यम्—'न ब्रूमो नित्यस्य सत्त्वस्य वधो हिंसा, अपितु अनुच्छित्तिधर्मकस्य सत्त्वस्य कार्याश्रयस्य शरीरस्य स्वविषयोपलब्धेश्च कर्तॄणामुपघातः पीडा वैकल्यलक्षणः प्रबन्धोच्छेदो वा प्रमापणलक्षणो वधो हिंसेति । कार्यन्तु सुखदुःखसंवेदनं,

तस्यायतनमधिष्ठानमाश्रयः शरीरम्। कार्याश्रयस्य शरीरस्य स्वविषयोपलब्धेश्च कर्तॄणामिन्द्रियाणां वधो हिंसा न नित्यस्याऽत्मनः'। अतःपशुवधे कृते न हिंसेति न सत्यमस्ति।

यदा शरीरे हिंसादिवेगानां समुत्थानं भवेत् तदानीं तद्वेगानुकूलं हिंसादि विधेयं नवेत्यत्राह —

देहप्रवृत्तिर्या काचिद् वर्तते परपीडया।

स्त्रीभोगस्तेयहिंसाद्याः तस्या वेगान् विधारयेत्। (च० सं०)

समुत्थितानि हिंसावेगादीनि धारणीयानीति तात्पर्यम्। अन्यथा जातिदेशकालावच्छिन्नानां यमनियमानाचरणं न धर्मादिचतुष्टयफलदायकं पूर्णं स्यात् न च ते यमनियमसेविनो महाव्रतिनो भवन्तु, किन्तु कस्यांश्चिज्जातौ कस्मिंश्चिद्देशे कस्मिंश्चित् काले केनचित्समयेनाऽनवच्छिन्नाऽहिंसादयो न स्युः।

सर्वत्रैकत्वेन वर्तमानास्ते महाव्रतशब्देनोच्यन्ते। तथाहि सूत्रम् 'जातिदेशकालसमयाऽनवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम्' (योग २, ३१)। तत्र कृता कारिताऽनुमोदितेति त्रिविधा हिंसास्ति।

सायणाचार्यायापि यज्ञे पशुहिंसा न रोचते स्म इति तदुक्तेन सुतरामनुमीयते।

यज्ञमन्त्रार्थमबुध्वा स्वात्मविरुद्धमपि तेन लिखितमस्ति। यथा—'क्रूरं पशुहिंसादि' (कृ० य० तै० पृ० ६६९) 'क्रूरादिदोषाणां होमेन समाहितत्वात्' (कृ० य० तै० ६, ६, ०)। पशुहिंसा क्रूरं कर्मेति मत्वापि पुनः क्रूरादिदोषाणां होमेन समाहितत्वादिति यत्तदयुक्तम्। कुतः? 'इषे त्वोर्जे त्वेति' यजुर्वेदस्य प्रथममन्त्रे श्रेष्ठतमानां कर्मणामाज्ञा। तदिदं क्रूरं पशुहिंसनं निकृष्टतमं वेदबाह्यं

कर्म, तस्य होमेन शान्तिः कथमपि न्याय्यं न, हिंसकेन यावच्च तत्फलं भुज्यतेति ।

शतपथेऽप्यहिंसेत्यस्य धर्मसाधनस्यैव यज्ञप्रकरणे प्रतिपादनमस्ति । तद्यथा—'स वा एतानि संयता समुचितान्याकरम् । अग्ने पुरीष्याधिपा भव त्वं न इषमूर्जं यजमानाय धेहीति शान्तिमेवाभ्यामेतद् वदति यजमानस्य प्रजायै पशूनामहिंसायै (य० १२, ५८ तथा श० १३, ४, ८) अत्र च 'पशूनामहिंसायै' इति ब्राह्मणस्य तात्पर्यमहिंसापरत्वमेवास्ति ।

यदुच्यते—अश्वमेधयज्ञेऽश्वस्य हननं क्रियते स्म, तदपि न सत्यमस्ति । यतस्तस्मिन्नेव शतपथे 'इदं मा हिंसीरेकशफं पशुमित्येकशफो वा एष पशुर्यदश्वस्तं मा हिंसीरिति' (श० पृ० ६६८) ।

सत्यां हिंसायां यजमानस्य तपो विनष्टं भवति । तद्यथा—

तस्य तेनानुभावेन, मृगहिंसात्मनस्तदा ।
तपो महत् समुच्छिन्नं, तस्माद्धिंसा न यज्ञिया ॥
अहिंसा सकलो धर्मो हिंसा धर्मस्तथाविधः ।
सत्यं तेऽहं प्रवक्ष्यामि, यो धर्मः सत्यवादिनाम् ॥

(महा० शा० अ० २७२) महाराजयुधिष्ठिरः भीष्मपितामहमपृच्छत् । धर्मार्थं सुखार्थं च यज्ञः कथं वा भवति । अस्योत्तरे तपस्विन्या ब्राह्मण्यास्तथा ब्राह्मणस्य च वृत्तमागतमस्ति । यज्ञे तत्राहुतिदानाय चारेणैका तपस्वी ब्राह्मणो वन्यं मृगं हन्तुमैच्छत्तदा तस्य तपो विनष्टमासीत् ततो न हिंसा यज्ञार्हा ।

अथ यत्र मृगादौ क्वापि छागपदं वर्तते तत्र तद्वधार्थमेवोपादीयते तच्छ्रुतिविरुद्धं, यज्ञप्रकरणविरुद्धञ्चेति । यथा—छागं 'मन्थाम्नात्' (का० ६, ७२) अत्र कर्काचार्यभाष्यम्—'सच पशु-

श्छागो गृहीतव्यः । कुत एतत् ? मन्त्राम्नात् । 'अग्नीषोमौ छागस्य हविष आत्ताम् ।' (का० पृ० ३८५)" कर्काचार्यमते छागः पशुः स एव हन्तव्यः । त्याज्योऽयमर्थः । वेदविरुद्धत्वादिति । यतो यज्ञ-प्रकरणेऽत्र छागपदेन छागदुग्धस्यैव ग्रहणम् । कथम् ? छाग्या इदं छागं पयः । 'तस्येदमित्यण्' (पा० ४,३,१२) । छागदुग्धविषये प्रमाणम् । यथा—

छागं कषायमधुरं, शीतं ग्राहि पयो लघु ।
रक्तपित्तातिसारघ्नं, क्षयकासज्वरापहम् ॥ (च० सं० अ० २४)

छागं पयः कषायम्, मधुरम्, शीतम्, ग्राहि, लघु, रक्तपित्ता-तिसारघ्नम्, क्षयकासज्वरापहम् । अत्र स्पष्टमेव 'छागं पयः' इति । अतः कर्काचार्यस्य छागपदेन छागपशोर्हननं भ्रान्तिमूलक-ज्ञानमिति मन्ये ।

अथ कात्यायनसूत्रे यत् पशुवधविधानं तदपि प्रक्षिप्तमेव, तदुक्तविनियोगव्यवस्थाविरुद्धत्वात् । तद्यथा 'उत्तानं पशुं कृत्वाऽग्रेण नाभिं तृणं निदधात्योषधे इति' (का० ६, १२९) 'स्वधिते०' इत्यनेन मन्त्रेण शस्त्रस्पर्शात्कदरं धृत्वा तद्धारया तत्राङ्कयित्वा यत्रोदरं तृणं रक्षितन्तत्र छिन्द्यादिति सूत्रार्थः ।

वपामेदादिशब्दानां मन्त्रोक्तानामयमर्थः-धारोष्णदुग्धे स्निग्ध-भागस्यैव वपासञ्ज्ञा । ननु पशुं हत्वा तस्य नाभिस्थानीयस्य वपाया अत्र ग्रहणम् । तस्या हिंसाजन्यत्वात्, वेदविरुद्धत्वा-च्चेति । यस्मिन् यद्वस्त्वधिकं तत् तन्नाम्नैव प्रसिद्ध्यति । तथाहि—तत्र मेद इत्यस्य स्थाने लोके साम्प्रतं 'मेदा' व्यवहारो-ऽस्ति । 'ञिमिदा' स्नेहने धातुनाऽनेन मेदशब्दो व्युत्पद्यते । एवं गोधूमादिषु दुग्धेष्वपि स्निग्धभागकं मेदः । नात्र शरीरस्थस्य

चतुर्थधातोर्ग्रहणम् 'रसाद्रक्तं ततो मांसं मांसान्मेदः प्रजायते' इति । गोधूमचूर्णोऽपि भवत्येकविधं पुष्टं तत्त्वं मेद इति । यज्ञे तस्यैव ग्रहणं समुचितमस्ति ।

एवं वपाशब्दार्थोऽप्ययः । 'रन्ध्रं श्वभ्रं वपा शुषिः' इति त्रिकाण्डी । दुग्धस्थानतुरस्तत्र स्थितं पयो वपा । गवादीनामूधसि स्थितं धारोष्णं दुग्धमेव वपासञ्ज्ञकमित्यर्थः । यतो वपाशब्दः शुभ्रार्थे वर्तते, ततो न यज्ञे मरणीयपशोर्वपा ग्राह्या, हिंसाजन्यत्वात्, रोगोत्पादकत्वात्, वेदविरुद्धत्वाच्चेति । दुग्धस्यैवावस्थान्तरमेषा वपा । 'प्रत्ययत्र्वोर्हविषो देवता सम्प्रदाने' । (पा० २, ३, ६१) अत्रोदाहरणम् — 'अग्नये छागस्य हविषो वपाया मेदसोऽनुब्रूहि' इत्यादावपि 'छागस्य' इत्यनेन छाग्या दुग्धस्यैव ग्रहणम् । दुग्धस्य धारोष्णस्यैव 'वपा' सञ्ज्ञा । तेनैव नानापदार्थाः सम्पद्यन्ते । गोदुग्धस्य 'शृतम्' भवति । 'श्रा पाके' इत्यनेन धातुना शृतमिति सिद्ध्यति । तस्यैव शरः, तस्यैव दधि, तस्यैव घृतम्, तस्यैव आमिक्षा । पयःशृतं कृत्वापि स्थापितस्योपरि समासाद्य यद् घनीभूतं दधिसदृशं स्यात्तदा निष्पन्ना तदामिक्षोच्यते (का० पृ० ४४१) । तस्यैव वाजिनं सञ्जायते । एते सर्वे पदार्था दुग्धेनैव सिद्ध्यन्ति । अतएव जगति गोमहत्ताया नातः इतरे छागादयोऽप्येवमेवोपकर्तारः सन्ति । अतः प्राणिनां हिंसनं न न्याय्यम् । उक्तं मनुना—

समुत्पत्तिं च मांसस्य वधबन्धौ च देहिनाम् ।

प्रसमीक्ष्य निवर्तेत, सर्वमांसस्य भक्षणात् । (म० ५, ४९)

'सर्वमांसस्य भक्षणात्' इत्यनेन न कस्यापि जीवस्य मांसं भक्षणीयमिति स्पष्टमेव ।

निवृत्तामिषमद्यो यो, हिताशी प्रयतः शुचिः ।
निजागन्तुकरुन्मादैः सत्ववान् न स युज्यते ॥ (च०चि०अ० १४)

निजः शरीरदोषसमुत्थः । आगन्तुको भूतविषवाय्वग्निसम्प्रहारादिसमुत्थः । मानसः पुनरिष्टस्यालाभात् , लाभाच्चानिष्टस्योपजायते । यो मद्यं मांसं न सेवते, हितञ्च भुङ्क्ते, यस्येन्द्रियाणि वश्यानि, यः शुचिरस्ति, स निजागन्तुकरुन्मादैर्न युज्यते । अभक्ष्याणां मांसवपादीनां भक्षणेनोन्मादादयो रोगा उत्पद्यन्ते, तथैवाग्नौ मांसवपादिप्रक्षेपणेन तज्जन्यधूम्रादिना जलवाय्वादयो दूष्यन्ति, ततो न यज्ञे तेषामुपादानमिति ।

आदौ मन्त्रः पठ्यते ततः कर्म क्रियते, तत्र कैमर्थिकमिति चेद् यादृशो मन्त्रार्थस्तादृश एव कर्मणि स प्रयुज्यते । विनियोगोऽयमेव । तथाच सूत्रम्—

'तेषामारम्भेऽर्थतो व्यवस्था तद्वचनत्वात्' (का०परि०सू० ४८)

'तेषां मन्त्राणां प्रकरणसमर्थानानामारम्भे, अर्थतो व्यवस्था भवति । यो यत्पदार्थाभिधानसमर्थो मन्त्रः स तत्र विनियुज्यते । कुत एतत् तद्वचनत्वात् । तमेवार्थं वक्तुं शक्नोति नार्थान्तरम्' इति कर्कः।

मन्त्रान्तैः सान्निपात्योऽभिधानात्' (का० परि० सू० ४९)

'कर्मणि प्रयुज्यमानानां मन्त्राणां मन्त्रान्तस्य कर्मादेश्च संलग्नता कर्तव्या । कुत एतत् ? अभिधानात् । अभिहितो मन्त्रः कर्माभिधातुं शक्नोति ततश्च तदनुष्ठेयं' इति कर्काचार्यः ।

दृश्यते वेदे हि छागशब्दः । तद्यथा—

'एष च्छागः पुरो अश्वेन वाजिना,
पूष्णो भागो नीयते विश्वदेव्यः ।

अभिप्रियं तत् पुरोडाशमर्वता,
त्वष्टेदेनं सौश्रवसाय जिन्वति ॥' (ऋ० १, १६२, ३)

अत्र सायणभाष्यम्—'एष छागः शृङ्गरहितोऽजः अश्वेन वाजिना शीघ्रव्यापकेनाश्वेन सह पूष्णः पोषकस्याग्नेर्भागो भजनीयः विश्वदेव्यः सर्वदेवार्हः अभिप्रियं प्रीणयितारं पुरोडाशं पुरस्तादादातव्यमेनमजं त्वष्टा सर्वस्योत्पादको देवः अर्वता अरणवताश्वेन सह सौश्रवसाय देवानां शोभनान्नाय तन्निमित्तं अभिजिन्वति प्रीतिहेतुकं करोति।'

'य आम मांसमदन्ति०' (अथर्व० ८, ६, २३)

मन्त्रस्याऽस्य भाष्ये सायणेन मांसं पिशाचान्नमुक्तम्। परम्—'एष छागः' इत्यत्र छागमांसं देवानामन्नमुक्तम्। तत्पूर्वापरविरुद्धमेवेति। यतो धर्मशास्त्रे सर्वत्रैव मांसं पिशाचान्नं रक्षसामन्नं कथितम्। तद्यथा—

यक्षरक्षःपिशाचान्नं, मद्यं मांसं सुरासवम्।
तद् ब्राह्मणेन नात्तव्यं, देवानामश्नता हविः ॥ (मनु ११, ९५)

मन्त्रे छागपदं दृष्ट्वा तस्य यथार्थं विहाय तन्मांसं देवभोजननिमित्तमिति सायणकृतार्थो न रोचते मह्यं नापि विचारसहः। अतो वेदेषु सर्वप्राणिषु बन्धुभूतः स्यादयमेवोद्देशः।

तस्यैव मन्त्रस्य आचार्यदयानन्दसरस्वतीकृतभाष्यम्। यथा—'(एषः) प्रत्यक्षः (छागः) (पुरः) पूर्वम् (अश्वेन) तुरङ्गेन (वाजिना) वेगवता (पूष्णः) पुष्टेः (भागः) (नीयते) (विश्वदेव्यः) विश्वेषु सर्वेषु देवेषु दिव्यगुणेषु साधुः (अभितः) कमनीयम् (यत्) यः (पुरोडाशम्) सुसंस्कृतमन्नम् (अर्वता) विज्ञानेन सह (त्वष्टा) सुरूपसाधकः (इत्) एव (सौश्रवसाय) शोभनेष्वन्नेषु

भवाय (जिन्वति) प्राप्नोति ।' भावार्थः-ये मनुष्या अश्वानां पुष्ट्ये छागदुग्धं पाययन्ति, सुसंस्कृतान्नं च भुञ्जते, ते सुखिनो भवन्ति ।' छागरदेन तस्य दुग्धं कथं गृह्यतेऽत्र चरकोक्तं पूर्वं प्रमाणं ज्ञेयं 'छागं कषायमधुरमिति ।'

प्राचीनकाले छागादयः पशवो वनेषु परिपालिता आसन् । तदानीं पशुवधस्य प्रथा नासीदित्यनुमीयते । यथा—

औषधीनामरूपाभ्यां, जानन्ते ह्यजपा वने ।

अविपाश्चैव गोपाश्च, ये चान्ये वनवासिनः॥ चरक० १.१८

अजपाः । अविपाः । गोपाः । सर्वे एते शब्दाः पशुरक्षार्थं प्रयुक्ताः सन्ति । 'पा' रक्षणे धातुः । अजं पाति अजपाः । अविं पाति अविपाः ।

अत्र विषये सायणाचार्योक्तोऽन्योऽपि मंत्रः । तद्यथा —

'न वा उ एतन्म्रियसे न रिष्यसि ।

देवाँ इदेषि पथिभिः सुगेभिः ॥' (ऋ० १, १६२, २१)

'न वा उ नैव खलु एतन्म्रियसे, वा शब्द एवकारार्थः । उ इत्यवधारणे, नैवेदानीम् इतरास्ववन्मृतो भवसि देवत्वप्राप्तेर्वक्ष्यमाणत्वात् । अतएव न रिष्यसि न हिंस्यसे, व्यर्थहिंसाया अभावात् । ननु प्रत्यक्षतोऽवयवनाशश्च दृश्यते कथमेवमुच्यत इति ? उच्यते । सुगेभिः शोभनगमनसाधनैः पथिभिर्मार्गैः देवयानलक्षणैः देवानिदेषि देवानेव प्राप्नोषि अतो युक्तैषा युक्तिः ।' इति सायणभाष्यम् ।

वधे कृते छागो देवत्वं स्वर्गत्वं वा प्राप्नोति न सत्यम् , पशुयोनौ विवेकाऽभावात् । नैव विवेकमन्तरेण छागो देवत्वं स्वर्गत्वं वा प्राप्तुमर्हति । नहि कोदृशो मन्त्रार्थ इति चेच्छृणुताम् '(न)

(वै) निश्चये (उ) वितर्के (एतत्) चेतनस्वरूपम् (म्रियसे) (न) (रिष्यसि) हंसि (देवान्) विदुषो दिव्यान् पदार्थान् वा (इत्) एव (एषि) प्राप्नोषि (पथिभिः) मार्गैः (सुगेभिः) सुखेन गच्छन्ति येषु तैः' इति दयानन्दभाष्यम्।

मन्त्रस्य तात्पर्यमिदम्। अत्र जीवस्याऽमृतत्वमविनाशित्वं वा वर्णितम्। न च यज्ञगतस्य छागस्य वधकर्मणा देवत्वाऽवाप्तिर्यावन्मनुष्यशरीरं न प्राप्नुयात्। मनुष्यशरीरप्राप्तेऽपि न यावन्निष्कामकर्माण्याचरेत्। निष्कामकर्माण्यपि कृत्वा न यावद्विवेकजज्ञानमवेदिति। अतो मनुष्यशरीरेणैव निष्कामकर्म कृत्वा सच्चिदानन्दस्वरूपं परमात्मानं विज्ञाय जीवो मृत्युमुखात् प्रमुच्यते।

अथ ज्ञानयज्ञापेक्षया पशुवधो निन्दार्हः, 'मुग्धा देवाः' इति सायणकृतमन्त्रभाष्ये। यथा—

मुग्धा देवा उत शुना यजन्तोत गोरङ्गैः पुरुधा यजन्त।
य इमं यज्ञं मनसा चिकेत प्र णो वोचस्तमिहेह ब्रवः।

(अथ० ७, ५, २५)

"(मुग्धाः) कार्याकार्यविवेकरहिताः (देवाः) यजमानाः (उत) अपि (शुना) अत्यन्तगर्हितेन पशुना (अयजन्त) अस्वाद्यानां परमावधिः श्वा अवध्यानां परमावधिर्गौः, एवम् पुरुधा बहुधा पशुयज्ञं विवेकरहिता मूढाः कुर्वन्तीति' कथनेनापि याज्ञिकैरेतन्निन्द्यं कर्म यज्ञे क्रियते इत्याश्चर्यमेव। नैव कर्तव्यम्। क्रियते चेत्तैस्तदा तेषां मुग्धत्वं मूढत्वमस्त्येव।" अनेन सायणकृतमन्त्रार्थेनापि यागे पशुवधस्य निषेध एवेति। यद्यपि यज्ञे हतः पशुः देवत्वं यातीत्यन्यत्र सायणाचार्येण लिखितन्तथाप्यत्र निन्दार्हं

कर्म विलिख्य निषेधत्यतो वेदानुकूलं तन्मत्वा, नाऽऽचरणीयं क्वापि यज्ञादाविति।

मांसभक्षणस्य तद्धोमस्य च सर्वकालनिषेधविधायकावन्यावपि मन्त्रौ। यथा—

य आमं मांसमदन्ति पौरुषेयञ्च ये क्रविः।
गर्भान् खादन्ति केशवास्तानितो नाशयामसि॥ (अथर्व०)

येषां सायणकृतं भाष्यं प्रमाणं तैस्तत्कृतमन्त्रार्थो विचारणीयः 'ये पिशाचा आमम् अपक्वं मांसम् अदन्ति भक्षयन्ति, ये च पौरुषेयम् पुरुषस्य सम्बन्धि क्रविः। क्रविस्शब्दो मांसवचनः। 'य आमस्य क्रविषो गन्धो अस्ति' इति हि मन्त्रान्तरम् (ऋ० १, १६२, १०) मनुष्यमांसभक्षणं न प्रचुरम् इत्यभिप्रेत्य पृथगभिधानम्। ये च केशवाः प्रकृष्टकेशाः पिशाचविशेषाः गर्भान् मायारूपेण प्रविश्य खादन्ति भक्षयन्ति तान् त्रिविधान्। इतः अस्माद् गर्भिण्यादेः सकाशात् नाशयामि।'

'पिशाचविशेषाः गर्भान् मायारूपेण प्रविश्य खादन्ति'—केऽत्र पिशाचाः, को वा पिशाचशब्दस्य पदार्थ इति नु सायणेन न स्पष्टीकृतमतोऽयं मन्त्रार्थः— ये (केशवाः) कामिनः, केशाः सन्ति येषां ते 'केशाद्वोऽन्यतरस्याम्' (अष्टा०) (आमम्) अपरिपक्वम् (मांसम्) खादन्ति च (पौरुषेयम्) पुरुषसकाशात् परिपक्वं मांसं (गर्भान्) अण्डानि (खादन्ति) भक्षयन्ति (तान्) तान् सर्वान् (इतः) वर्तमानशरीरात् (नाशयामि)। सार्वकालिकोऽत्र मांस-भक्षण-निषेधः।

तदस्य रूपममृतं शचीभिस्तिस्रो दधुर्देवताः संरराणाः।
लोमानि शष्पैर्बहुधा न तोक्मभिस्त्वगस्य मांसमभवन्न लाजाः॥
(य० १९, ८१)

भावार्थः—'ये दीर्घसमयावधि जटिला ब्रह्मचारिणो वा पूर्ण-शिक्षाजितेन्द्रिया भद्रा जनाः सन्ति त एव यजधातोरर्थं ज्ञातु-मर्हन्ति, न बाला अविद्वांसो वा। स होमाख्यो यज्ञो यत्र मांस-क्षाराम्लतिक्तगुणादिरहितं किन्तु सुगन्धिपुष्टमिष्टं रोगनाश-कादिगुणसहितं हविः स्यात् तदेव होतव्यं च स्यादिति'—

—आचार्यदयानन्दः।

अथ प्रज्वलिताग्नावाहुतीनां महत्त्वम्।

मांसम्। 'मन' ज्ञाने दैवादिकः। मन्यते जानाति येन तन्मां-सम्। 'मनेर्दीर्घश्च' इत्यनेनौणादिकः 'स' प्रत्ययो दीर्घश्च। 'रसाद्र-क्तं ततो मांसमिति' शरीरस्थस्तृतीयो धातुः। रक्तं जीवनस्य कारणं ततु ज्ञातः। यज्ञप्रकरणे तु मांसपदेन पशुवधमांसं न गृह्यते, प्रमाणाभावात्। भवन्त्यग्नेर्ज्वालाः सप्तविधाः काली कराली चेत्यादि मुण्डकोपनिषदुक्तास्तासु हुतं चतुर्विधं द्रव्यं सूक्ष्मो भूत्वा वायुसंयोगात् सर्वत्राकाशे प्रसरति तेन च मेघमण्डलं विशुद्ध्यति। न तत्राग्नौ कदापि मांसं प्रक्षेपणीयम्, वेदे तन्निषेधात्।

मांसशब्देन शतपथब्राह्मणस्यैव प्रमाणम्। यथा—

'मांसीयन्ति ह वै जुह्वतो यजमानस्याग्नयस्ते यजमानमेव ध्यायन्ति यजमानं संकल्पयन्ति' (श० प० ११, ७) 'मांसानि वा आहुतयः' (श० ९, २) ह वै जुह्वतो यजमानस्याग्नयो मांसीय-न्ति। पायसादीनामाहुतीरिच्छन्तीति मांसीयन्ति अग्नयः। प्रज्वलिताग्नावेव यजमानेनाहुतयो देया इत्यर्थः। 'जुह्वतः' इत्यनेन मध्ये विरामो न कार्यः। 'ते यजमानमेव ध्यायन्ति यजमानं संकल्पयन्ति' अनेन यावज्जीवनमग्निहोत्रं कर्त्तव्यमन्याधाननियमं

धृत्वेति। अग्नेर्जडत्वात् तस्य ध्यानं संकल्पनं वा न सम्भवति। पुनरत्र ध्यान संकल्पनं यदस्ति तदलङ्कारूपेणैव ज्ञेयमिति।

अग्नौ दत्ताहुतिः क्व यातीत्यत्र मनुः—

अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते।
आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः॥

अथ शतपथकारः स्वयमेव मांसशब्दार्थमाह—'एतद् ह वै परममन्नाद्यं यन्मांसं स परमस्यैवान्नाद्यस्यात्ता भवति।' (श० ११, ७)

अस्यार्थः—साधारणाऽसाधारणभेदादन्नं द्विविधम्। तत्र परममन्नमसाधारणं सुसंस्कृत पायसादिकं सत्त्वगुणप्रधानम्। साधारणन्त्वसंस्कृतान्नं यवमुद्गमाषादिकम्, प्रियङ्गुनीवारश्यामाकादिकञ्चेति। पौष्टिकपदार्थानां परमान्नानां पायसादीनां यत्राहुतयो दीयन्ते प्रज्वलिताग्नौ तत्र ता मांसाहुतयः।

अयमभिप्रायः-यज्ञप्रकरणे मांसशब्देन परमान्नस्य पायसस्यैव ग्रहणम्। नच शतपथकारेण मांसपदेन पशुवधमांसं गृहीतम्। अतो यत्र कुत्रापि तत्र पशुवधलेखोऽस्ति, न स शतपथकारस्य, प्रक्षिप्तत्वात् तस्येति। 'स परमस्यैवान्नाद्यस्यात्ता भवति' इति कथनादपि पशुवधमांसनिषेधः। स यजमानः परममन्नं पायसादिकमेवाऽत्तु नाऽमेध्यं दुष्टं मांसादिकम्।

शतपथे मांसखण्डनम्।

'पचन्ति वा अन्येषु अग्निषु वृथा मांसमथैतेषां नातोऽन्या मांसाशा विद्यते यस्या चैते भवन्ति' (श० ११, ७)

अस्यार्थः—वा अन्येषु गार्हपत्यादिभिन्नेष्वग्निषु मांसम् वृथा निष्फलम् पचन्ति । अथ अनन्तरम् एतेषाम् गार्हपत्याद्य-ग्नित्रयाणाम् अतः पायसादेः अन्या भिन्ना मांसाशा पशुवध-मांसभक्षणम् न विद्यते नास्ति, यस्य यस्याग्निहोत्रिणः उ इति वितर्के एते अग्नयः भवन्ति ।

अर्थात्, पशोर्वपामांसादिकमग्नौ गार्हपत्याद्यग्नित्रयमेवविभि-राहिताग्निभिर्न कदापि होतव्यं न केनापि भक्षणीयं वा, यतः प्राणिवधप्राप्तं हिंसात्मकं वपादिकं यज्ञे न क्वापि वेदानुकूलमिति ।

अथ बहुषु स्थलेषु वेदे मांसशब्दो दृश्यते तस्य कोऽर्थ इति चेन्मांसशब्दोऽयं बह्वर्थः । तद्यथा — 'एतदु ह वै परममन्नाद्यं यन्मां-सम्' (श० ११, ७) । अत्र परममन्नाद्यं यत् पायसं तन्मांसमुच्यते । 'माननं वा मानसं वा मनोऽस्मिन् सीदतीति मांसम्' (नि० ४, १, ३) । "माननं वा य एव हि मान्यो भवति तदर्थमेतत् संक्रिय-ते । मानसं वा सुमनसो हि तदुपाशयते । अथवा य एव हि मनस्विनो भवन्ति तैरुपाशयते । मनोऽस्मिन् सीदतीति वा सच-स्यैव हि मांसे मनः सीदति" इति देवराजयज्वा ।

आरण्यकेभ्यो मद्भ्यो देय परमन्न पायसादिकमेवात्र मांसं निरुक्तकारेण यास्कमुनिनोक्तम् । तदेव सत्त्वगुणप्रधानं माननमवलम्बते । दुग्धघृतशाकरादिभिर्युक्तपायसादिपदवाच्य-मांसमेवानेन मनः प्रसीदति शुद्ध्यति । तद्यथा—'आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः, सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः' (छान्दोग्य०) ।

पशुवधमांसभक्षणेन मनो दुष्टं भवतीति । तत् तमोगुण-प्रधानम्, ततस्तन्न ग्राह्यं यज्ञे ।

'यदा पिष्टान्यथ लोमानि भवन्ति । यदाप आनयत्यथ त्वग्

भवति। यदा संयौत्यथ मांसं भवति।' (श० पृ० १८, १२)। अयम्भावः—आदौ तण्डुलगोधूमयवादीनां पेषणम्। पेषणे कृते तेषामणूनि पृथक् पृथग् भवन्ति। अतस्तानि पार्थक्ये लोम-सदृशानि भवन्ति। ततस्तत्र जलमिश्रणे कृते सति तेन सिद्धं घृतपरिपक्वं पिष्टमपूपादिकं मांसमुच्यते अथवा जलमिश्रितं सिद्धं पिष्टमपि, मांसमपि।

'यदिमा आप एतानि मांसानि' (श० ७, ४, २)। अत्र जलं मांसमुच्यते।

'मांसेभ्य एवास्य पलाशः समभवत् तस्मात् स बहुरसो लोहितरसो लोहितमिव हि मांसम्' (श० ब्रा० १३)। (अस्य) पलाशवृक्षस्य (मांसेभ्यः) वाजेभ्यः (एव) पलाशः पलाशवृक्षः (समभवत्) समुत्पद्यते (सः) पलाशवृक्षः (बहुरसः) बहुरसवान् [लोहितरसः] लोहितरसवान् (हि) लोहितम् इव मांसम् पलाश-रसम् भवति (तस्मात्) पलाशरसस्य मांससंज्ञास्ति।

'त्वक् तोक्मानि मांसम्' [श० ब्रा० ८, ३]।

कात्यायनश्रौतसूत्रे सौत्रामणीनिरूपणे द्वादशसूत्रस्योपरि कर्काचार्य आह—'तोक्मशब्देन यवा विरूढा उच्यन्ते'। अत्र हरितानां यवानां मांससंज्ञास्ति।

"अग्निर्वै देवानां होत्रमुपैष्यञ्छरीरमधूनुत। तस्य यन्मांसमासीत् तद् गुग्गुल्वभवद्, यत् स्नाव तत् सुगन्धितेजनं, यदस्थि तत् पीतुदारवं तानि वै देवसुरभीणि। देवसुरभिरेव तदभ्य-ञ्जते"। (ताण्ड्यमहाब्रा० २४, १३, ५)। (वै) देवानाम् (अग्निः) अग्निदेवः (होत्रम्) हवनम् (उपैष्यन्) इच्छन् (शरीरम्) गुग्गुलु

वृक्षशरीरम् (अधूनुत) (तस्य) गुग्गुलुवृक्षस्य (यत्) (मांसम्) अन्तःस्थितसारम् (तत्) (गुग्गुलु) [अभवत्] [यत्] स्नावम् [तत्] [सुगन्धि] [तेजनम्] [यत्] [अस्थि] [तत्] (पीतुदारु) [वै] [एतानि] [देवसुरभीणि] [देवसुराभिरेव] [तत्] अभ्यञ्जते। अत्र गुग्गुलुवृक्षाद् यद्रसं निस्सरति तदेव गुग्गुलुरसं मांसमित्युच्यते। अस्यात्पर्यासः—

जायन्ते पुरपादपा मरुभुवि, ग्रीष्मैकसन्तापिताः।
शीतर्तौ शिशिरेऽपि गुग्गुलरसं मुञ्चन्ति ते पञ्चधा॥(रा०नि०)
आम्रस्यानुफले भवन्ति, युगपन्मांसास्थिमज्जादयो।
लक्ष्यन्ते न पृथक् त्वगुत्तया, पुष्टास्त एव स्फुटाः॥ (बृहन्नि०)

आम्रस्य अनुफले युगपन्मांसास्थिमज्जादयो भवन्ति, तु पृथक् अणुतया न लक्ष्यन्ते, पुष्टाः त एव स्फुटीभवन्ति। एवम् तिलचूर्णस्यापि मांससञ्ज्ञा। श्राद्धादौ फलैरहरहः श्राद्धं कुर्यान्न तु मांसेनाऽभक्ष्येणेति। जीवनामेव पितॄणां तत्। कुत्रापि मांसशब्देन 'जटामांसी' गृह्यते। एवम् 'मांसरोहिणी' इत्यपि मांसपदेन गृह्यते।

पशुवधविषये प्रश्नोत्तराणि।

(पू०) वेदे हिंसात्मको यज्ञः।
(उ०) हिंसात्मको न वेदे यज्ञः।
(पू०) मन्त्रेषु हिंसाविधानात्।
(उ०) भ्रमतस्तत्प्रतीतेः।
(पू०) योगरूढ्याऽऽर्यादिसिद्धेर्न भ्रमः।
(उ०) वेदे यौगिकव्यवहारनेभ्रमो रूढ्युपादाने।
(पू०) न, तथा सति नान्यत्र निर्वाहः।

(उ०) स्पष्टदर्शनं विधेयम्।

(पू०) छागस्य वपाया इत्यादि द्रष्टव्यम्।

(उ०) अजवदत्रापि योगेन निर्वाहः।

(पू०) वपाशब्दस्य कोऽर्थः ?

(उ०) धारोष्णदुग्धमेव वपाशब्देनोच्यते। अथवा, अन्तःस्थितसारः।

(पू०) लोकेऽप्यस्तीत्थं व्यवहारः ?

(उ०) आयुर्वेदे कपित्थमांसमाम्नातम्। सुश्रुते 'कपित्थमुद्धृते मांसे मूत्रगोजेन पूरयेत्'।

(पू०) पशुशब्दस्य कोऽर्थः ?

(उ०) अज्ञानावृतजीवः। तथा 'पशुना रुद्रं यजते' अत्र पशुं रुद्राय ददातीत्यर्थः।

(पू०) लोके क्वास्ति व्यवहारः ?

(उ०) पशुपतिर्लोकवेदयोः। लोके "पशुपतिर्विद्वान् पुरुषः" वेदे "पशूनां पतये" यजुषि।

(पू०) चतुष्पादादिविशिष्टप्राण्याकृतौ को दोषः ?

(उ०) निगमे तन्निषेधात्।

(पू०) तथा दर्शय।

(उ०) 'यजमानस्य पशून्पाहि' इत्यादियजुषि रक्षणदर्शनात्। तथैव यजुषि विनियुक्तोऽप्यन्यो मन्त्रः। 'ओषधे त्रायस्व स्वधिते मैनं हिंसीः'

(पू०) न ब्राह्मणेषु हिंसाविधानात्।

(उ०) वेदत्वं न ब्राह्मणानाम्।

(पू०) उभयभागात्मको वेदो मन्त्रब्राह्मणभेदात्।

(उ०) न, ऋगादिमन्त्रसंहिता एव वेदशब्दवाच्याः ।

(पू०) मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयमिति कात्यायनसूत्रात् ब्राह्मणानामपि वेदत्वम् ।

(उ०) यत्र यत्र कात्यायनसूत्रेषु वेदशब्दोऽस्ति, तत्र तत्र वेदशब्देन मन्त्रब्राह्मणयोर्ग्रहणम्, यथा 'अदेङ्गुणः ।' पाणिनीयसूत्रेषु यत्र यत्र, गुणशब्दस्तत्र तत्र, 'अ, ए, ओ' एषामेव वर्णानां ग्रहणम् । सोऽयं नियमस्तस्यामष्टाध्याय्यामेव । तथैव 'मन्त्रब्राह्मणयो'रिति परिभाषासूत्रं तस्मिन्नेव कात्यायनसूत्रे ननु सर्वत्रेति । अथवा, द्वितीयमुत्तरम्:—न, ब्राह्मणे गोपथे स्वस्य वेदेभ्यो भिन्नत्वदर्शनात् ।

(पू०) तत्राङ्गाङ्गिभावान्न पृथक्त्वम् ।

(उ०) न, तथा सति तत्सहायकानां कल्पादीनामपि वेदोक्तत्वात् ।

(पू०) भवत्वेवं का क्षतिः ?

(उ०) अनन्तत्वापत्तिः ।

(पू०) को दोषः ?

(उ०) प्रायश्चित्तविधिषु पारायणादौ चाऽपूर्तित्वम् । तथा सति धर्मलोपादनिष्टत्वापत्तेः । स्वप्नतरं ब्राह्मणेषु मन्त्रसंहितानामेव वेदत्वम् ।

(पू०) वेद ब्राह्मणानि शाखास्तथा न मूलात्ता: पृथग् दृश्यन्ते ।

(उ०) एवमिष्टसिद्धः शाखानां मूलानुकूलत्वात् । न शाखानुकूलत्वं मूलम्, मूलाच्छाखाः, न ताभ्यो मूलमिति कार्यकारणविरोधाच्च ।

(पू०) कर्तृद्वारा पशोः स्वर्गाप्तौ तद्धनने यागे को दोषः ?

(उ०) एवञ्चेत् कर्तुः पित्रादीनामपि स्वर्गाप्तिरस्तु ।

(पू०) वेदे छागादिशब्दैः किमर्थमुपदेशः ?

(उ०) परोक्षप्रिया इव हि देवा भवन्ति प्रत्यक्षद्विष इति दर्शनात् । परोक्षवादित्वस्य वेदानां प्रायिकत्वेनोपलब्धेः ।

(पू०) ब्राह्मणेषु कस्मिंश्चित् स्थाने मन्त्रसंहितास्था मन्त्राः प्रदर्शिताः किं नेत्युच्यताम् ?

(उ०) गोपथब्राह्मणे आदावेवादिमा मन्त्राः ऋगादीनां प्रदर्शिता न तु तत्र ब्राह्मणानां वाक्यानि प्रदर्शितानि ।

ननु भगवता पशूनामुपरि दयां प्रसार्य यागे कर्तृद्वारा तद्वध-मुपदिश्य तेषां स्वर्गप्राप्तिरुद्दिष्टाऽतो दयालुना न परमेश्वरादृत-गच्छति यागे पशुहननोपदेशेनेति चेद् भ्रमः । यतो वेदेषु पशुरक्षणमेवास्ति न तु तद्वधस्तस्मात् कथं वेदे वध उपदिष्ट इति वचनम् । 'हिनोता नो अध्वरं देवयज्या हिनोत ब्रह्म सनये धनानाम्' इत्यादिषु मन्त्रेषु 'अध्वर'शब्दो दृश्यते । तदर्थस्तु देवराजयज्वना लिखितं निरुक्ते "ध्वरा हिंसा तदभावो यत्र" ।

अथ न ब्राह्मणानि वेदा इत्यत्र प्रमाणम् ।

शतपथब्राह्मणे बृहदारण्यके अध्याये सप्तमे द्वितीये ब्राह्मणे कं० २८ 'तदेतदृचाभ्युक्तम् । एष नित्यो महिमेत्यादि ।' अत्र ऋचा वेदेन तदेतद् अभ्युक्तम् । मन्त्रब्राह्मणयोरैक्ये 'अपि वेत्थ ऋषेर्वचः श्रुतमिति' तदपि 'द्वे सृती अशृणवं पितॄणामहम्' इत्यादियजुर्मन्त्रः प्रमाणत्वेनोपन्यस्तः ।

एवमग्निष्टोमयागविधिप्रस्तावे द्वितीये काण्डेऽध्वराख्ये शतशो मन्त्राः प्रदर्शिताः, येभ्यो विज्ञायते ऋषयः कर्मकाण्डप्रदर्शनार्थं ब्राह्मणनाम्ना ग्रन्थरचनामकार्षुः । सा च परतः प्रमाणभूतैव मन्तव्या । अनेके इतिहासा ब्राह्मणेषु दृश्यन्ते तेषां किं शरणमिति ।

अथच कात्यायनस्यापि प्रमाणदाढ्र्यं वक्तव्ये मूलवेदेषु हि प्रत्यय आसीत् । अतएव पुष्ट्यर्थं 'छागो वा मन्त्रवर्णात्' इत्युक्तम् ।

पाणिनिमुनेरपि मन्त्रब्राह्मणयोर्भेद एवाऽभीष्टः । अतएव 'द्वितीया ब्राह्मणे' (अष्टा० २, ३, ६०) । 'पुराणप्रोक्तेषु ब्राह्मण-कल्पेषु' (अष्टा० ४, ३, १०५) । 'मन्त्रे घसह्वरणश' इत्यादिभेदेनोक्तत्वात् । एवम् 'छन्दो ब्राह्मणानि च तद्विषयाणि' अत्रोदाहरणेषु दृष्टेषु ब्राह्मणानि निगमात् पृथक् प्रतीयन्ते । काशिकाकारादिभिश्च पुराणैश्चिरन्तनैः प्रोक्तेषु ब्राह्मणेषु कल्पग्रन्थेषु चेति व्याख्यातम् ।

इत्थं प्राचां । नव्यानामपि मते चतस्रः मन्त्रसंहिता ईश्वरोक्ता अपौरुषेया इति । ब्राह्मणानि चानीश्वरोक्तत्वात् परतः प्रमाणानि मन्तव्यानि । यत्र यत्रेतिहासस्तत्र तत्र्य पुस्तक. नैव वेदेषूपलभ्यन्ते क्वचिदितिहासाः । यत्रेतिहाससम्भवस्तत्र रूपकं यथा वृत्रशक्रेतिहासः । ब्राह्मणेषूपलभ्यन्त इतिहासा यथा गोपथब्राह्मणे पूर्वभागे २१ पृष्ठे 'अनमेजया ह पारिक्षिता मृगयाञ्चरिष्यन् हंसाभ्यामभिलपत्युपाववृतस्थे' इत्यादि द्रष्टव्यम् । इति संक्षेपतो मन्त्र-ब्राह्मणयोर्भेदविषयः । पुनः प्रकृतमनुसरामः ।

राजसूयं वाजपेयमग्निष्टोमस्तदध्वरः ।
अर्काश्वमेधावुच्छिष्टे जीवबर्हिर्मदिन्तमः ॥ (अथर्व० ११,७,७)
मन्त्रे 'अध्वर' शब्दः । अध्वर इति यज्ञनामसु पठितं निघण्टौ ।

अध्वरशब्देन यज्ञे हिंसा निषिध्यते। वेदस्स्वयमेवोपदिशति हिंसा न कार्या। संभिन्नार्य्यमर्यादैर्हि स्वार्थिभिर्याज्ञिकैर्यदिदमुच्यते 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवतीति' तदपि तेषां वचनं तात्पर्याऽनभिज्ञस्य प्रामाण्यम। यतो निरपराधानां छागादीनां पशूनां वधे वैदिक्या हिंसाया नाभिप्रायः। अपितु वेदविहिता हिंसाऽहिंसैवास्ति। अत्राह मनुः—

या वेदविहिता हिंसा, नियताऽस्मिंश्चराचरे।
अहिंसामेव तां विद्याद्, वेदाद् धर्मो हि निर्बभौ॥
योऽहिंसकानि भूतानि, हिनस्त्यात्मसुखेच्छया।
स जीवंश्च मृतश्चैव, न क्वचित् सुखमेधते॥ (मनु० ५, ४४ ४५)

अस्मिंश्चराचरे संसारे या वेदविहिता हिंसा नियता तामहिंसामेव विद्यात्, हि यतः वेदाद् धर्मो निर्बभौ। य आत्मसुखेच्छया अहिंसकानि भूतानि हिनस्ति स जीवन् मृतश्च क्वचित् सुखं न एधते।

अहिंसकानां जीवानामुपरि सदैव मित्रदृष्ट्या रक्षणीया, हिंसकानाञ्च दमनोपायः कर्तव्यः। हिंसकमनुष्याणां सिंहसर्पादीनां वा वशीकारकरणे तेषां यथायोग्यदण्डदानपालने वधदण्डदाने वा तात्पर्यम्। भवति तेन न्यायस्य रक्षा, अन्यायस्य च विनाशः। अतएव—

आततायिनमायान्तं, हन्यादेवाऽविचारयन्॥
नाततायिवधे दोषो, हन्तुर्भवति कश्चन।
प्रकाशं वाऽप्रकाशं वा मन्युस्तं मन्युमृच्छति॥ (म० ८, ३५१)

सर्व एवाऽऽततायिनो राज्ञा दण्डनीयाः। 'मन्युस्तं मन्युमृच्छति' क्रोधः क्रोधं हन्ति। 'मन्युरसि मन्युं मे देहि' (य० १९, ९)

दुष्टानां शिक्षणार्थं तेषामुपरि क्रोधः कर्तव्यः, यतस्ते श्रेष्ठानां ह्वीकुर्य्युरिति। वेदलिङ्गाच्चापि सिद्धम्। तद्यथा—

'शासदव्रतान्' (ऋ० १, ५१, ८)

वेदे 'अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि' (य० १, ५) मनुष्या व्रतिनो भवेयुरिति। ये ब्रह्मचर्यादिव्रतं नाचरन्ति, अथवा येधर्माचरणं न क्रियते तेऽव्रतिनः। अव्रतिनां दण्डाज्ञास्ति।

अव्रतिनः के सन्ति? येषां स्वकीयमाचरणं पापविद्धम्, यश्चान्यैस्सहापि धर्मं नाऽऽचरति सोऽप्यव्रती। 'या दस्युरधरां अवातिरत (ऋ० १, ५१, ८) परमेश्वरो दस्यून् सदाचाररहितान् दुष्टान् यथायोग्यं दण्डं ददाति।

दण्डः शास्ति प्रजाः सर्वाः, दण्ड एवाभिरक्षति।

दण्डः सुप्तेषु जागर्ति, दण्डं धर्मं विदुर्बुधाः॥ (मनु० ७, १८)

'नेह भद्रं रक्षस्विने (ऋ० ६, ४, १२)

(इह) अस्मिन् संसारे (रक्षस्विने) दुष्टस्वभावनराय (भद्रम्) सुखं (न) भवेद्यथाऽजगति पापिनो न सुखं प्राप्नुयुरिति। चेत्तेऽपि सुखिनो भवेयुस्तर्हि को नरो धर्ममाचरेदिति। पापाचरणफलभोगे यद्दुःखं न तद्धिंसापत्तं, अपितु वृद्धिमापन्न एव तदिति, परिणामस्य सुखकरत्वात्। एवमेव यदा कश्चन पापिनं दण्डं दद्यात् तदा न सा हिंसा, वेदाज्ञापरिपालनात् न्यायकरणाच्चेति।

'मा मर्त्यस्य मायिनः' (ऋ० १, ३, २)

(मायिनः) छलकपटादियुक्तस्य पापिनः (मर्त्यस्य) मनुष्यस्य (तविषी) सेना (पतनीयसी) बलवती (मा) भवेत्। अर्थादीश्वरः पापिभ्यो जनेभ्यो नाऽऽशीर्वादं ददाति, न तेषामुन्नतिं विदधाति।

अतः पापाचरणात् पृथग् भूत्वा धर्माचरणमेवाऽनुष्ठातव्यं सर्वैर्मानवैरिति।

अवेदविहिता हिंसा न कैनाप्याचरणीयाऽत्र प्रमाणम्:—

'नाऽवेदविहितां हिंसामापद्यपि समाचरेत्' (मनु० ५, ४३)

अशास्त्रोक्तां हिंसामापद्यपि न समाचरेद् द्विज इत्यर्थः।

'अरिष्टः स मर्तो विश्व एधते॥ (ऋ० १०, ६३, १३)

(अरिष्टः) अहिंसकः (सः) (मर्तः) मनुष्यः (विश्वे) संसारे (एधते) वर्धते। अहिंसक एव मनुष्यो जगति स्वोन्नतिं कर्तुं समर्थो भवति। अर्थान्मित्रदृष्ट्यैव सर्वैः प्राणिभिः सह वर्तितव्यम्।

यज्ञादौ शुभे कर्मणि मांसाद्यभक्ष्याणां पदार्थानां प्रयोगो धूर्तैरेव कृत इति वेदितव्यम्। तद्यथा—

'सुरामत्स्यमधुमांसमासवं कृशरौदनम्।
धूर्तैः प्रवर्तितं ह्येतद्, नैतद्वेदेषु कल्पितम्'॥

यैर्घृतपशुः पिष्टपशुर्वा क्रियते न ते वैदिकाः। यतो नानुकरणे तेषां वधवासना दूराभवति। तस्माद् यज्ञे पशुवधं विहाय पूर्वोक्तानां संस्कृतानां चतुर्विधानां द्रव्याणामेव हवनं वेदशास्त्राऽनुकूलमिति सिद्धान्तः।

समाप्तम्

मुद्रकः—भास्करमुद्रणालयाध्यक्षः
चन्द्रमणिविद्यालङ्कारः पालिरत्नश्च देहरादूननगरे ।

धर्मोपदेशक ग्रन्थमाला का—तृतीयोपदेश.

श्रीः

तार्किकशीर

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम ।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे ॥
(भगवद्गीता)

सम्पादक.

पण्डित कालूराम शास्त्री.

पण्डित सुमनचरणलाल के प्रबन्ध से "शारदा-प्रेस"
कानपुर में छपा सम्वत् १९६९

॥ श्रीः ॥

तार्किकशरीर

सजल जलद नीलं दर्शितोदार लीलं

करतल धृत शैलं वेणुनादैरसालं ।

व्रजजनकुलपालं कामिनीकेलिलोलं

तरुणतुलसिमालं नौमिगोपालबालम ॥ १ ॥

मित्रवर ! जिस भारतवर्ष में जिस आर्यावर्त्तमें जिस आर्यों की इस पवित्र भूमिमें पुराने समय में प्रत्येक मनुष्य धर्मके आगे शरीरकी कुछ हैसियत नहीं समझताथा काम पड़नेपर धर्मकी रक्षा के लिये अपने प्राणोंको भी निछावर करदेताथा जिस भारतवर्षमें बड़े २ राजा और महाराज भी समित्पाणि होकर ब्राह्मणों के पास ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति के लिये आयाकरतेथे और बड़ी श्रद्धा से सुनकर उस ज्ञान से मोक्षकी प्राप्ति करतेथे जिस भारतवर्षमें प्रत्येक ब्राह्मण ब्रह्मज्ञानी होताथा जिस भारतवर्षमें वेद मन्त्रोंपर पूर्ण विश्वासथा आज उसी भारतवर्षमें उन्हीं ऋषि राजा और

राजाओंकी सन्तान धर्म को तिलांजलि देरहीहै आज ब्रह्म-
विद्याकी कभी कोई इच्छा भी नहीं करता आज वेदोंपर
विश्वास नहीं है आज धर्ममार्ग वही है जो जिसके मनको
अच्छा लगे जिसमें सुख मिले आजकल धर्मकर्म सब स्वाहा
होगये शेष रहे धर्मकाभी खण्डन कियाजारहा कर्मकांड मार्ग
पर हड़ताल पोतीजातीहै और कहांतक कहें कि ईश्वरके
ऊपर भी शङ्का होरही है आज ये मनुष्य ईश्वरके शरीर
धारण करनेपरभी महाभारतका युद्ध खड़ा करतेहैं ये सज्जन
हिन्दू सन्तान होनेपरभी अवतार सिद्ध होनेके भयसे संस्कृत
साहित्यको तिलांजलि देबैठे हैं कुछ नाममात्रके लिए केवल
इतना कहतेहैं कि हम मन्त्रभाग वेदको मानतेहैं लेकिन जब वेदमे
ईश्वर के अवतारकी सिद्धि होनेलगती है तो उस मन्त्रभागको भी
तिलांजलि देकर तर्कपर उतर पड़तेहैं जिसका प्रयोजन यह
है कि यदि वेदसे अवतारखण्डन न हुआ तो न सही तर्क
से तो होगा ये लोग इतनाभी विचार नहीं करते कि वेदके
सामने तर्क की कुछ हस्ती नहीं इनको इतनाभी मालूम
नहीं कि हिन्दुओंका प्रत्येक मन्तव्य तर्क और फिलासफीसे
सिद्धकर बनाहै किसी विषयकाभी विचार न करें ये लोग
अपनी थोथी तर्कोंसे वेदमान्य ईश्वरावतार को उड़ाना
चाहतेहैं यह लोग जो तर्क अवतार के खण्डन में देतेहैं उनमें
से प्रथम तर्क यहहै कि——

(१) ईश्वर तो अजन्मा है फिर अजन्मा का जन्म कैसा ? सज्जनाग्रगण्य ! आपने इनका यह प्रश्न सुना देखा क्या विलक्षण प्रश्न करते हैं यह समझते हैं कि हमारे इस प्रश्नका कोई उत्तर नहीं देसक्ता यह सज्जन इतना नहीं सोचते कि जिस हिन्दूधर्मके सामने बड़े २ तार्किक चार्वाक जैसे विद्वान् शिर झुकागये जिस धर्मके सन्मुख प्रबल तार्किक बौद्ध भी बोलगये उत्तर देनेमें असमर्थ होगये उस धर्म के सन्मुख बिनापढ़े या कुछ अंग्रेजी जाननेवालोंकी तर्क क्या करेगी बल्कि तर्कोंका बच्चा यह कहांतक ठहर सकेगा इनको इतना भी ज्ञान नहीं कि यह हमारी तर्क ठीक है प्रबल है या कि गुल्ल कमजोर। अस्तु इन्होंने यह प्रश्न यह उत्तर हमारे ऊपर नियोग किया है इसकारण से इसका उत्तर देना यह हमारा कर्तव्य है इसको मनमें रखकर मैं इनके इसप्रश्नका उत्तर देताहूं इसको जरा गौरसे एकाग्रमनकरके विचारें कि जो उत्तर मैं देताहूं वास्तविकमें यह उत्तर तोषदायक है या नहीं।

उत्तर देनेमें प्रथम मेरी एक यह प्रार्थना है कि थोड़ी देरके लिये आप ईश्वर की इस तहकीकातको तो रोकदें थोड़ी देरकेलिये ईश्वर के इस विचारको बन्द करदें आप प्रथम ईश्वर के निर्णयका कष्ट क्यों उठाते हैं पहिले आप अपना तो विचार करलें आप यह तो सोचें कि हम और आप कैसे हैं आप कहते हैं कि हमारा जन्म सम्बत् १९०२ में हुआ था

आप कहतेहैं कि सम्वत् १०२० में हमारी माताका स्वर्गबास होगया आप यह भी कहते हैं कि हमारा विवाह चौधरी धमधूसरसिंह की प्यारी पुत्री यशोदादेवी से हुआ है सम्वत १०२३ में हमारे पिता घसींटे का परलोकगमन होगया संवत १०२४ में हमारा प्राणप्यारा अगड़ पुत्र पैदा हुआ आप कहते हैं कि सम्वत् १०२४ में ही हम युनिवर्सिटी में कामयाब हुए ग्रेजुयेट कहलानेलगे सम्वत् १०२७ में हम वकालत में पास होकर वकालतका काम करने लगगये फिर धीरे २ हमारे ६ पुत्र हुए और २ कन्यायें हुईं सम्वत १०५० में हमारा यह हाल हुआ कि अब मरे अब मरे अब प्राण छूटे अब दम निकला आखिरकार हमारा दमही निकलगया सबलोग हमारी अन्त्येष्टिकी तैयारी में लगे फिर कुछ जीवन शेषथा इसकारण फिर जी उठे सम्वत् १०५३ में ईश्वर की कृपासे हमारे नाती (पौत्र) उत्पन्न हुआ फिर आप कहते हैं कि सम्वत् १०६० में हमारे (प्रपौत्र) पन्ती हुआ अब वृद्ध होकर आपके सन्मुख बैठे हैं ऐसी २ आप अपनी अनेक कथा सुनाते हैं यदि आपकी यह सब कथा लिखीजावे तो कोई आश्चर्य नहीं है कि टाटराजस्थानसे दूना हिस्सा आपके जीवनचरित्रकाही बनजावे यह आप अपनी बातें सच्ची कहते हैं कि झूंठ क्या सचही आप सम्वत् १००१ में पैदा पदाहुए थे क्या आपने सचही जन्म लेलिया क्या आप

बच्चे बनकर माताका दूध भी पीते थे क्या आप ९ महीने माताके गर्भ में भी रहे थे क्या सचही सम्वत् १०२१ में आपका विवाह भी होगया क्या अपनी धर्मपत्नीका संकल्प आपने अपने हाथमेंही लियाथा आप सच कहते हैं या मखौल करते हैं क्या सम्वत् १०२३ में आपके पिता पर्संटि का सचही स्वर्गवास होगया क्या आपके पिता भी होगये क्या आप पर्संटि के पुत्र भी हैं बात स्वप्नकी है या जागते समय की क्या सचही सम्वत् १०२४ में आप ग्रेजुवेट भी होगये यह तो नशेबाजोंकीसी बातें हैं क्या आप सचही सम्वत् १०२७ में वकालत करने लगगये क्या आपके आधा दर्जन पुत्रभी पैदा होगये क्या सचही आपके २ सौभाग्यवती पुत्री भी हैं फिर क्या आप सम्वत् १०४० में मरने भी लगगये थे क्या आप अब आगे को मरभी जावेंगे क्या यहबात ठीक है कि संवत् १०४० में आपके पौत्रभी उत्पन्न हुआ था फिर पौत्रही पौत्र नहीं बल्कि संवत् १०६० में प्रपौत्रभी पैदा होगया क्या इनबातोंपर आपका सच्चा यकीन है क्या ये बातें आपकी आंखके सामने गुजरी हैं ये सब कथा तो आपकी रही अब आप एक कथा मेरी भी सुनलें एक दिन मैं बैठा हुआ उपनिषद् देखरहाथा उसको पढ़ते पढ़ते एक जगह कुछ आपका समाचार वहांपरभी मिला आपकी कुछ कथा वेद में मिली वेदने आपके स्वरूप आपकी

हालतको भी बतलाया आपको वेद कैसा बतलाता है आपके बारे में वेदका क्या कथन है जरा इसको भी समझलें वेद आपका कहना है कि—

नजायते म्रियते वा विपश्चि-
न्नायंकुतश्चिन्न बभूव कश्चित् ।
अजोनित्यःशाश्वतोऽयं पुराणो
नहन्यते हन्य माने शरीरे ॥

कठ० उप० वल्ली० २ मन्त्र० १८.

अर्थ—यह जीव कभी पैदा नहीं होताहै और न कभी मरताहै यह ज्ञानीहै और यह किसीके जरियेसे जैसे आप पैदा नहीं हुआ ऐसेही इससे भी कोई पैदा नहीं होता यह अजहै इसका जन्म नहीं होता यह अजन्माहै यह नित्यहै सदाका है पुराणोंसे भी प्राचीनहै शरीर मरनेहै यह कभी नहीं मरता।

इसबातको केवल वेदही नहीं कहता किन्तु जगत्प्र- सिद्ध गीताकी श्लोकभी कहतीहै भगवान श्रीकृष्णचन्द्रजी अपने सेवक अर्जुनसे कहतेहैं कि—

न जायतेम्रियते वा कदाचि-
न्नायं भूत्वा भविताबानभूयः ।

अजोनित्यः शाश्वतोयंपुराणो
न हन्ये हन्य माने शरीरे ॥

भ० गी० अध्या० २ श्लो० २०

अर्थ—यह जीव न कभी मरता है और न कभी पैदा होताहै, और न कभी होकर फिर होताहै। अज है नित्य (सदा रहनेवाला) शाश्वत (सदा न बदलनेवाला) है पुराणोंमें पुरानाहै। शरीरके नाश होनेपर नाश नहीं होता आप वेद और गीता ने कैसे बतलाये आप तो वेद और गीतामें अज है आपका कभी जन्म नहीं हुआ आप तो अजन्मा है फिर आप कैसे कहतेहैं कि सम्बत १९०१ में हमारा जन्म हुआ क्यों साहिब आप तो अजन्मा होकर पैदा होजाते है और आप तो अजन्मा और अजन्माके पिताका नाम धर्मीहै आपके तो माता पिताभीहै आप अजन्मा रहकरभी धर्मपत्नी से विवाह करलेते है आप अजन्मा और फिर आपही कालिजमें बारह तेरह वर्ष पढ़कर ग्रेजुवेट बनगये आप तो अजन्मा होकर लोगोंकी वकालत करें आप अजन्मा हो ? दर्जन लड़के लड़कीभी पैदा करलेतेहैं आप तो अजन्मा होकर मरतेभी है आप तो अजन्मा और आपके पौत्र प्रपौत्र आप अजन्मा हो बच्चा बने जवान होजावें बूढ़े होकर लकड़ी टेक २ कर चलें आप अजन्मा होकर थियेटरमें जावें

मजा उड़ावें होटलके बर्तन तक चाटडालें दिनभरमें ? दुर्जन लेमनटभी डकार जावें दूसरोंकी पूँजीतक हजम करलें आप तो अजन्मा होकर संसार के सब काम करलें और इसपर कभी चूंतक न करें कभी शिर तक भी न हिलावें और ईश्वर अजन्मा होकर शरीर धारण करले तो तुम्हारे पेटमें वाय-गोला उठे धन्य है ऐसे इन्साफ पर और धन्य है ऐसी बुद्धि पर जीव अजन्मा होकर शरीर धारणकरे उसको तो यह हमारे वेदपाठी भाई मानलें मंजूर करलें और यदि प्रभु परमात्मा जन्मा होकर शरीर धारण करे तो उसपर युद्ध मचावें और जीभों की लपालपी दिखलावें और मारे हुज्जत के मगजका गूदातक निकाल डालें मैं इनसे यह पूछताहूं क्या आपका ईश्वर जीव कितनी भी ताकत नहीं रखता क्या वह जीवसे भी निर्बल है कि जो जीव तो अजन्मा होकर शरीर धारण करलेगा और ईश्वर न कर सकेगा बस इनकी जो यह पहिली तर्क थी कि अजन्माका जन्म नहीं होता इसपर पानी फिर गया इसकी अन्त्येष्टि होगई इस तर्कको उड़ाने के लिये अजन्मा जीवका जन्महोनाही एक प्रमाण काफी है ।

आगे का हाल सुनिये जब ये इस तर्क पर हार जाते हैं इसके ऊपर जब इनको कोई उत्तर नहीं आता तब लाचार होकर अपनी हारको स्वीकार न करके चालाकी के साथ

एक दूसरी तर्क ऐसी सफाई से उठाते हैं कि मानो यह पहिलीही तर्क है वह दूसरी तर्क इनकी यहहै कि—

(२) ईश्वरको शरीर धारण करने की क्या जरूरत इनकी प्रथम तर्क तो ईश्वरकी तहकीकात में थी और अब यह दूसरी तर्क ईश्वरकी जरूरतों की तहकीकात में है इसके ऊपर मेरा यह उत्तर है कि क्या जीवमें इतनी शक्ति होगई जो ईश्वरकी जरूरतों की वह तहकीकात करले संसारमें किसी धर्ममें भी कोई एक भी ऐसा मनुष्य नहीं है जो कि ईश्वर की जरूरतों का सवाल उठाताहो फिर यह कोई तर्क भी नहीं है अस्तु ईश्वर की जरूरतों को यही समझतेहो तो समझतेरहो हमतो नहीं जानते इनसे हमारा एक यह प्रश्न है कि क्या आपलोगोंने ईश्वरकी और जरूरतों को समझ लिया जो अवतार धारण करने की जरूरत को पूछते हैं यदि यह कहें कि नहीं तो फिर सबकी तहकीकात को छोड़कर केवल अवतारकी जरूरतकीही तहकीकात क्यों कीजाती है उसकी सब जरूरतों का फैसला क्यों नहीं समझाजाता और बादमें यह भी संदेह खड़ा होताहै कि शायद इन्होंने ईश्वरकी और जरूरतों को समझ लियाहो अच्छा परीक्षा के लिये इनसे एक दो प्रश्न करो इनको बतलाना होगा कि ईश्वर बड़े विराट अनेक ब्रह्माण्डों को रचे और उन सब प्राणियों के कर्मोंका मागरोज़ अपने

ऊपर रक्खे इसकी ईश्वरको क्या जरूरत है (२) यह भी बतलाओ कि खैर यह संसार तो बनाया सो बनाया परंतु जलका "ग्राह" और "शेर" व "सांप" क्यों बनाये जो कि ईश्वरके बनाये मनुष्य और दीगर प्राणियोंकोही भक्षण कियेजाते हैं (३) कोई यही बतलादे कि ईश्वरने किसी प्राणीकी यह प्रकृति क्यों करदी कि वह दूसरे प्राणियोंको खानेसेही अपना पेट भरसकता है प्राणी जीव जन्तुओं से भिन्न पदार्थ खाकर वह जीवितही नहीं रहसकता इसकी क्या जरूरत इसको भी छोड़ो (४) कोई यही बतलादे कि यह बर्र ततैया बिच्छू क्यों बनाये इनकी क्या जरूरत कहीं जरासा छूदें तो मनुष्य नाचमें गौहरजानको भी मात कर देता है इसेभी रहने दीजिये (५) कोई यही बतलादे कि ईश्वरको इस संखियेके बनानेकी क्या जरूरत कि जो खाया कि आध घण्टामेंही ढेर होगया अच्छा (६) कोई इतनाही बतलादे कि मनुष्यके मुखपर दाढ़ी और मूंछ क्यों बनादी मस्तकपर बाल क्यों लगादिये यदि आठवें दिन नाईको याद न कियाजावे तो शूर्पणखासी सूरत बनजावे अस्तु इसको भी छोड़दो (७) तुम यही बतलाओ कि इस प्लेगमहामारी की क्या जरूरत कि जिसने हजारों नहीं बल्कि लाखों घर बे चिराग़ करदिये जिनका कोई नामलेवा पानीदेवा नहीं रहा बस सभी बातोंपर चुप (८) अच्छा

कोई यही बतलादे कि ईश्वरने बबूर (कीकर) के कांटे क्यों लगाये बस इन प्रश्नोंमेंसे किसी एक प्रश्नका भी उत्तर कोई एक मनुष्य नहीं देसकता फिर जब ईश्वरकी एकभी जरूरतका उत्तर ये नहीं देसकते ये ईश्वरकी एक जरूरत को भी नहीं जान सकते तो फिर ये लोग अवतार की जरूरत को क्या समझेंगे इन लोगोंने आजतक भी ईश्वरकी किसी जरूरतका उत्तर नहीं दिया खैर न दिया तो न सही हम तो इनको अवतारकी जरूरतका उत्तर देते हैं हमारे बड़ोंने हमारे बुजुर्गोंने भारतवर्ष के महात्मा पूर्वजोंने कोई विषय ऐसा नहीं छोड़ा कि जिसका उत्तर हमको देना पड़े उन्होंने प्रत्येक विषयके उत्तर अपनी लेखनी से लिखदिये इस विषय में मैं प्रथम हिस्ट्री का प्रमाण देताहूं सुनिये एकदिन यही प्रश्न शाह अकबरने बीरबलसे किया कि बीरबल हमने सुनाहै कि हिन्दुओंके धर्म पुस्तकोंमें यह लिखाहै कि ईश्वर अवतार लेताहै इस अवतारकी क्या जरूरतहै क्या वह अपने स्थानपरही रहकर अपने पारषद या देवताओंके द्वारा या अपनी शक्ति से उस कामको नहीं करसकता यह सुनकर बीरबलने प्रार्थना की कि हुजूर इसका उत्तर श्रीमान् को मैं ६ महीने बाद देसकताहूं बादशाहका सवाल हारजीत के कारण से नहीं किया था बल्कि निर्णयके पहलूको लिये हुए किया था इस कारण से बादशाह ने कहा कि बहुत

अच्छा आप ६ महीने बादही उत्तर देना इसके बाद बीरबलको इस उत्तरके देनेकी धुन सवार हुई कुछ दिनके बाद बीरबलने एक बहुत होशियार तजर्बेकार मुसव्वर बुलाया और उससे एक मोमका लड़का हूबहू वैसाही बनवाया जैसा कि उस समय बादशाह का एक साल का पुत्र था इसके बाद उसपर रंग करवाकर ऐसा बनवादिया कि जिस समय उस बच्चेको होशियार से होशियार मनुष्य देखता तो यही कह उठता कि यह तो बादशाह का पुत्र है जैसी पोशाक बादशाह का पुत्र पहिनता था वैसीही पोशाक इसकेलिये बनवादीथी यह सब काम होजाने पर एक दिन बीरबलने बादशाह से प्रार्थना की कि हुजूर आज गर्मी बहुत है मेरी इच्छा है कि मैं और हुजूर नाव पर बैठकर यमुना की सैर करें हवा खावें बादशाहने स्वीकार कर लिया नाव बहुत उत्तम रीतिसे सजाईगई सायंकालके सातबजेके बाद बादशाह और सर्दारोंके सहित बादशाह बड़े २ आफिसर और हुक्कामों को लेकर नाव पर पहुंचे उसी समय बड़े २ तैराक मल्लाह भी नाव पर आगये लेकिन बीरबलको आनेमें कुछ देर होगई नाव किनारे पर रुकी हुई थी बीरबलका इन्तजार होरहा था कि इतनेमेंही बीरबल उस नकली बच्चेको गोदमें लियेहुए पहुँचगये बीरबल के सवार होनेकेबाद-शाही हुक्म हुवा कि नाव जल्दमें बढ़ाई जावे बादशाह का

हुकुम पाकर मल्लाहोंने नाव बढ़ाई चलते २ जब नाव बीच धारमें पहुँची कि बीरबलने उस नकली लड़के को हाथ हिलाते हुए मानो खुदही गिर पड़ा इस प्रकारका बहाना बनाते हुए लड़के को गोदसे धारमें खिसकादिया और चिल्ला उठा कि हाय २ लड़का धारमें गिर गया बादशाह उस नकली लड़केको अपना पुत्रही समझे था जब देखा मेरा प्यारा बच्चा यमुना में डूबाजाता है प्रेम से विह्वल हो किसी को भी आज्ञा न देकर वस्त्र पहिनेहुयेही अपने आप जल में कूद पड़ा और तैरकर एकक्षणभरमें बच्चेके पास पहुँच गया उस बच्चेको पकड़ हृदय में लगाया लेकिन देखने से ज्ञान हुआ कि लड़का नकली है यह हाल देखकर बादशाहको क्रोध आगया इतनेमेंही मल्लाहों से बढ़ाईहुई नाव बादशाह के समीप आगई बादशाह नाव पर चढ़ा और लाल २ आँखें दिखाते हुए बीरबलसे कहने लगा कि ऐ बीरबल इतना अनौचित्य यह सुनकर निर्भीत बीरबलने उत्तर दिया कि हुजूर को भी इतना अनौचित्य न करना था बादशाहने कहा कि हमने कौन अनौचित्य किया बीरबलने कहा कि आपके पास बाडीगार्ड मौजूद सर्दार और अमीर उमरा मौजूद बड़े बड़े हुक्काम और बहादुर मौजूद बड़े २ आफीसर और खास में दीवान मौजूद बड़े तैराक मल्लाह मौजूद इनसबके मौजूद होते आप स्वतः जलमें कूदपड़े यह अनौचित्य नहीं

तो क्या है बादशाहने उत्तर दिया कि बीरबल मैं अपने पुत्र के प्रेममें मग्न होगया मुझको जानपड़ा जबतक मैं हुक्म देताहूँ तबतक मेरा बच्चा डूबाजाता है इसकारण मैं खुदही कूदपड़ा कपड़े भी नहीं उतारे उससमय हाथ जोड़कर बीरबलने कहा कि हुजूर उसदिनके अवतारके प्रश्नका उत्तर है जब भक्तपर कोई कष्ट पड़ता है तो परमात्मा किसी देवता को आज्ञा न देकर स्वतः उसकी रक्षा करता है जैसा कि आपने अपने पुत्रके लिये किया पुराणोंमें इसके अनेक उदाहरण हैं और भगवान श्रीकृष्णचन्द्रजीने अपने श्रीमुख से फर्माया भी है कि "परित्राणायसाधूनाम्" ठीक उत्तर पाकर बादशाह अत्यन्त प्रसन्न हुआ यह उत्तर मनगढ़न्त नहीं वरन शास्त्रोक्त और घटनाओंके अनुकूलही उदाहरणमें देखिये कि जिस समय गजको ग्राहने पकड़ा वह प्रार्थना करता है—

नमोनमस्तुभ्य मसह्य वेग
शक्ति त्रयायाखिल धी गुणाय ।
प्रपन्न पालाय दुरन्त शक्तये
कदिन्द्रियाणा मनव्याप्य वर्त्मने ॥१८॥
एवं गजेन्द्र मुपवर्णितनिर्विशेषं
ब्रह्मादयो विविधलिंगधराभिमानाः ।

नैते यदोपससृपुर्निखिलात्मकत्वा-
त्तत्राखिलामरमयोहरिराविरासीत् १९॥

अर्थ–(असखवेद) अत्युत्कट गमनवाले परमेश्वर की तीन शक्ति हैं जिसमें समस्तजनोंकी बुद्धियोंके ज्ञाता शरण आये की रक्षा करनेवाले दुरन्तशक्तिवाले कुत्सित इन्द्रियों से नहीं प्राप्त है मार्ग जिसका ऐसे जो आप हैं आपको नमोनमः प्रणाम है। इसप्रकार गजेन्द्रसे वर्णित स्तुतिको सुनकर विविध शरीरवाले ब्रह्मादिक जब तक रक्षाके निमित्त उद्यत होतेहोरहे तबतक समस्तदेवमयप्रभुपरमात्मा सब स्थानों में व्याप्त होनेसे उसीस्थानसे प्रगट होगये।

इसीको कोई कवि भाषामें कहता है कि जगदीश्वर किस शीघ्रतासे शरीर धारण करके पहुँचे—

जौलों पील प्यासो पय पीयन लाग्यो तौलों
धायो धीर ग्राह ज्यों मृगापै वीर शेरहै।
वेगि पग पकरि पिछार कर जोर खैंचि
जान चाह्यो जालिम जहांपर जल ढेरहै।
विकल विनीत बैन ताके सुनि दीनबन्धु
प्यादे पायँ दौरे हरि जान्यो हेरफेरहै।

गजको पुकारत भई है देर जाहिर
पै गजको उबारत भईना कुछ देर है ।

अब यहां विचारलें कि ईश्वरको अवतार धारण करने की क्या जरूरत इसका विचार करें और मेरे प्रश्न का उत्तरदें मैं इनसे पूछताहूं कि ईश्वरने वेद क्यों बनाये इसका क्या उत्तर देंगे ये यही उत्तरदेंगे कि प्राणियों पर दया करने के निमित्त यदि वेद न बनायेजाते तो प्राणियों को धर्म और ब्रम्हज्ञानका मार्ग न मिलता उनको धर्म मार्ग मिले वह धार्मिक हों ब्रम्हज्ञानके ज्ञाताहों इस कारणसे ईश्वर ने वेद बनाये मैं कहताहूँ कि ईश्वरको इससे क्या प्रयोजन मनुष्य चाहे धार्मिक बने या अधर्मी हो ब्रम्हज्ञानी बने चाहे मूर्ख रहे ईश्वर इन बखेड़ों में क्यों कूदपड़ा ईश्वरने जब इनको ठीक रास्ता बतलानेवाली पुस्तक निर्माण की उनपर दया की तो जानपड़ता है कि जीवोंपर उसका प्रेम है जहां प्रेमहो उसीस्थानपर दया होती है बस जिस प्रेमसे ईश्वर वेद बनाता है बस भक्तपर कष्ट पड़नेपर उसकी रक्षाके निमित्त उसी प्रेमबन्धन में बँधकर शरीर धारणकरके कूद पड़ता है बस अवतार धारण करने और भक्तोंपर दया उनकी रक्षा करना भक्तोंको कष्टसे बचाना यही अवतार धारणकरने की जरूरत है बस अवतारकी जरूरतके प्रश्नकी समाप्ति होगई अब आगेकी तर्क देखिये इनकी तृतीय तर्क यहहै कि--

(३) निराकार ईश्वर साकार कैसे होजाताहै क्योंकि यदि वह शरीर धारण करलेगा तो फिर निराकार कैसे रहेगा । इसका उत्तर यहहै कि—क्या वह निराकारसे साकार नहीं होसकता यदि नहीं होसकता तो फिर वह सर्वशक्तिमान कैसा यह शक्ति तो उसमें हैही नहीं जब वह निराकार से साकार नहीं होसकता तो उसको सर्वशक्तिमान मत कहो बल्कि यह कहो कि एक शक्ति कम सर्वशक्तिमान है क्योंकि निराकार होकर शरीर धारण करनेकी शक्तिही उसमें नहीं ।

द्वितीय—जब वह अवतारही धारण नहीं करता और ईश्वरका अवतार होताही तो फिर संसार में 'अवतार' शब्द कैसा रूपके बिना संसार में कोई नामही सुननेमें नहीं आता जब संसारमें रूपके बिना कोई नामहैही नहीं तो फिर यह "अवतार शब्द कैसा है जरा इसको भी तो बतलाओ ।

तृतीय—इनको इतना भी ज्ञान नहीं कि निराकारमें किसने समास किया और इसका अर्थ क्या है निराकार में (निरादयः क्रान्ताद्यर्थे पञ्चम्या) इस वार्तिक से समास होकर यह अर्थ होगया कि दूर होगयाहै आकार जिससे उसको कहते हैं निराकार सो अब यहां पर विचार करो कि दूर होगयाहै आकार जिससे दूर तो तबही न होगा जबकि उसमें पहिले मौजूदहो यदि मौजूद नहीं था तो दूर होना नहीं बनेगा यदि उससे आकार दूर नहीं हुआ

तो फिर वह निराकार नहीं कहलासकता और निराकार का अर्थ यही है कि दूर होगया आकार जिससे बस निरा-कार शब्दसेही सिद्ध होगया कि पहिले वह साकार था इसी कारण ईश्वरको माननेवाले ईसाई मुसल्मान सनातन धर्मी आदि २ सृष्टि के आरम्भ में ईश्वरको साकार मानतेहैं ।

चतुर्थ—जब ईश्वरमें आकार नहीं है जब कि वह आकार धारणही नहीं करता तो फिर जानबूझकर उसमें हमारे आकार शब्दको क्यों मिलाते हैं आप जानते हैं कि यह आकार शब्द उसमें कहां मिलाते हैं निराकार में यह हमारे आकारको देखो फिरतेहैं निराकारमें से हमारे आकार शब्दको निकाल डालें फिर बतलावें ईश्वर कैसा है अच्छा अब निराकार पदमेंसे आकार तो निकालदिया शेष क्या रहा 'निर' इनका ईश्वर कैसाहै 'निर' है क्योंकिये अब तो हाथ से ईश्वरही चला अच्छा निराकार बनाया बिल्कुलही उड़ादिया जब ये उड़ानाही चाहते तो साफ २ क्यों नहीं कहते कि ईश्वरहैही नहीं या हम मानतेही नहीं ये सफाई से पालसीसे काम क्यों लेते हैं ।

पञ्चम—इनसे यह तो पूछो कि आपका ईश्वर रहता कहां है इसका यही उत्तर देते हैं कि सब जगह पर मौजूद है अच्छा जब इनका ईश्वर सब स्थानों में है तो क्या वह पृथिवी में है क्या वह जलमें और क्या वह अग्नि

में भी है यदि ये कहें कि नहीं तो फिर बतलावें सब जगह कहां है यदि ये कहें कि पृथिवीमें है जलमें है बस तब तो वह शरीरधारी हुआ क्योंकि वह सब जगह व्यापकहै और इसी कारणसे वह सर्वव्यापक कहलाता है जब वह व्यापक है तो पृथिवी आदि व्याप्य है व्याप्यका व्यापक हमेशः शरीर होताहै बस इनके ईश्वरका पृथिवी शरीर है जल शरीर है वह अग्निमें मौजूद है अग्नि उसका शरीर है सब पृथिवी आदि उस परमात्मा के शरीरहैं इसी कारण वेदकी श्रुति कहतीहै कि "पृथिवी यस्य शरीरम्" "जलंयस्य शरीरम्" "अग्निर्यस्य शरीरम्" "वायुर्यस्य शरीरम्" यह तो कहते कि उसके शरीर नहीं और अब तो इतने २ लम्बे शरीर निकलपड़े कि असंख्य शरीर उससेमें बनते हैं और असंख्योंही शरीर उसपर फिरते हैं और असं-ख्यही शरीर नित्यप्रति परमात्माके शरीर में मिलजाते हैं अब आपही सोचलें कि उसके शरीर है या नहीं ।

(पक्ष) जब संसारके सम्पूर्ण निराकार पदार्थ साकार होजाते हैं तो क्या ईश्वर शरीर धारण नहीं करसक्ता सबसे अधिक और विभु निराकार आकाश है जब कि आकाश भी साकार होजाता है तो क्या ईश्वर साकार न होसकेगा यदि ये यह सवाल करें कि निराकार आकाश साकार होजाता है यह कहां लिखा है मैं कहता हूँ कि सब जगह

वेदमें स्मृति में और आधुनिक और प्राचीन साइन्समें किन्तु इन बातोंको लिखेपढ़े मनुष्य जानते हैं वह नहीं जानसक्तेहैं जो दो आने पैसे दे और रजिस्टरमें नाम लिखवाकर जबर्दस्तीसे पण्डित बनगयेहैं इस विषयमें मनुका लेख देखिये—

आकाशात्तुविकुर्वाणात्सर्वगन्धवहःशुचिः ॥
बलवाञ्जायतेवायुःसवैस्पर्शगुणोमतः ॥७६॥
वायोरपि विकुर्वाणाद्विरोचिष्णुतमोनुदम् ॥
ज्योतिरुत्पद्यतेभास्वत्तद्रूपगुणमुच्यते ॥ ७७ ॥
ज्योतिषश्चविकुर्वाणादापोरसगुणाःस्मृताः ॥
अद्भ्योगन्धगुणाभूमिरित्येषासृष्टिरादितः ७८

मनु० अध्या० १

अर्थ—विकारको प्राप्तहुए आकाश से सबप्रकारके गन्ध को बहानेवाला बलवान स्पर्शगुणवाला वायु उत्पन्न हुआ ॥७६॥ विकारको प्राप्तहुए वायु में तमको दूर करदेनेवाली प्रकाशको फैलानेवाली ज्योति उत्पन्न हुई उसका गुणरूप है ॥ ७७ ॥ विकारको प्राप्तहुई जो ज्योति है उससे रस गुणवाला जल उत्पन्न हुआ फिर विकारको प्राप्तहुए जलसे गन्धगुणवाली पृथिवी उत्पन्न हुई ॥ ७८ ॥

यह तो मनुका लेखहै जिससे सिद्धहै कि निराकार

आकाशभी साकार होजाताहै और आप इस घटनाको प्रत्यक्ष आंख से देखतेभी हैं उसको इसप्रकार समझें कि एक मनुष्यने दौड़ना आरम्भ किया आरम्भ में जब वह दौड़ता है तो उसके हृदयाकाश में कुछ हरकत पैदा होती है इसके बाद उस मनुष्यकी श्वास जल्दी २ चलने लगती है बस यह आकाशसे वायु पैदा होगया उस मनुष्यका कुछ काल जब श्वास चलतारहता है तो फिर शरीरमें गरमी आजातीहै यही वायु से अग्नि की उत्पत्ति है जब वह फिर दौड़ता है तो उसको पसीना आजाता है यह जल की उत्पत्ति है इसके पश्चात् जब वह ठहरता है तब उसका पसीना जमकर मैलरूपमें मट्टी होजाती है इसप्रकार निराकार आकाशको साकार होना भी देखतेहैं परन्तु उसको समझते नहीं यदि इसको यह समझते तो फिर शङ्का न करते और यदि यह समझकर शंका करतेहैं तो फिर समझो कि अकल के पर्दे पड़ेहैं बस सिद्धहै कि जैसे निराकार जीव, शब्द, आकाशादि साकार होजातेहैं वैसेही ईश्वर क्या साकार नहीं होसकता क्या ईश्वर में जड़ तत्त्वोंकिसी भी शक्ति नहीं क्या ईश्वर जड़तत्त्वोंसेभी निर्बलहै इसके अलावा आपभी तो निराकारहैं आप तो निराकार होकर व्याख्यानभी सुनलेतेहैं और साढ़े तीन हाथका शरीर धारण करके व्याख्यानदाताभीपरभी उतारलेते यदि आपको तोलाजावे तो डेढ़ दो मनके बैठोगे

और निराकार में इतना वजन फिर आप निराकार होकरभी प्रत्येक दिन डाक्टरको अपनेघर बुलातेहो कभी उससे कहतेहो कि हमारे पेटमें दर्द है कभी कहतेहो कि शिर फिरताहै शिरमें पीड़ाहै पैरमेंघावहै कमरकी हड्डी दर्द कररहीहै आप तो निराकार हैं आपके पैर कहां आपके पेट कैसा आप कमर किसकी लेआये आपके पेट आपके कमर आपके आंख आप में दो मनका वजन आपमें साढ़ेतीनहाथका शरीर आप निराकार होकर जब शरीर धारण करतेहैं तब उसको आप स्वीकार करतेहैं मानतेहैं निराकार पुत्रके होनेपर अनेक बाजे बजवाते हैं मङ्गलाचरण करवाते हैं फूले नहीं समाते भाव यह है कि जब जीव निराकार शरीर धारण करताहै तब तो आप मानलेते हैं और जब निराकार ईश्वर शरीर धारणकरे तब आपको क्रोध आताहै आप मानते नहीं बल्कि लड़नेको तैयार होकर महाभारतके भीष्मपर्वका आरम्भ करदेते हैं बस क्रोधको शांत करो और विचारो कि जब निराकार जीव ही शरीर धारण करलेताहै तो सम्पूर्ण संसारका प्रभु सर्वशक्तिमान निराकार परमात्मा क्या शरीर धारण नहीं कर-सकता यह शंका इसप्रकार श्मशानमें पहुंचजातीहै और इन हमारे प्यारे भाइयोंकी चाल वन्द होजातीहै तब यह महात्मा इसके ऊपर एक और शंका खड़ी करदेते हैं इनका कायदाहै कि यह हार तो कभी मानतेही नहीं जब शंका पर बोलनेकी

गुंजायश नहीं रहती तो उस शंका को रौले में रलाकर दूसरी शंका खड़ाकर देते हैं इसीप्रकार यहांपर भी शंका उठा देते हैं कि—

(४) साकारधर्म निराकारधर्म से विरुद्धधर्म है एक वस्तु में दो विरुद्धधर्म नहीं रहसकते ।

इसका उत्तर यह है कि इनको तो ईश्वरमें एकही विरुद्ध दिखलाई देताहै किन्तु हमारा यह दावाहै कि एक नहीं दो नहीं परमात्मा में तो सैकड़ोंही विरुद्धधर्म जान पड़ते सुनेजाते हैं (१) एक श्रुति कहती है "अपाणिपादः" तो दूसरी कहती है कि "सहस्राक्षःसहस्रपात्" विचारिये एक श्रुति ने कहा कि ईश्वरके हाथ चरण नहीं दूसरी कहती है कि उसके अनन्त हाथ पैर हैं क्या यह विरुद्धधर्म नहीं है (२) "अणोरणीयान महतो महीयान" ईश्वर कैसा है छोटेसे छोटा और बड़ेसे भी बड़ा क्या यह विरुद्धधर्म नहींहै जो छोटेसे भी छोटा है वह बड़ेसे भी बड़ा कैसे होजावेगा और जो बड़ेसे भी बड़ा है वह छोटेसे भी छोटा कैसे होगा तथापि ईश्वरमें ये दोनों धर्म रहते हैं (३) "तदेजतितन्नैजति" वह [illegible]पता है और वह नहीं कांपता दोनोंही एक दूसरेके [illegible]विरुद्ध हैं जब कि आपका मान्य पुस्तक वेदही ईश्वर में विरुद्धधर्म कहरहा है और उनको आप मानते भी हैं उनमें से किसीपर भी शंका न कर केवल अवतारपरही शंका करना

क्या यह प्रमाण नहीं है कि ये जानबूझकर अवतार मिटाना चाहते हैं इस विरुद्धधर्मको वेदही नहीं पुराण भी कहरहे हैं पुराणोंका कथन है कि जिसदिन श्रीकृष्णके भक्त श्रीकृष्णको प्राणोंसे भी प्यारे गोपालोंपर कष्ट पड़ा इन्द्रने वृजको नाश करना चाहा उसदिन परमात्मा प्रभु श्रीकृष्णने गोवर्द्धन पर्वत को अंगुलिपर उठालियाथा इसका नामहै कृपा इसको कहतेहैं देशउद्धार एक अंगुलिपर पहाड़ को उठाये भूखे प्यासे सातदिन खड़ेरहे जिस अंगुलिपर सातदिन गोवर्द्धन पर्वत धरारहा जिस अंगुलिने गोवर्द्धनके बोझको अपने ऊपर रक्खा वह अंगुलि कितनी सख्त (कड़ी) होगी इसका विचार आप सज्जनों के ऊपरही छोड़ताहूं मेरी राय में तो संसारमें जितनी अंगुलि होगुजरीं या होंगी या हैं उनमेंसे सख्तीमें एकभी इस अंगुलिका मुकाबिला नहीं करसकती अच्छा इसको तो यहांपरही छोड़ें अब यहविचारें कि ऐसाभी संसारमें कोई कार्यहै कि जिसमें अत्यन्त मुलायम अंगुलिकी आवश्यकताहो हां है कियमें सितार बजानेमें सितार बजानेमें ऐसी कोमल अंगुली चाहिये कि जैसा मुलायम मोम यदि अंगुली इतनी नरम न हो और सख्तीसे सितारपर गिर जावे तो फिर क्या होगा होगा क्या सितारके तारका स्वर्गवास होजावेगा जब कि सितारमें तारही न रहा तो अब क्या बजेगा अब तो केवल कुसे हराने की गत रहगई इसकारण

सितार बजानेमें कोमल नरम मुलायम अँगुलीकी आवश्यकता है इससे भी अधिक कोमल अँगुली की आवश्यकता है वंशी बजानेमें क्योंकि यदि कठोर अँगुलीसे वंशी बजाना आरम्भ करदिया और अँगुलिने पड़तेही समस्त छिद्रको कठोरपनसे आच्छादित करलिया तो फिर क्या खाक वंशी बजेगी अत-एव वंशीको बजानेके लिये अत्यन्त कोमल अंगुली चाहिये भगवान कृष्णजीने जिस अँगुलीसे गोवर्द्धन उठाया था जिस समय उसी अँगुलीसे वंशी बजाई तब उसमेंसे आवाज निकली इसको वही पूर्णतौरपर कहसके हैं कि जिन्होंने इस शब्दरस को अपने कर्णपुटसे पानकिया तौभी इतना तो अवश्य कहेंगे कि वंशीके शब्दको सुनके जड़ोंमें चैतन्यका धर्म होगया और चैतन्योंमें जड़ोंका धर्म इसीको महर्षि व्यास इसप्रकार लिखते हैं—

गावश्च कृष्णमुखनिर्गतवेणुगीत
पीयूषमुत्तभितकर्णपुटैः पिबन्त्यः ।
शावाः स्नुतस्तनपयःकवलाः स्मतस्थु-
र्गोविन्दमात्मनि दृशाश्रुकलाः स्पृशन्त्यः १

प्रायोवताम्ब विहगा मुनयो वनेऽस्मिन
कृष्णेक्षितं तदुदितं कलवेणु गीतम् ।

आरुह्यतेद्रुमभुजान्रुचिरप्रवालान्
　शृण्वन्त्यमीलितदृशोविगतान्यवाचः॥२॥
नद्यस्तदा तदुपधार्य मुकुन्द गीत
　मावर्तलक्षितमनोभवभग्नवेगाः ।
आलिंगनस्थगति मूर्मिभुजैर्मुरारे-
　गृह्णन्तिपादयुगलंकमलोपहाराः ॥ ३ ॥

अर्थ—कृष्णके वेणुमेंसे निकले गीतको सुनकर गौवें अपने दोनों कान उठाकर और आँख बन्दकरके इसप्रकार खड़ी रहगई कि मानों तस्वीरें खेंचदीं न तो हल्ती हैं न चल्ती हैं न घासको चबातीहैं और बछड़ोंने जब गीतको सुना तब उन्होंने दूध पीनाभी छोड़दिया यहांतक कि मुखका दूधभी टपटप नीचे गिररहा है आंखोंसे आंसुओंकी धारा गिर रही है और मनमें कृष्णको चिन्तवन करतेहुए इसप्रकार खड़े रहगये कि मानो इनमें जीव नहीं निर्जीव पाषाणकेहैं ॥ १ ॥ और इसवनमें जितने पक्षी हैं वह प्रायःमुनि हैं क्योंकि रुचिर पत्तोंवाली वृक्षों की शाखाओंपर बैठकर आँखें बन्द करके मौनव्रत धारणकरके कृष्णसे बजाईहुई बंशीका गान सुनते हैं यहांपर क्या विलक्षणता है विलक्षणता यही कि इनचैतन्योंमें जड़धर्म आगया॥२॥ और नदियें कृष्णकेगीतको

सुनकर बारह भँवरके गिरनेसे लक्षितहैं कामवेग जिनमें अपनी भुजाओंको ऐसा फेंकरहीहैं कि मानो कृष्णके चरणोंकोही पकड़लेंगी जड़ नदियोंमें चैतन्यधर्म और चैतन्य गो आदिमें जड़ धर्म यहभी तो एक विरुद्धधर्मही है । ईश्वरको न्यायकारी और दयालु कहतेहैं फिर ये दोनों विरुद्धधर्म उसमें कैसे रहसकतेहैं न रहनेचाहिये इसके ऊपर कोई २ सज्जन इनकी विरुद्धता निकालनेमें श्रम करतेहुये या तो पुस्तक लिखतेहैं या व्याख्यान देकर यह सिद्ध करदेतेहैं कि न्यायकोही दया और दयाकोही न्याय कहतेहैं इनका यह सिद्धांत या माध्यपक्ष अमान्य है दूषितहै दया और न्याय में रात दिन कितना अन्तरहै कल्पना करो कि काबुलपर रूस चढ़गया और दोनोंमें घोर युद्ध होनेलगा नतीजा यह दृष्टिगोचर होनेलगा कि आज हो काबुलका पराजय होजावेगा इतनेमें बृटिशगवर्मेंट बीच पड़गई रूसने गवर्मेंट बर्तानियाके कथनको स्वीकार न किया आखिरकार गवर्मेंटने अपनी सेना युद्धक्षेत्रमें उतारकर युद्ध किया और इसका फल यह निकला कि रूसने काबुल छोड़दिया अब बर्तानिया गवर्मेंट ने काबुलकी अत्यन्त हीन दीनदशा देखकर उसकी सहायतार्थ १ करोड़ रुपया देकर अपनी सेनाको वापिस बुलालिया काबुलपर पहिलेकी भांति अमीरकाबुलकी हुकूमत (राज्य) रही अच्छा अब बतलावें कि गवर्मेन्ट बर्तानियाकी काबुलपर दयाहै या नहीं

आपको यही कहना पड़ेगा कि बेशक (निःसन्देह) पूर्ण दयाहै अच्छा दया तो सिद्ध होगई परन्तु इसदयाको कोई न्याय (इन्साफ) कहेगा कोई नहीं क्योंकि यह न्याय होता नहीं अच्छा दूसरा उदाहरण देखिये एक रियासत स्वतन्त्रहै और उसके ऊपर कोई दूसरा राजा चढ़गया और युद्ध करके उसकी आधी रियासत अपने कब्जे (आधीन)में करली आखिर उसने हार मानकर निबटारा करना चाहा दोनोंने गिणना गवर्मेन्ट वर्तानियाको करदिया गवर्मेन्ट वर्तानियाने विजयवाले राजाके लिये फैसलेमें लिखदिया कि इसका देश जो आपने विजय किया उसको तुम अपने कब्जेमें रक्खो और १ किरोड़ रुपया तुम हानिका उससेलेलो कोहये इन्साफहोगया सब कहेंगे राजधर्मानुसार पूर्णन्यायहुआ अब गौरसे विचार देखिये इसमें दयाका लेशभी नहीहै वास्तविकमें दयामें न्याय और न्यायमें दया कहीं ठहरही नहीं सकती और एक दूसरेसे बिल्कुल विरुद्ध है तथापि ईश्वरमें दोनों विरुद्धधर्म एक साथ रहते हैं और इन विरुद्ध धर्मोंपर कोई शंका भी नहीं करता तो फिर केवल निराकारसे साकार होनेपर शायबल्ला क्यों चिल्लाहट क्यों कैसा उजर कैसी शंका इसका भी तो कुछ उत्तर मिले ।

ईश्वरमें और ईश्वरकृत कार्यों में विरुद्धधर्म उत्तमरीति से दृष्टिगोचर होतेहैं उनमें से किसी प्रकारभी शंका न करके केवल ईश्वरके निराकार और साकार रूपपर विरुद्ध

धर्मकी शंका कीजाती है जो वास्तविकमें विरुद्धधर्मही नहीं है जिन्होंने थोड़ीसीभी साइन्स (पदार्थविद्या) या फल्सफी (वेदान्त) देखी है वह इसबातको उत्तम भांतिसे जानते हैं कि संसार के समस्त स्थूलपदार्थ किसीदिन सूक्ष्मावस्थामें थे कि जिसदशाको निराकार कहते हैं जो पदार्थ किसी समय में अतिसूक्ष्मदशामें थे आज वही पदार्थ स्थूलसेभी स्थूल साकारदशामें नेत्रोंका विषय होगये हैं जो पदार्थ आज अपने सोहने रूपसे संसार के मनुष्यों को अत्यानंदितकररहे हैं किसी समय वह आवेगा कि यह सब पदार्थ फिर निरा-कारदशामें पहुंचजावेंगे संसारके समस्तपदार्थ जब कि निराकार और साकार अवस्थामें रहसकते हैं और उनमें विरुद्धधर्मका दोष नहीं आरोपित होता या विरुद्धधर्मही नहीं कहाता तो फिर ईश्वरमें विरुद्धधर्मकी शंका कैसी इस उत्तरको सुनकर प्रश्नकर्त्ताजन मौनव्रत धारण करलेते हैं अर्थात् इस विषयपर कुछभी प्रत्युत्तर नहीं देसकते अतःएव यह सज्जन लाचार होकर इसके आगकी शंकाको पूर्वपक्षमें देदेते हैं पूर्वोक्त महाशय यह शंका करते हैं कि--"

(२) जब ईश्वर एकरस है फिर वह अवतार कैसे लेसकता है और यदि वह अवतार लेलेता है तो फिर एक-रस मत समझो जो सज्जन यह शंका उठाते हैं वह समझते हैं कि शायद इसीसे अवतारखण्डन होजावेगा अवतारखण्डन

तो जो होना था वह होलिया इस शंकासे तो प्रमाण मिलता है कि पदार्थोन्नतिके समयमेंभी कईएक सज्जन पदार्थ विद्या और हिन्दुओंके शास्त्र दोनोंसे अनभिज्ञहैं यदि इनमेंसे किसी एककोभी जानते तो यह शंकाही न करते यह शंका बिलकुल निर्मूल है क्योंकि जड़तत्व अग्नि, एकरस होनेसे भी साकार होजाता है उदाहरण (१) कल्पना करो कि पूर्व और दक्षिण दोनों दिशाओंसे घनघोरघटा उठी और दोनों तरफके बादल आकर आपसमें टकरागये उनमेंसे बिजली चमकगई यहाँपर देखिये दोनों बादलोंमें अग्नि एक रसही है या कुछ दूसरीभाँतिसे आप यही कहेंगे कि एकरस अच्छा अब आपही बतलावें कि एकरस अग्निने यहाँपर शरीर धारण किया कहना पड़ेगा कि हां किया भला फिर जब तत्व भी एकरस रहनेपर शरीर धारण करता है तो क्या ईश्वर नहीं करसकेगा (२) पुराने समय में जब कि दियासलाई नहीं थी इसभारतवर्ष देशमें उससमय चकमक लोहा और एक पथरी रक्खा करते थे और इस समयमें भी ग्वालियर और उदयपुरके राज्यमें कहीं २ रखते हैं जहाँ उस लोहेको उस पथरीपर मारा कि फौरन अग्नि प्रगट होगई कहिये उस पथरीमें अग्नि क्या एक रससे नहीं है (३) दो बांस लेकर घिसिये अग्नि उत्पन्न होजावेगी इन बांसोंमें अग्नि एकरससे नहीं तो क्या दोतीन रससे है

इसीको हिन्दुओंके धर्मपुस्तक वेदमें भी इसीप्रकार कहाहै—

अग्निर्यथैकोभुवनंप्रविष्टोरूपंरूपंप्रतिरूपोबभूव।
तथाप्ययंसर्वभूतांतरात्म रूपंरूपंप्रतिरूपोवहिश्च

अर्थ—जैसे भुवनमें प्रविष्ट एकही यह अग्निरूप रूपसे मिलकर अनेक रूपका होजाता है इसीप्रकार सर्वप्राणियोंका ईश्वर परमात्मारूप रूपमें और उससे बाहर भी रहता है।

जब कि एकरस अग्निस्वरूपको धारण करलेता है और उसके एकरस में कोई फरक नहीं आता तो क्या ईश्वर एकरस होकर स्वरूप धारण नहीं करेगा क्या इस शंकाको उठानेवाले महाशयोंने अग्नितत्त्वसे न्यूनशक्तिवान ईश्वरको तो कहीं नहीं मानलिया अब इसके आगे की शंका भी सुनलें कितनेही विद्याभिमानी सज्जनोंकी यह शंकाहै कि—

(६) ईश्वर तो रामचन्द्रका अवतार धारण करके आगये अयोध्यामें फिर ईश्वर सर्वव्यापक कहांरहा सिवाय अयोध्याके रूस जापान तो विना ईश्वरकेही रहगये।

इसका उत्तर भी सुनचलिये एकपदार्थ ज्ञानाने वायुको एक यन्त्रमें भरलिया अब संसारके सबप्राणी मरजाने चाहिये क्योंकि प्राणी वायुके आधारसेही जीते हैं और वायु यन्त्रमें आगया यहांपर आप मान लेते हैं कि वायुमें इतनी शक्ति है कि वह यन्त्रमें भी आजाय और संसारमें भी

बनारहै अब आपही बतलावें कि क्या ईश्वर में इतनी भी शक्ति नहीं कि वह अवतार भी धारण करले और व्यापक भी बनारहै (२) एक मनुष्यने कानपुरमें दियासलाई लेकर और उसको घिसकर अपनी लालटेन जलायली यह अग्नि कहां से आई व्यापक अग्निमें से अब यदि कोई बम्बई निवासी दियासलाई घिसकर अपनी कड़क बिजली जलाना चाहे तो जलजाती है लेकिन इनके सिद्धान्तानुसार न जलनी चाहिये क्योंकि व्यापक अग्नि तो साकार होकर कानपुरमें आगई है अब बम्बई में अग्नि है कहां जो कड़क बिजली जले अच्छा इसको छोड़िये मान लो कि बम्बई में कड़क बिजली जल-गई लेकिन अब कलकत्तेमें तो हरगिज २ नहीं जलेगी कारण इसका यह है कि व्यापक अग्निस्वरूप धारणकरके कानपुर और बम्बई चलीगई है लेकिन यहांभी जलजाती है इतनाही नहीं बल्कि गांव २ में गांव २ मेंही नहीं बल्कि समस्त हिंदुस्तानमें समस्त हिंदुस्तानमेंही नहीं बल्कि कुल एशिया और यूरूपमें इतनाही नहीं बल्कि समस्त भूमिखण्डमें असं-ख्य दीपक रोज जलते हैं और इतनेपरभी व्यापक अग्नि सब स्थानमें बनारहता है तो क्या ईश्वर अवतार धारणकरनेपर अपने व्यापक रूपसे सर्वत्र नहीं रहसकता इनबातोंसे यह प्रतीत होता है कि इन प्रश्नकर्ताओंने न तो पदार्थविद्याही पढ़ी है और न हिन्दू शास्त्रोंपरही परिश्रम किया है और न

ईश्वरको ईश्वरके ज्ञानसेही जाना है यह तो ईश्वरको एक मामुली पदार्थ जानते हैं और इसी कारण यह अनभिज्ञों कीसी शंका करते हैं अब इन शंकाओंसे भिन्न अवतार विषय पर शंका नहीं होती इसकारण इस शंकामयूखको यहांपरही समाप्त करते हैं—

इतिश्री शंकामयूखःसमाप्तः

ईश्वरसिद्धिमयूखोद्वितीयः ।

जो लोग ईश्वरका अवतार नहीं मानते या ईश्वरके अवतारखण्डन का बीड़ा उठायेहुये हैं उनको इतनीभी स्मृति नहीं है कि यदि हम अवतार नहीं मानेंगे तो फिर हम ईश्वरकी सिद्धिही नहीं करसकेंगे जब इनसे ईश्वरकी सिद्धि में प्रश्न कियाजाता है कि तुमलोग ईश्वरकी सत्ता (हस्ति) में क्या सबूत रखतेहो तब यहलोग अपने धार्मिक पुस्तक से ईश्वरकी सिद्धि का सबूत देते हैं समाजीलोग वेद का मन्त्र प्रमाण में देते हैं इसीतरह हमारे मुसल्मान भाई कुरान की आयत पेश करते हैं ईसाईलोग बाइबिल

दिखलातेहैं और इन्हीं पुस्तकों से ईश्वरका अस्तित्व सिद्ध करते हैं परन्तु यह सिद्धि ईश्वरकी सत्ता में मान्य नहीं है इसके ऊपर बड़ीभारी आपत्ति आपड़ती है जिस आपात्तिका इनको फिर कोई परिहार नहीं मिलता वह यह है कि उपरोक्त मतानुयाइयों के मान्य ग्रन्थ सत्यहैं इसमें क्या प्रमाण है इस विषयके प्रश्नका यह उत्तर देतेहैं कि हमारी पुस्तकें ईश्वरकृतहैं और ईश्वरका वाक्य सर्वदा सत्य होताहै इन सज्जनोंसे मेरा यह प्रश्न है कि जिस ईश्वरका वाक्य तुम अपनी धर्मपुस्तक को मानरहे हो उस ईश्वरका तो अभी कोई अस्तित्वही नहीं है जबकि उसकी अस्तित्वमेंही टोंट है तो फिर उसके वाक्यका कहां ठिकाना तुम प्रथम ईश्वरकी सत्ता (हस्ति) का सबूत दो तत्पश्चात् यहभी प्रमाणदो कि तुम्हारे धार्मिकपुस्तक ईश्वरकेही निर्माणकियेहुयें क्योंकि जिस नियमसे आपलोगोंने अपने धर्मपुस्तक ईश्वरकृत बतलाये हैं वे नियम अत्यन्त सन्देहजनक हैं आपलोगोंमेंसे कोई कोई तो यह प्रमाण देतेहैं कि सृष्टिके आरम्भमें चार ऋषियों के अन्तःकरण में जो ज्ञान पैदाहुआ वह ईश्वरीज्ञान था उसीसे हमारा धार्मिक पुस्तक वेद[१] बना है इसमें सन्देह उत्पन्न

१—सनातनधर्म साकार ईश्वर ब्रह्मा से वेदों का प्रगट होना मानता है जब ईश्वर ने स्वतः शरीर धारणकर

होताहै कि ऋषियों के अन्तःकरण में जो ज्ञान पैदाहुआ वह ईश्वरीय ज्ञानथा इसमें क्या प्रमाण मनुष्यों के अन्तःकरण में अनेकानेक विचार उत्पन्न हुआकरतेहैं उनमेंसे कुछ सत्य होते हैं और कुछ असत्य जबतक कि सत्य असत्य का निर्णय न हो तबतक इस नियमसे उत्पन्न हुआ ज्ञान कभी मान्य नहीं होसकता और आपलोगोंमेंसे दूसरा भाग जो अपने ग्रन्थकी उत्पत्तिको स्वतः परमेश्वर के हाथों से ग्रन्थका लिखा जाना और एक विशेष पुरुषद्वारा संसारमें एक विशेष पुरुषको मिलना मानताहै वहभी दोषशून्य नहीं है इस नियम में सन्देह होताहै कि जब ईश्वरके शरीर नहीं तो उसने इतनीबड़ी पुस्तक कैसे लिखी दूसरा सन्देह यहभी होताहै कि सम्भव है किसी पुरुषने अपनी प्रतिष्ठा पाने और बढ़ाने के लिये यह कपट बनायाहो दोनों नियमों में एक यहभी दोष आता है कि प्रत्येक मतावलम्बी अपनी

वेद बतलाये फिर इस नियम पर कोई भी आपत्ति नहीं शेष वेद आवश्यक भाग जो ऋषियों द्वारा प्रगट हुआ उसपर समाज के नियमकीसी आपत्ति थी भगवान् परमात्माने कृष्ण अवतार लेकर अर्जुन को वही ज्ञान सुनाया जो उपनिषदों में ऋषियोंद्वारा प्राप्तहुआथा बस ईश्वरकी साक्षी होनेसे इसकाभी सन्देह दूर होगया सनातनधर्म के मान्य नियमपर कोई किसीप्रकारकी भी आपत्ति नहीं ।

ही पुस्तकको ईश्वरकृत मानता है और दूसरे मतकी पुस्तक के लिये ईश्वरकृत माननेको कटिबद्ध नहीं साथही साथ एक औरभी सन्देह उत्पन्न होताहै कि संसारको धार्मिक बनाने के लिये ईश्वरने यदि कोई पुस्तक रची है तो एकही मतकी रची होगी अब इनमेंसे कौन पुस्तक सत्य है इसकी परीक्षा के लिये साइंस (पदार्थ विद्या) की कसौटी तैयार है साइंस के साथ में किसी पुस्तककी भी एक सम्मति नहीं होती ऐसे अवसर पर कोई पुरुष यह निर्णय नहीं करसकता कि इनमेंसे कौन सत्य है ईश्वरकी सिद्धि बिना इनको ईश्वरकृत मानना प्रथम दोष तथा ईश्वरकृत होनेमें उपरोक्त दूषित नियमको मानना द्वितीयदोष तर्क, साइंस फलासफी से न मिलना यह तृतीय दोष अनेक दोषोंसे दूषित होने के कारण शाब्दिक प्रमाणद्वारा ईश्वरकी सिद्धि सर्वथा अमान्यहै ।

शब्द प्रमाणके पश्चात् दूसरा नम्बर प्रत्यक्ष प्रमाण का है प्रत्यक्ष किसको कहते हैं इस सन्देह को दूरकरनेके लिये यह बतलादेना अत्यावश्यकीयहै ।

इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम् । न्या० दर्श० अ० १ सूत्र ४

अर्थ—इन्द्रिय और अर्थ (विषय) से जो ज्ञान उत्पन्न हो और यदि उसमें व्यभिचारदोष न हो और किसी प्रकार का सन्देहभी न हो ऐसा निश्चयात्मक ज्ञान प्रत्यक्ष कहलाता है।

जबतक ईश्वरका अवतार न मानाजावेगा तबतक ईश्वरका प्रत्यक्ष ज्ञानहोहीनहींसकता यदि ईश्वरकी सिद्धि में प्रत्यक्ष प्रमाण देंगे तो हमारा अभीष्ट ईश्वरावतार अपने आप सिद्ध होगया इसकारण ईश्वरसिद्धि में यह प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं देते इस स्थानपर दयानन्दी समाज आत्मानुभवी पुरुषके ईश्वरज्ञानको प्रत्यक्ष कहकर ईश्वरसिद्धि में प्रत्यक्ष प्रमाण देतीहै जोकि सर्वथा अयुक्त है क्योंकि आत्मानुभवी पुरुषको जो परमात्माका ज्ञान होता है वह इंद्रियातीत होताहै जो ज्ञान इंद्रियों के द्वारा नहीं हुआ है उसको प्रत्यक्ष वही मानेगा जिसने कभी न तो न्यायदर्शनही देखा हो और न कभी प्रत्यक्ष का लक्षणही जानाहो इसभांतिसे इनके मतमें ईश्वर प्रत्यक्ष साध्य नहीं है।

अब तीसरे अनुमान[1] प्रमाणका नम्बर आया यह लोग ईश्वर सिद्धिमें अनुमान प्रमाणसे कुछकाम लेतेहैं और बड़े

१—सनातनधर्म ईश्वरको प्रत्यक्ष मानता है अतएव ईश्वर अनुमान साध्य है।

अभिमान के साथ कहाकरते हैं कि ईश्वर अनुमान साध्यहै ईश्वरासिद्धिमें अनुमान से काम लेतेहुये यह लोग कहते हैं कि "कार्यं कर्तृजन्यं घटपटादिवत्" अर्थात् जो जो कार्य इस सृष्टि में दृष्टिगोचर होते हैं उनका कर्ता (बनानेवाला) कोई न कोई अवश्य होताहै जैसे हमने एक घटको देखा तो उसके कर्ता कुम्हारका अनुमानज्ञान होताहै इसीप्रकार सूर्यचन्द्र त्रिविधितारे पृथ्वी अंकुरादि के देखने से उनके कर्ताका ज्ञान अवश्य होगा जो इनका कर्ता है वही ईश्वरहै परमात्मा है खुदा है गाड है इसके ऊपर मेरा वक्तव्य यह है कि ईश्वरका अनुमान ज्ञान तो होही नहीं सकता क्योंकि अनुमान ज्ञान उसीका होताहै कि जिसका प्रत्यक्ष ज्ञान होचुका है और जिसका प्रत्यक्ष भूत भविष्य वर्त्तमान तीनोंकालमें नहीं होता उसका अनुमान ज्ञानभी नहीं होता इसके समझने के लिये मैं आपको एक छोटासा उदाहरण देताहूँ जैसे कोई मनुष्य कहता है कि "अयं पर्वतोवह्निमान्" अर्थात् यह पर्वत अग्निवाला है उससे दूसरा मनुष्य दरियाफ्त करताहै कि तुमने कैसे जाना तब यह उत्तर देताहै कि "धूमात्" अर्थात् पर्वतमें धुआं है इसकारणसे वह दूसरा मनुष्य फिर प्रश्न करता है कि धूमसे अग्निका ज्ञान क्यों हुआ तब यह उत्तर देताहै कि "यत्र यत्र धूमस्तत्रतत्र वह्निरितिव्याप्तिः" अर्थात् जहां जहां धूम होताहै वहां वहां वह्नि अवश्य होतीहै यह

व्याप्ति है फिर वह प्रश्न करता है कि तुमको यह व्याप्ति ज्ञान कहांसे हुआ तब यह उत्तर देताहै कि "मयापाकशालादौ दृष्टम्" अर्थात मैंने ऐसा रसोईघर में देखा है अब यहां विचारिये कि सबसे प्रथम वह्नि का प्रत्यक्ष ज्ञान हुआ तदुत्तर व्याप्ति ज्ञान हुआ तत्पश्चात् पर्वतमें अग्निहै यह अनुमान ज्ञान हुआ अर्थात् अनुमान ज्ञानका होना व्याप्ति ज्ञान के आधीनहै और व्याप्तिज्ञान प्रत्यक्षके आश्रय है इसकारणसे जिसका प्रत्यक्षज्ञान नहीं हुआहै उसका अनुमानज्ञान कदापि नहीं होगा इसप्रकारसे जब यह पूर्ववत् अनुमानज्ञान ईश्वर की सिद्धिमें उपयोगी नहीं होता तब ये इसको छोड़कर दूसरे शेषवत् अनुमान पर पहुँचतेहैं और उससे ईश्वरसिद्धि करनाचाहतेहैं यह कहतेहैं कि जैसे गर्भ के रहनेसे सन्तानोत्पत्ति मेघके देखनेसे वृष्टिका होना, हृष्टपुष्ट स्त्री पुरुष देखकर इनके सन्तानोत्पत्तिका अनुमान कियाजाता है उसीप्रकार हम शेषवत् अनुमानसे ईश्वरका अनुमान करलेंगे जो लोग शेषवत् अनुमानसे ईश्वरसिद्धि करतेहैं वह बड़ीभारी भूल पर हैं इसबातको समझनेकेलिये आवश्यकीयहै कि आप शेषवत् अनुमानके लक्षण को जाने शेषवत् अनुमानका लक्षण यह है कि जो विषय कभी प्रत्यक्ष न कियाहो केवल उसके कारणद्वारा अनुमान करना शेषवत् अनुमान कहाताहै शेषवत् अनुमानमें कारण देखकर कार्यका अनुमान ज्ञान होताहै

प्रथमतो यह ज्ञान सन्दिग्धहोताहै गर्भ के रहनेसे सन्तानोत्पत्तिभी होतीहै और कभी कभी गर्भ पतनभी होजाता है मेघके होनेसे कभी वृष्टिभी होतीहै और कभी नहींभी होती हृष्टपुष्ट स्त्री पुरुषके कभी सन्तानोत्पत्तिभी होतीहै और कभी धातुपुष्टकी गोलियां खानेपरभी नहीं होती द्वितीय शेषवत् में कारणसे कार्यका अनुमान होताहै ईश्वरका कोई कारण नहीं और न ईश्वर किसीका कार्य है जब इसका कोई कारणही नहीं है फिर किसको देखकर ईश्वरका अनुमानज्ञान करेंगे इसपर सफल परिश्रम न होतेहुये यह लोग तीसरे अनुमान सामान्यतोदृष्ट पर पहुँचते हैं जिसका लक्षण यह है कि जिसजाति विषयका प्रत्यक्ष करलिया हो उसकेद्वारा समस्त जातिमात्रके कार्यका अनुमान करना सामान्यतोदृष्ट कहाताहै ये कहतेहैं कि जैसे दो तीन मनुष्योंको देखकर यह निश्चय करलिया कि मनुष्य के सींग नहीं होते तो अन्यत्र मनुष्यमात्रके सींग न होंगे यह अनुमान होता है इसीभांति सामान्यतोदृष्ट अनुमानमें यह भी आसकताहै कि जैसे बिना कारणके कार्यकी उत्पत्ति सामान्यतोदृष्ट है इससे यह निश्चय करलियाजावेगा कि जहां जहां कार्य होगा वहां वहां कारणभी अवश्य होगा इसी नियमसे पृथिव्यादि कार्य होनेसे तत्कारण ईश्वरका अनुमानज्ञान होजाताहै इस अनुमानपरभी आपत्ति आती है

सामान्यतो दृष्ट अनुमान से साधर्म्यका ज्ञान होताहै जैसे हमने देखा कि मनुष्य के सींग नहीं होते तो अब मनुष्य मात्रमेंही सींगका निषेध होगा न कि गो महिष्यादि जाति में जो २ कार्य हमारे दृष्टिगोचर होते हैं वह सब साकार चैतन्यसे बनेहैं अर्थात् सब कार्योंके निमित्त कारण साकार चैतन्यहैं सामान्यतो दृष्ट अनुमानद्वारा पृथिव्यादि कार्यों के कारण ईश्वरका ज्ञान होगा तो साकार चैतन्यका होगा इसीके ऊपर तार्किकों की एक कारिका देताहूं ।

कर्तृत्वसिद्धौपरमेश्वरस्य साकारसिद्धिस्स्व-तएवजाता । घटस्यकर्ताखलुकुम्भकारो कर्त्ता शरीरी न चानाशरीरी ॥

अर्थ—जब परमात्माको कर्ता मानाजाता है तो फिर वह साकार तो अपने आपही सिद्ध होगया क्योंकि घटका कर्ता कुलाल पुरुष शरीरीही होता है विना शरीरका कोई कर्ता होताही नहीं ।

जबतक ईश्वरको साकार नहीं मानाजावेगा तबतक शाब्द प्रत्यक्ष अनुमान किसी प्रमाणसेभी ईश्वर सिद्धि न होसकेगी जो लोग ईश्वरको केवल निराकार मानते हैं उनके मतमें ईश्वरहै ही नहीं और न वह लोग ईश्वरके होनेमें कोई प्रमाण देसकते हैं जब उनके मतमें ईश्वरही नहीं फिर तो

फिर अपने अपने मतकी पुस्तककी ईश्वरकृत मानना वैसाही असम्भवहै जैसा कि वन्ध्याके पुत्रके विवाहमें माल उड़ाना ।

जैनजातिके विद्वानों ने इसबातको समझलियाथा कि यदि ईश्वरको कर्ता मानाजावे तो साकार मानना पड़ेगा इस भयसे इन्होंने ईश्वरको निराकार अकर्ता मानाहै परन्तु ईश्वर को अकर्ता मानना यह एक बड़ाभारी दोषहै संसारमें कोई भी कार्य ऐसा नहीं कि जिसका कोई कर्ता न हो तभी तो तर्कवादियोंने उदाहरणसहित नियम बनाया कि "कार्य कर्तृ-जन्यं घट पटादिवत्" जब सभी कार्यों का कर्ता कोई न कोई है तो चांद, सूर्य, पृथ्वी आदिकाभी कर्ता कोई न कोई अवश्य होगा इन कार्यों के करनेमें मनुष्यादि असमर्थ हैं अतएव इनका कर्ता ईश्वरही है इसके ऊपर जैनलोग उत्तर देतेहैं कि सूर्य, पृथ्वी, चांद आदि २ जितना यह ब्रह्मांड है सब अनादि कालसेहै इस नियमपर आपत्ति आती है वह आपत्ति यहहै कि स्थूल पदार्थ अनादि या नित्य नहीं होते दूसरे यह नियम साइंस (पदार्थविद्याकेभी विरुद्धहै) आज कल की साइंस तथा ज्यालोजी और इस्रानोमीविद्याने यह बात प्रमाणित करदीहै कि पृथ्वी हमेशह की नहीं वरन किसीकालमें बनी है इस विषयमें प्रोफेसर यस न्यूकोम्ब साहब लिखतेहैं कि जब पृथ्वी ठंढी होकर वनस्पति के उगाने के योग्यहुई उससमय से अबतक एक करोड़ वर्ष हुये

होंगे (देखो पापोलरइस्ट्रानोमी) प्रोफ़ेसर लचाफ़ साहब फ़र्माते हैं कि पृथ्वी को दोहज़ार की डिग्री की गर्मीसे दोसो डिग्रीकी गर्मी तक पहुंचने के वास्ते ३५ करोड़ साल हुये होंगे इससे कम में नहीं होसकता (देखो सीक्रट डाक्टरन)

साइंसवालों के ऐसे २ सहस्रों प्रमाण उपस्थित हैं कि जिनसे पृथ्वी के अनादित्वधर्म में भंगापत्ति होती है इतनाहीं नहीं वरन साइंसकी खोजने यहांतक पता चलादिया कि मङ्गल ग्रह उतरती अवस्थामें है और वृहस्पति अभी बच्चा है चन्द्रमा बिलकुल बूढ़ा होगयाहै वह ज्यादासे ज्यादा पांच सौ बरसतक काम देसकेगा यह हमारी पृथ्वी ठीक युवाने अवस्थामें है बस साइंस की खोज यह बहुत अच्छीतरह से सिद्ध करतीहै कि पृथ्वी आदि ग्रह अनादि नहीं हैं जब अनादि नहीं है तो इनका कर्ता ईश्वर अवश्य है सूर्य चांद तारे आदिकी गति ऐसी विलक्षणहै कि करोड़ों वर्षसे घूमते हुयेभी यह कभी आपुसमें नहीं टकराते यह शक्ति जड़ पदार्थोंमें स्वतः नहीं होसकती इस शक्तिके देखनेसे भी इनका निर्माता ईश्वर है यही ज्ञान होताहै यह ज्ञान हमी लोगोंको नहीं होता बल्कि एकदिन रात्रि के समय में इन्हीं तारों को

१-सनातनधर्म १ नं० पृ० (कल्प) में १४ मनुमानताहै जिसमें से यह सातवाँ मनु है अतएव पृथ्वी ठीक युवती है।

देखकर संसारमें प्रसिद्ध नास्तिक ब्रेडला को भी ईश्वर सत्ता माननी पड़ीथी कि जिसकी किताबोंको देखकर आज मनुष्य नास्तिक होतेहैं बस इन दोतीन उदाहरणों से यह सिद्धहै कि ईश्वर कर्ता अवश्य है जब ईश्वर कर्ताहै तो फिर लाचार होकर साकार मानना पड़ेगा आधुनिक साइंसवाले यह कहा करते हैं कि पं० जी हम आपके इस अनुमान आदि को तो समझ नहीं सकते परन्तु हमारा यह आग्रह है कि ईश्वर कोई है नहीं यदि आप साइंससे ईश्वर सिद्ध करदें तो हम मानने को तैयारहैं इनके समझानेके लिये मैं साइंसद्वारा ईश्वर सिद्धि दिखाताहूँ ज़रा ध्यान देकर पढ़िये पृथिवी गन्धशक्ति विद्यमान है लेकिन जब पृथिवीमें जलका भाग अधिक मिलताहै यह अपनी गन्धशक्तिका नाशकर बैठतीहै इसीप्रकार अग्निमें दाहशक्तिहै जलके सन्मुख अग्निभी अपनी शक्तिका अन्त करदेताहै वायु में उड़ानेकी शक्ति है कठोर पदार्थ के सन्मुख वहभी अपना कार्य नहीं करसकता जब इसकारणकी खोज करतेहैं तो यही ज्ञान होताहै कि ये शक्ति पूर्ण नहीं यदि पूर्णशक्ति होती तो इनका अवरोध न होता इन अधूरी शक्तियों का एक भण्डार अवश्य मानना पड़े जो पूर्णशक्तिहो बस यह पूर्णशक्ति जिसमें है और जिसकी शक्तिसे ये शक्तियें आती हैं वही ईश्वर है द्वितीय प्रत्येक मनुष्य चाहता है कि मैं स्वतन्त्रता ग्रहण करूं और

मुझे सुख मिले मैं ज्ञानी बनूं चाहे मनुष्य किसी मनुष्य किसी मतका हो इन तीन चीजोंकी फिकिर में है प्रत्येक लड़का जो पाठशालामें पढ़ने जाता है रविवारका दिन अंगुलियोंपर गिना करता है लड़काही नहीं बल्कि आतेहुए रविवारको देखकर मास्टरभी आनन्दमें हैं शनिवारसेही उसकी प्रतीक्षा होनेलगती है दफ्तर के क्लर्कभी इतवार के इन्तज़ारमें हैं इतनाही नहीं बल्कि बिना किसी वजहके मजिस्ट्रेटभी फूले नहीं समाते क्यों ? क्या बात है छुट्टीके दिनसे इतना प्रेम क्यों ? उत्तर यहहै कि यह दिन इनकी स्वतन्त्रताका है तोता को पिंजरेसे निकाल दीजिये फौरन उड़ जावेगा गौके बछड़े को खूंटेसे खोलिये कितना प्रसन्न होकर कूदता है क्यों क्या बात है स्वतन्त्रता मिली है अपराधी सैकड़ों उपायकर और हजारहा रुपया खर्चकर अपील करता है गर्ज यह है कि सज़ा न हो क्यों सज़ा में स्वतन्त्रता जाती रहती है. शराबी की सब लोग निन्दा करते हैं और शास्त्रों में तो इसको महापातकी लिखा है इसके अलावा बरका रुपयाभी जहन्नुमको जाता है नशेमें चलते फिरते समय चोट भी लगजाती है मोरीमें पड़े हैं और कुत्ता मुंहपर मूत रहा है पुलिसका कानिस्टेबिल पकड़ लेजाता है इतनेपर भी शराब नहीं छोड़ते क्यों इसके नशेमें कुछ स्वतन्त्रता की लहर आती है हाय स्वतन्त्रता प्यारी स्वतन्त्रता चाहे सर्वस्व

जातारहे परन्तु स्वतन्त्रता मिले सब जगत स्वतन्त्रताका प्यसा पड़ा है लेकिन स्वतन्त्रता रांड़के नखरेकाही ठिकाना नहीं इसका पताही नहीं चलता कि यहहै कहां आप समझते होंगे कि कैदी तो परतन्त्र हैं लेकिन अदालतके आफिसर स्वतन्त्रहैं लेकिन यह आपका विचार गलत है जरा उनसे भी तो दरियाफ्त करें फौरन कहदेंगे पिताकी मृत्यु में तो घर नहीं जासके फिर क्या खाक स्वतन्त्रहैं यदि कुछ स्वतंत्रता है तो गवर्मेंटको है गवर्मेंटसे जब पूछेंगे तो यही उत्तर मिलेगा कि हमसे तो अदालतके आफिसरही स्वतन्त्र हैं जिनकी कुछभी जिम्मेदारी नहीं टाइमपर काम बजाया कि बेफिकर यहांपर तो मारे फिकरके दिनभर खाना तकभी अच्छा नहीं लगता हमको तो कभी स्वप्नमें भी स्वतन्त्रता नहीं मिलती अगर स्वतन्त्रता हो तो बादशाहको चाहे हो जब आप प्रजापालक बादशाहके पास जाकर स्वतन्त्रताका प्रश्न पेश करेंगे तो फौरन यही उत्तर मिलेगा कि यहांपर प्रजाके प्रबन्धका विचारही पूरा नहीं होता तुम्हें स्वतन्त्रताकी पड़ी है यदि मैं स्वतन्त्रही होता तो क्या फलां गवर्मेंटसे सन्धि करता यहां तो स्वतन्त्रताका नामभी तुम्हारेही मुखसे सुनाहै यदि तुमको स्वतन्त्र मनुष्यकी तलाश है तो मैं बतलाताहूं किसान स्वतन्त्र है जो दिनमें हल जोतता है और रातको वह खर्राटोंकी नींद लेता है कि जो बादशाहों को मिलती

असम्भव है लीजिये इतना खोजनेपर भी स्वतन्त्रताका पता नहीं चला पूर्ण स्वतन्त्रता कहींभी नहीं मिलती हां अलबत्ते यह होसकता है कि कैदी की अपेक्षा आफिसर स्वतन्त्र और आफिसरोंकी अपेक्षा गवर्मेंट और गवर्मेंटकी अपेक्षा शहनशाह लेकिन पूर्ण स्वतन्त्र शहनशाहभी नहीं यह तो स्वतन्त्रताकी कथा है अब सुनिये सुखका समाचार—

प्रत्येक मनुष्य यही चाहता है कि मैं सुखीरहूँ मुझे सुख मिले आज संसारमें जितने काम होरहे हैं सबका प्रयोजन सुखही है एक काश्तकार खेतमें खाद (पांस)डालकर जान तोड़कर जोतता है बोताहै उसके रखवानेके लिये जाड़े की टण्डीरातमें उसी खेतपर सोता है क्यों यह क्या बात है कुछ नहीं केवल सुखकी आशा है सुखके लिये एक जवान घरसे जाकर पल्टनमें नौकर होता है अपना शिरभी बेच डालता है आज जो संसारमें रेल, तार, टेलीफून, ट्राम्बे, मोटरकार हवाईजहाज़ बनरहे हैं और अनेक प्रकारकी मशीने आविष्कृत होरही हैं इनसबका प्रयोजन सुखप्राप्तही है हाय सुख !!! प्यारे सुख तू कहाँ है किस कोठरीमें छिपगया आज तेरी तलाशमें सारासंसार अग्रसर है मनुष्यही नहीं बरन पशु पक्षी भी तेरेलिये हैरान होरहे हैं मगर तेरेदर्शन नहीं होते इतनी खफगी इतनी नाराजगी प्यारे सुख आँखोंके सामने आ और अपने मुखड़ेको दिखादे इस चिल्लाहटपरभी सुख

नहीं सुनता जैसे जैसे संसार सुखकी खोजमें फिरता है सुख भी वैसेही वैसे दूर भागता चलाजारहा है भारतवर्ष में प्राचीन समयमें बैलगाड़ी या घोड़ोंके द्वारा मार्ग तै होता था उसमें किंचित् सुख नहीं मिलताथा समय अधिक व्यय होताथा तथा रुपयेका खर्च भी अधिक था अतएव यह सवारी दुःखका कारण समझी जाती थी इसकेबाद घोड़ागाड़ी चली इससे रास्ता कम समयमें तै होता था इसको देखकर मनुष्य बड़े आनन्दित हुये और कहनेलगे कि यह बहुतही सुखहुआ जो घोड़ागाड़ी चलपड़ी इसके थोड़े दिनबाद रेल भगवती की कृपा हुई इसको देखकर मनुष्योंको बड़ाही आनन्द हुआ घर २ में यही चर्चा सुनाई देती थी कि अब बड़ाभारी सुख होगया घोड़ागाड़ीमें तो बड़ा दुःख था दामके दाम अधिक लगतेथे और शरीर व कपड़ों में धूल भरजाती थी चलनेके समय खड़खड़ शब्द होनेसे किसीकी बात सुनाई न देती थी अब रेल द्वारा महीनोंका मार्ग दिनोंमें कटजाता है इसके अनन्तर रेलवे कम्पनीने मेलट्रेन (डाकगाड़ी) चलाई इसको देखकर संसारका मन प्रफुल्लित होगया जिसे देखो यही कहता है कि प्यासेंजर क्या है छकड़ा है जिसस्टेशनपर देखो उसीपर घण्टाभर खड़ी रहती है गर्मीके मारे प्राण छूटने लगता है गाड़ी क्या है यमराजका जेल है यदि कुछ सुख है तो डाकगाड़ी में है हाय सुख वास्तव में न अबभी प्राप्त नहीं

हुआ अबभी यह तरकीब सोचीजारही है कि कोई ऐसी तरकीब निकल आवे जिससे हावड़ासे बम्बई तकका मार्ग २ घण्टेमेंही कटजावे परन्तु प्यारे सुख तूतो तबभी न मिलेगा जब कि गाड़ी एक मिनट में १०० मील चलनेवाली भी ट्रेन आविष्कृत होजावेगी आप सारे संसारको छान डालिये नयेसे नये आविष्कार कीजिये पर सुखका पता नहीं लगेगा किसीसेभी पूछिये अपनेको सुखी न कहेगा यदि आप किसी गांवमें जाकर एक काश्तकारसे पूंछें कि क्यों भाई आप सुखीहैं उत्तर मिलेगा कि हम और सुख काम करते २ मरेजाते हैं हमे सुख कहां हां अगर सुखीहै तो हमारे गांवका पटवारी जिसे सर्कारसे तनख्वाह मिले हमलो-गोंसे फसलखानाले और मजेमें हुकुम चलावे अब चलिये पटवारीके पास वह क्या कहताहै उससे सुखका प्रश्न करनेसे उत्तर मिलता है कि हम सुखी कैसे तीन रुपयेका तहसील-का चपरासी भी हमारे ऊपर हुकूमत करता आताहै आज तहसीलदारकी आमद है तो कल डिप्टीकी परसों कानूनगो की उपरोक्तजन तो अपने २ घोड़ोंपर सवार रहते हैं पीछे से एक गधेका बोझलिये मुझे दौड़ना पड़ता है खेतोंमें घूमते घूमते नाकमें दम है प्राण निकलता है मुझसे तो डाकका हरकाराही अच्छा जो तीनही कोस जाता है मुझे तो कठोर बंजर में घूमते दौड़ते पांच कोससे भी अधिक पड़जाताहै

फिर भला मैं कैसे सुखी होसकताहूँ हां अगर सुखी होगा तो मेरे हल्केका कानूनगो होगा कानूनगोसे पूछिये तो कहते हैं कि कैसा सुख कर्मके भोग भोगरहे हैं चक्की पीसते २ नाकमें दम आगया काम खतमही नहीं होता हमसे तो पटवारीही भला जो घर बैठे अपने कागज़ात की खाना-पुरी करलेता है सच तो यह कि कानूनगोका उहदा तो ऐसा होगयाहै कि मज़दूरी करके खाले परन्तु यह नौकरी न करे हां अगर सुखी है तो तहसीलदार साहब जो कुछ काग-ज़ातपर दस्तखत करके मजेमें अपने बालबच्चोंमें बैठेहैं लीजिये कानूनगोने तहसीलदारको सुखी बताया तहसीलदार मजिष्ट्रेटको कहेंगे मजिष्ट्रेट लाट साहबको कहेंगे लाट साहब बादशाहको बादशाहभी अपने को पूर्ण सुखी न कह कर दूसरे पर इशारा करेंगे लेकिन पूर्ण सुखी कोई न मिलेगा यह सहीहै कि पटवारीकी निस्बत कानूनगो और कानूनगो की निसबत तहसील्दार इसी तरहसे बादशाह विशेष सुखी होंगे परन्तु पूर्ण सुख न पटवारीको न बादशाहको यदि बादशाहीमें पूर्ण सुख होता तो भर्तृहरी कैसे महात्मा राज सिंहासन पर लात मारकर बनको न जाते सुखकी कथा आप सुन चुके अब ज्ञानकी चर्चा चलतीहै—

प्रत्येक मनुष्य की इच्छाहै कि मैं ज्ञानी बनूं मुझे ज्ञान मिले हाय ज्ञान हाय ज्ञान लड़का मदर्से जाताहै और सब

दिन टांटां करताहै इतनेपर भी मास्टर मारताहै लड़का कुछ फीसभी देताहै और मारभी खाताहै कभी २ जुर्माना भी देना पड़ताहै परन्तु मदर्सेको नहीं छोड़ता क्यों इस वजहसे कि वहां इसको ज्ञान मिलताहै जिस समय रेलगाड़ी स्टेशनके करीब आतीहै ड्राइवर और गार्ड स्टेशनकी ओर टकटकी लगाये देखतेहैं और जबतक झंडीवाला झंडी नहीं दिखाता बराबर देखतेही रहतेहैं ज्योंहीं झंडीके दर्शन हुए कि चुपचाप गाड़ीपर बैठगये क्या हुवा पहिले क्यों तड़पते थे अब क्यों चुपचाप बैठगये कारण यहहै कि झंडीसे गाड़ी की चालका ज्ञान मिलगया बच्चा जिस चीजको देखताहै फौरन प्रश्न करताहै कि बाबू ! यह क्याहै एकही चीजको नहीं पूछता आप बच्चेको अजायब घरमें लेजाइये फिर इसके सवालात का मजा देखिये कि जबतक आप एक प्रश्नका उत्तर न देसकेंगे कि दूसरा तैयारहै यह छोटासा बच्चा आपका नाकमें दम करदेगा आप जवाब देते देते थक जावेंगे मगर बच्चा सवाल करनेमें न थकेगा क्योंकि बच्चा चाहताहै कि मुझे संसारी चीजोंका ज्ञानहो बाजारमें जब लड़ाई होते देखतेहैं तो सैकड़ों बाज़ २ मौके पर हजारों मनुष्य एकत्रित होजातेहैं और बार २ यही पूछतेहैं कि लड़ाई क्यों होती है हालांकि जिससे ये पूछतेहैं वहभी इसको नहीं जानता और पूछनेवालोंको कोई प्रयोजन भी

नहीं परन्तु इतने परभी प्रश्नपर प्रश्न होतेहैं क्योंकि ज्ञानका अधिकरण आत्माहै आत्मज्ञान चाहताहै एक दोस्त जब अपने दोस्तसे मिलताहै तो प्रश्न करताहै कि आज आप क्या करते रहे अगर वह यह कहदे कि हम अमृतबाज़ार पत्रिका देखते थे तो बस कमबख्ती आगई मग़ज़ चाट जावेंगे और यही कहेंगे कि कोई ताज़ी खबर सुनाओ यद्यपि वह ताज़ी खबर घण्टाभरके बाद पुरानीही होजावेगी परंतु उसका पिण्ड न छोड़ेंगे पिण्ड जभी छूटेगा जब यह कहालेंगे कि और इसमें कोई ताज़ी खबर नहीं थी यह बात क्या है बात क्याहै बात वहीहै घर बैठे संसार का ज्ञान चाहतेहैं प्रत्येक मनुष्य अपने आत्माको ज्ञानी बनाना चाहता है यह बात दूसरीहै कि पुराने समय में विज्ञान (ब्रह्मज्ञान) की शिक्षा पातेथे और इस समयमें प्राकृत ज्ञानकी शिक्षा पातेहैं यहभी बात भिन्नहै प्रथम ब्रह्मकी प्राप्तिके लिये और अब नौकरीके लिए ज्ञानहै लेकिन संसारमें रातदिन ज्ञानकी तरक्की होरहीहै परन्तु इतनेपरभी दुनियामें कोई पूर्ण ज्ञानी नहीं है गर्ज यहहै कि संसारमें न तो कोई पूर्ण स्वतन्त्रहै और न कोई पूर्ण सुखीहै और न कोई पूर्ण ज्ञानी है फिर यह अधूरी २ तीनों चीजें कहांसे आई इनके आनेके लिये इनका कोई भण्डार मानना पड़ेगा क्योंकि साइंसका सिद्धांत है कि जिस चीजको अधूरी देखो उसका भण्डार मानो

जिनमें से यह चीज आई है इनका जो भण्डार है उसीका नाम ईश्वर है।

पञ्चम—जब कोई बच्चा उत्पन्न होता देखते हैं तो उसका शरीर उन्हीं पांच तत्वोंका दीखता है जिन पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाशादि पांच तत्वोंका हमारा शरीर बना है अच्छा अब विचार करना पड़ता है कि बच्चेके शरीरमें पृथिवी तत्वके परमाणु कहांसे आये अब यदि यह कहें कि गर्भमें पैदा होगये तो यह उत्तर ठीक नहीं क्योंकि "नासतो विद्यते भावो" नेस्तीसे हस्ती होतीही नहीं यही सिद्धान्त साइन्सकाहै और यही सिद्धान्त हिन्दू शास्त्रोंका अच्छा तो फिर आये कहांसे अब मानना पड़ेगा कि अपने भण्डार पृथिवीसे ये परमाणु आये जिस प्रकार पृथिवीके परमाणु पृथिवीमें से आये इसी प्रकार जलके परमाणु भी व्यापक जल जो सब जल समुदाय का भण्डारहै उसीमेंसे आये जिस प्रकार पृथिवी जलके परमाणु अपने २ भण्डारसे आये इसी प्रकार अग्नि, वायु, और आकाशके परमाणुभी क्रमसे व्यापक अग्नि व्यापक वायु और व्यापक आकाशरूप अपने २ भण्डारोंसे आये अच्छा शरीरके पांच तत्वोंका पता तो लगगया अब केवल एक चीजका पता लगाना शेष रहगया उसकाभी निर्णय करना चाहिये क्यों साहिब शरीर के तत्व तो अपने २ भण्डारों से आकर शरीरमें मिल गये

लेकिन यह चैतन्यशक्ति जो जीवमें दीखतीहै यह कहांसे आई इसका भी तो पता लगाना चाहिये इसके ऊपर डाक्टरोंकी संमतिहै कि पांचतत्वके आपसमें मिलतेही रुधिर पैदा होता है बस रुधिरके बननेसे यह चैतन्यशक्ति जिसको जीवन कहते हैं बनती है और रुधिरके बिगड़नेसेही इसका नाश होजाताहै यह कोई भिन्न चीज नहीं है हमको शरीरमेंसे रुधिर निकाल लेने दो देखें मनुष्य कैसे जीवित रहसकता रुधिरही जीव है इससे भिन्न शरीरमें कोई जीव नहीं यह डाक्टरोंका सिद्धान्त है इस सिद्धान्तमें बड़ीभारी भूलहै जो रुधिरके सहारेसे जीव उड़ादिया जाता है प्रथम डाक्टरोंका कथनहै कि यदि हम रुधिर निकाललें तो मनुष्य जिन्दा नहीं रहता इसका रुधिरही जीव है इसके ऊपर मैं कहताहूँ कि अच्छा हमें शरीरमेंसे हड्डी निकाल लेने दो देखें फिर प्राणी कैसे जीवित रहता है जब हड्डीकेभी निकालनेसे जीवित नहीं रहता तो फिर रुधिरमेंही क्या विशेषताहै द्वितीय डाक्टरोंका यह मन्तव्य कि पांचों तत्वोंके मिलनेसे एक शक्ति पैदा होतीहै और उनके ठीक न रहनेपर उसका नाश होताहै यह सिद्धान्त बिल्कुल साइन्सके विरुद्ध है क्यों साइन्सका यह नियम है कि कोई वस्तु नई पैदा नहीं होती और न किसी वस्तुका नाश होताहै नेस्तीसे तो हस्ती और हस्तीसे नेस्ती नहीं होसकती जब संसारमें कोई भी चीज उत्पन्न नहीं

होती तो भला साइन्सके विरुद्ध चैतन्यताकी उत्पत्ति कैसे मानी जासकतीहै जब कि संसारमें किसी चीजका भी नाश नहीं होता फिर रुधिर आदिके बिगड़नेसे इसका नाश कैसे मानाजावेगा इसकी उत्पत्ति और नाश मानलेना एक खयाली पुलाव अयुक्त है साइन्सके विरुद्ध है इसीकारणसे यह उत्तर कटजाता है अच्छा यह उत्तर ग़लत होगया फिर वही सवाल आगे आगया कि शरीरमें ५ तत्व वो अपने २ भण्डारसे आये यह कहांसे आई आपको आधुनिक और प्राचीन पदार्थविद्या मजबूर करेगी कि इसकाभी भण्डार मानों इसका भण्डार आपको मानना पड़ेगा इसके सिवाय और कोई रास्ताही नहीं इसका जो भी भण्डार है उसीका नाम परमात्माहै उसको ईश्वर कहते हैं और आखिरको जिस ईश्वरसे यह चैतन्यता आई उसीमें जाकर मिलजावेगी जिस को हिन्दू मोक्ष कहते हैं इस चैतन्यतासे ईश्वरसिद्धि पुष्ट है अकाट्य है अतएव मान्य है।

साइन्ससे जो ईश्वर सिद्धिकीगई है वह आप लोग देखही चुकेहैं अब केवल इतना और कहना है कि यह साइंस से सिद्ध किया ईश्वर साकार होसकता है शरीर धारणकर सकता है या कि निराकार रूपमेंही रहता है सज्जनवर यह एक मामूली बात है और इसको एक साधारण बुद्धिमानभी समझ सकता है जब कि वायुका एक भाग रूईको उड़ादेताहै

जब कि वायुका एक छोटासा हिस्सा कपड़े या पत्तोंको उड़ा देताहै तो क्या बड़ा भाग न उड़ा सकेगा जब कि जलके एक भागमें नौका तैरती है जब कि जलका छोटासा हिस्सा मनुष्य आदिको बहालेजाताहै तो क्या अधिक हिस्सेपर नौका नहीं तैर सकती या कि मनुष्य आदिको नहीं बहालेजासकता जब कि अग्निका एक छोटासा भाग लकड़ीके समूहको फूंक डालता है जब कि अग्निके छोटे भागसे पानी गर्म होजाता तो क्या अधिक भागसे यह कार्य न होसकेंगे जब कि आकाश के छोटे हिस्सेसे शब्दोत्पत्ति होतीहै तो क्या दीर्घभागसे न होगी जब कि पृथिवीके एक छोटे भागसे शिर फूट जाताहै तो क्या बड़े भागसे न फूटेगा जब छोटी ताकत शरीर धारण करले तो बड़ी शक्ति कि जिसको ईश्वर कहते हैं उसके शरीर धारण करनेमें सन्देहही क्या है अब कोई २ सज्जन यह सवाल करते हैं कि जब जीव छोटी शक्ति बन्धनमें आजाती है तो बड़ी शक्ति ईश्वरभी बन्धनमें आजाताहै इसका उत्तर यह है कि छोटा भागही कैद हुआ करताहै बड़ा भाग कभी नहीं होसकताहै यह नियम तत्वोंमें भी पायाजाता है आप थोड़ेसे पानीकोही लोटेमें भरसकते हैं समुद्रको नहीं थोड़ीसी अग्नि चूल्हेमें रहसकती है समस्त व्यापक अग्निको आप चूल्हेमें नहीं रखसकते आप श्वास लेते समय वायुके एक जरासे हिस्सेको ही खैंच सकते हैं सबको नहीं आप जमीनके छोटे हिस्सेकोही

घड़ा बनासकते हैं समस्त पृथिवीका नहीं जैसे कि यह तत्वोंका भण्डार बन्धनमें नहीं आताहै इसीप्रकार परमात्मा बन्धनसे बरी है जैसे तत्वभण्डारपर किसीका असर नहीं पहुँचता इसीप्रकार ईश्वरपर कर्मोंका असर नहीं पड़ता कर्मोंका असर ईश्वरपर नहीं इसको संसार मान्यपुस्तक उपनिषद उत्तमरीतिसे कहता है बस साइन्ससे ईश्वर सिद्ध ईश्वर अवतार सिद्ध होगया इसकारण इस ईश्वरसिद्धिमयूखको इसीस्थानपर विश्राम देताहूँ इसके आगे ब्राह्ममयूखका प्रारम्भ होगा ।

इति ईश्वरसिद्धिमयूखोद्वितीयः

अथ ब्राह्ममयूखस्तृतीयः ।

जो सज्जन यह कहते हैं कि ब्रह्म निराकार है ब्रह्म अवतार नहीं लेता ब्रह्म के शरीर नहीं यदि सच पूछा जावे तो यह लोग ब्रह्मज्ञानसेही अनभिज्ञ हैं इन्होंने न तो कभी वेदका मन्त्रभागही देखा है और न यह उपनिषद भागसेही परिचितहैं इन्होंने कभी गीताकाभी पाठ नहीं किया और न यह ऊँची कक्षाकी पदार्थविद्या जानतेहैं उपरोक्त विषयोंमेंसे किसी एकके जाननेसे यह ज्ञान होजाता है

कि सूक्ष्म या स्थूलरूप या जड़ चैतन्यात्मक जितना संसार है यह सब ब्रह्मका कार्य है अर्थात् समस्त संसार ब्रह्मसेही उत्पन्न हुआहै और अन्त्यमें ब्रह्ममेंहीं जाकर लय होजावेगा ब्रह्मसे भिन्न द्वितीय कोई पदार्थ पृथक् सत्तावाला नहीं है जोजो पदार्थ भिन्न २ रूपमें दृष्टिगोचर होरहेहैं ये सब ब्रह्म केही रूपहैं आप अपने मनमें यह समझतेहैं कि जिसके ऊपर हम चलते फिरते हैं यह पृथ्वी है पृथ्वी एक और वस्तु है और ब्रह्म कोई दूसरा पदार्थहै यदि आप इसके विचारमें परिश्रम करें तो थोड़ेही कालमें यह कह उठेंगे कि पृथ्वी क्या है ब्रह्मकाही स्थूलरूपहै इसका विचार इसप्रकार होताहै हम आपसे पूँछते हैं कि पृथ्वी क्या वस्तु है तो आप यही उत्तर देंगे कि पृथ्वी क्या है पार्थिव परमाणुओं का ढेर है यहांपर पृथ्वी कार्य हुआ और पार्थिव पार्थिवी के परमाणु कारण हुये अब आगे विचार कीजिये कि वस्तुतः पार्थिव परमाणु कारणहीहैं या किसीके कार्य यहांपर थोड़ासा विचार करनेसे तुरन्तही ज्ञान होजाताहै कि पार्थिव परमाणु तो जलसे बनेहैं इसमें प्रत्यक्ष प्रमाण यह है कि आधुनिक साइंसवेत्ता यंत्रोंद्वारा जलके पार्थिव परमाणु बनादेतेहैं इससे सिद्ध हुआ कि पार्थिव परमाणु भी नित्य नहीं परञ्च जलके कार्य हैं अब इसके आगे यह विचारना उचितहै कि जल क्या चीज है विचार करनेसे ज्ञान होगा कि जलके परमा-

णुओंके समूहको जल कहते हैं अब प्रश्न होगा कि जल के परमाणु स्वतः कारणहैं या किसी के कार्य भी हैं सोचने से ज्ञात होताहै कि इनका कारण अग्नि है यदि इनका कारण अग्नि न होती तो सृष्टि के आरम्भमें आगका गोला बनी हुई जो पृथ्वीथी वह किस जलमें ठंढी होती यहांपर अग्नि के गोलेसेही जल बना और उस जलसे पृथ्वी ठंढी हुई अग्निभी आग्नेय परमाणुओंका समुदाय है क्या आग्नेय परमाणु नित्यहैं कदापि नहीं वे भी अपने कारण वायुसे उत्पन्न हुयेहैं इसको हम प्रथम लिखआये हैं कि जिस मनुष्य की श्वास शीघ्र २ चलती है उसके शरीरमें गर्मी अधिक रहतीहै वायुभी वायवीय परमाणुओंका समुदाय है वायवीय

२—साइन्सवेत्ता वायुको अग्नि मिलाकर तीनहीं तत्व मानते हैं।

२—थिओसोफिकल सोसाइटीके तत्वान्वेषी विद्वानोंने अभीतक तीन पदार्थोंके बाबत जिसके नाम पाश्चात्य पदार्थ विद्यामें आक्सिजन गैस अर्थात् अम्लजन वायु हाइड्रोजन अर्थात् अब्जन वायु और नाइट्रोजन वायु हैं यह निश्चित किया है कि हाइड्रोजन वायुका स्थूल परमाणु अठारह (१८) स्वरूप परमाणुओंसे मिलकर बना है आक्सिजनका परमाणु दोसौनब्बे (२९०) स्थूल परमाणुओंसे मिलकर बना है और नाइट्रोजनका दोसौइकसठ (२६१) स्वरूप परमाणुओंसे बनाहै.

परमाणु स्वतः नित्य नहीं हैं वरन वह आकाशसे बनेहैं यहां पर आधुनिक साइंसकी इतिश्री होचुकी अतएव इसके आगे प्राचीन पदार्थविद्या के प्रमाण मिलेंगे आधुनिकपदार्थ विद्यासे प्राचीन पदार्थविद्या उच्च शिखरपर पहुँचीहुई है इसके लिए यह एक प्रमाण काफ़ी है कि आधुनिक साइंसने उन्नति करते २ आजतक एक परमाणुमें ६७ शक्तियोंका ज्ञान पायाहै और प्राचीन पदार्थविद्या एक परमाणुमें ३०० के ऊपर शक्तियां बतलारही हैं दूसरा प्रमाण यहहै कि आधुनिक साइंस वायुतत्व के आगे पता नहीं देती और प्राचीन पदार्थविद्या यहांसे आगे दौड़तीहुई चलीजाती है हां आधुनिक साइंस इतना अवश्य कहती है कि वायवी परमाणुओं काभी ईथर (सूक्ष्म) भाग होसकताहै आकाशभी नित्य नहीं है वहभी अहंकार से उत्पन्न हुआहै अहङ्कारभी महत्तत्व (बुद्धिशक्ति) से प्रादुर्भूतहै यह ज्ञानशक्तिभी नित्य नहीं है इसीकारण मूल प्रकृतिहै और मूलप्रकृतिका जन्मस्थान ईश्वर है इसप्रकारसे ब्रह्मांडका मुख्य कारण ब्रह्महीहै ब्रह्मसे भिन्न कोई पदार्थहै नहीं इसको वेदका मन्त्रभाग इसप्रकार कहताहै

"पुरुषएवेदꣳसर्वंयद्भूतंयच्चभाव्यम्"

यजु० अ० ३१ मं० २

अर्थ—जो कुछ उत्पन्न होचुका और जो आगे होगा यह सपुरुष ब्रह्मही है ।

द्वितीय प्रमाण—

तदेवाग्निस्तदादित्य स्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः ।
तदेवशुक्रंतद्ब्रह्मताआपःसप्रजापतिः ॥

यजु० अ० ३२ मं० १

अर्थ—वही ब्रह्म अग्नि है वही आदित्य सूर्य है वही वायु है वही चन्द्रमा है वही शुक्र है वही जल है वही प्रजापति है ॥

इसी की भगवद्गीताकी थ्योरी विस्तारसे कहतीहै देखिये—

भूमिरापोऽनलोवायुःखंमनोबुद्धिरेवच ।
अहंकारइतीयंमेभिन्नाप्रकृतिरष्टधा ४ ॥
अपरेयमितस्त्वन्यांप्रकृतिं विद्धिमेपराम् ।
जीवभूतांमहाबाहोययेदंधार्यतेजगत् ५ ॥
एतद्योनीनिभूतानिसर्वाणीत्युपधारय ।
अहंकृत्स्नस्यजगतःप्रभवःप्रलयस्तथा ॥६॥
मत्तःपरतरंनान्यत्किंचिदस्तिधनंजय ।

मयिसर्वमिदंप्रोतंसूत्रेमणिगणाइव ॥७॥

गी० अ० ७

अर्थ–भूमि[1] (गन्धतन्मात्र) आपः[2] (रसतन्मात्र) अनल[3] (रूपतन्मात्र) वायु[4] (स्पर्शतन्मात्र) आकाश[5] (शब्दतन्मात्र) मन[6] (अहंकार) बुद्धि[7] (महतत्व) अहंकार[8] (मूलप्रकृति) इन आठ प्रकारसे मेरी प्रकृति अलग २ होरही है ॥ ४ ॥

यह अपरा प्रकृति है इसके सिवाय मेरी दूसरी पराप्रकृति जान जो जीव बनकर रहती है और जो हे महाबाहो इस जगत्‌को धारण करती है ॥ ५ ॥

यह समझले कि सब प्राणियोंके यह दो कारणहैं मुझसे सब जगत्‌का प्रकाश होता है और मुझमेंही सब जगत्‌का लय होताहै ॥ ६ ॥

हे अर्जुन मुझसे और परे कुछभी नहीं है मुझमें यहसब पिरोवा हुआ है जैसे तागे में मोतियोंके गुच्छे ॥ ७ ॥

अब हम इसी बातको उपनिषद्‌की आख्यायिका द्वारा समझाते हैं उपनिषद् क्या हैं यह बतलानेकी आवश्यकता नहीं है उपनिषदोंमें जिस विशाल ज्ञानका उपदेश उसे साम्प्रति सारा संसार माने बैठा है उपनिषदोंको जिसने हृदयङ्गम किया उसनेही इसके सार्वदेशिक सिद्धान्तोंको

आगे शिर झुकादिया दाराशिकोह के चंचलमनको इसीने शान्ति दी जिसने उपनिषदोंपर फ़ारसी भाषा में तर्जुमाभी कियाहै यह उपनिषदोंहीं की शिक्षाहै जिसके प्रभावसे माया-पुरीमें भी सहस्रों बी. ए. एम. ए. अमेरिकन स्त्री पुरुष इसकी सुहावनी छाया में आनन्दित होरहे हैं थ्यासोफिस्ट सोसाइटीकी जन्मदाता उपनिषदोंहीकी शिक्षा है जिस उपनिषदकी थ्योरीके आगे आधुनिक साइंसकेभी होश उड़ते हैं उसकी यह आख्यायिका है सावधानीसे अवलोकन कीजिये-

श्वेतकेतुकाउपाख्यान ।

प्राचीनकाल में आरुणिनामक बड़े महात्मा ब्रह्म के ज्ञाता एक ऋषि थे। उनका श्वेतकेतु नामक एक पुत्रथा जिसकी अवस्था द्वादशवर्ष की होचुकीथी एक दिन पिताने पुत्रसे कहा हे पुत्र हमारे कुलमें सभी ब्रह्मज्ञ हुयेहैं इस कारण तुमकोभी ब्रह्मविद्याका अभ्यास करनाचाहिये अब तुम्हारी अवस्था इस विद्या के पढ़ने योग्यहै अतएव हमारी इच्छा है कि तुम हमारे कुल के योग्य किसी आचार्य के निकट कुछकाल निवासकर ब्रह्मचर्य पालनपूर्वक ब्रह्मविद्याका अभ्यासकरो पूज्य पिताकी इस आज्ञाको पाकर श्वेतकेतु गुरुकुलमें चलागया और वहां २४ वर्षकी अवस्था पर्यंत सब

विद्यायें पढ़कर अपने घर लौट आया किंतु दुःखकी बात है कि श्वेतकेतु पूरी विद्या पढ़कर इतने दिनों पीछे घर में अवश्य आया परन्तु पिताने देखा कि पुत्र तो बड़ाही अभिमानी एवं अविनीत बनगया है उसके हृदयमें महा-अहङ्कार घुसगयाहै कि मैं समस्त विद्याओंका ज्ञाता अद्वितीय बड़ा विद्वानहूँ पुत्रके इस अभिमानको महर्षि आरुणि तुरन्त ताड़गये उन्होंने एक दिन एकांत में बुलाकर पुत्रसे पूँछा कि हे तात विदित होताहै कि तुमको अपनी विद्याका कुछ विशेष गर्व है सो आचार्यजीके पाससे तुम जो विद्यायें सीख आयेहो उनकी आज हम परीक्षा लेना चाहतेहैं हम तुमसे केवल एकही बात पूँछना चाहते हैं इसका यथार्थ उत्तर प्रदान करो हमारा प्रश्न यह है कि जिस तत्वको एक बार सुन लेनेपर फिर संसारमें सुननेके लिये कुछ शेष नहीं रहजाता जिस विषयको तर्कद्वारा एकबार हृदयङ्गमकर लेनेपर संसारका सभी विषय ज्ञानगम्य होजाताहै जिसको जानलेनेपर और कुछभी जाननेके योग्य नहीं रहजाता वह कौन तत्व है, वह वस्तु क्या है वह कौनसा विषय है बतलाओ संसारमें ऐसा कौन पदार्थ है जिसका ज्ञान प्राप्तकर लेनेपर फिर दूसरे पदार्थके जाननेकी आवश्यकता नहीं रहजाती । इसभांति पिताके मुखसे अद्भुत प्रश्नको सुनकर श्वेतकेतु चकित होगया और बड़े आश्चर्य पूर्वक विस्मित

होकर बोला कि पिता यह क्या कहरहेहो मैं तो ऐसी किसी वस्तुको नहीं जानता ? तब पिता आरुणिजी हँसकर बोले प्रियपुत्र ! तुम्हारे अभिमान को देखकर हमने पहलेही समझलियाथा कि तुमसे इस प्रश्नका समाधान होना कदापि सम्भव नहीं क्योंकि तुम अभी सामान्य लौकिक शास्त्रमात्र पढ़आयेहो किन्तु जो सब विद्याओंका सारहै उसका गूढ़ाशय तुमको अभीतक प्राप्त नहीं हुआहै अस्तु अब फिरभी हमारे प्रश्नको ध्यान लगाकर श्रवणकरो ।

कारण और कार्य इन दोनों के बीचका मुख्य सम्बंध यदि भलीभांति समझमेंआजाय तो हमारी पूछीहुई वस्तुका पता सहजमेंही लगसकताहै मृत्तिकारूप उपादान कारणसे घट शराव आदिक कार्य उत्पन्न होतेहैं इस स्थानपर मृत्तिका स्वरूप समझ लेनेसे घट शराव आदिकका तत्व भी समझ लिया जासकताहै कारणही कार्य के आकारमें दर्शन देताहै वास्तवमें कार्य अपने कारण से स्वतन्त्र नहीं होता तथापि लोग भ्रमवश कार्योंको भिन्न २ अलग २ एक २ पदार्थ मानलेतेहैं कारणकी अपेक्षा कार्यका रूपरंग आदि कुछ दूसरे प्रकारका दीखपड़नेहैसे लोग कार्यको कारणसे सर्वथा पृथक् जानकर व्योहार करतेहैं किन्तु यथार्थ में कार्य अपने कारण से कदापि पृथक् नहीं हो भिन्नता केवल नाम और आकारमें है घटका घट या चाहै जो दूसरा कहिये परन्तु घड़ा मिट्टी

से भिन्न दूसरी वस्तु नहीं है घड़ा सर्वदा मिट्टीहीहै उसका आकार और नाममात्र पृथक् है इसप्रकार विचार करनेसे ज्ञात होताहै कि विकरनामवाली कोईभी वस्तु स्वतन्त्र नहीं है जिसको तुम घटादि (कार्य) कहतेहो वह अपने कारण मृत्तिकाकाही रूपान्तरमात्र है उसका कारणही उसमें अन्तः प्रविष्ट होरहाहै वह उस कारणकी दूसरी अवस्था के रूपसे वर्त्तमान है जैसे एकमात्र सुवर्ण के विषयमें ज्ञान होजानेसे उनके विकारभूत हार, अँगूठी, बाली, कङ्कन, मुकुट, प्रभृति द्रव्योंका स्वरूपभी वही सुवर्णमात्रहै । यह स्पष्ट ध्यान में आजाताहै जैसे एक लोहपिण्डको जानलेनेसे उससे बनेहुये अस्त्र शस्त्रादिका स्वरूप सहजही समझमें आजाताहै वैसेही किसी पदार्थ के विषयमें हेपुत्र क्या तुमने कोई उपदेश नहीं पाया है ? जिसके कहनेसे हमारे प्रश्नका उत्तर होजाता हम ऐसीही बात तुमसे पूँछते हैं ।

पिताके वचनोंको सुनकर श्वेतकेतुने मनहीमन शोचा कि कदाचित् पिताजी विद्याध्ययनार्थ फिर न गुरुकुल में भेजदेवें इस भयसे भीत होकर बोला कि अवश्यही मेरे आचार्य गुरूजीभी इसबातको नहीं जानते होंगे अन्यथा वे निश्चयही यह विषय समझादेते अतएव हेपिताजी कृपाकरके आपही मुझे इस विषयका उपदेश दीजिये जिसे हृदयङ्गम कर मैं सर्वज्ञ होसकूं तब महात्मा आरुणिजी कहनेलगे ।

इस परिदृश्यमान संसारमें पशु पक्षी तरुलता पाषाण पर्वत नद नदी प्रभृति बहुविध पदार्थ नाम रूपात्मक जो सृष्ट पदार्थ दृष्टिगत होते हैं उनके नानाप्रकार के नामों एवं रूपों के प्रकाशित होनेके पहले एकमात्र अद्वितीय सद्ब्रह्म पदार्थही विराजमानथा उत्पत्तिसे पहिले कोई वस्तु किसी भी नाम वा रूपसे परिचित नहीं थी किसी पदार्थकाभी प्रकाश नहीं था यानी ब्रह्म के सिवाय किसीभी दूसरी चीज़ का पता न था उत्पन्न होनेके पश्चात्‌ही सब पदार्थ नाना विध नाम आकार और गुणों से विशिष्ट होकर हमारी इंद्रियों तथा बुद्धिके सन्मुख विषयरूपसे आनेहैं सृष्टिके पूर्व में (अभिव्यक्तिके पहले) नामरूप आदि कुछ नहीं था केवल परमकारण सत्स्वरूप ब्रह्मही अप्रकाशरूपमें वर्त्तमान था कोई कुम्भकार प्रातःकाल घड़ा तैयार करनेके अभिप्राय से मट्टी इकट्ठी धरकर किसी कामके लिये दूसरे ग्रामको चलाजाय एवं उस कामको करके सायंकाल अपने घर लौट आकर उसी सबेरेकी संगृहीत मृत्तिका द्वारा घड़ा बनाकर विचार करे कि यह घड़ा प्रातःकाल मृत्तिका मात्र था इस समय इस मृत्तिकासेही यह घटादि आकार विशिष्ट वस्तु उत्पन्न हुई है घटादि आकार विशिष्ट सामग्री उत्पन्न होनेके जैसे मृत्तिकामात्र वर्तमान थी वैसेही इस नामरूपमय विश्व की सृष्टिके पूर्व एक अद्वितीय ब्रह्ममात्रही वर्तमान था कि

इस कुम्भकार दृष्टांत और विश्व सृष्टिमें महानपदार्थ क्या है ! कुम्भ निर्माणकालमें जैसे मृतिकाके सिवाय कुम्भकार एवं दण्डचक्रादि अनेक सहकारी कारण वर्तमान रहते हैं वैसेही विश्वनिर्माणकालमें दूसरे कोई पदार्थ नहीं किन्तु एकमात्र ब्रह्मही रहताहै सहकारी कारण न होनेसेही ब्रह्मको "अद्वतीय" कहाहै परन्तु हे वत्स किसी २ पंडितका यह भी कहना है कि सृष्टिके पूर्वमें कुछभी नहीं था किसीकाभी अस्तित्व नहीं था अर्थात् समस्तही सभावात्मक शून्य था 'असत्' था किन्तु ऐसा कथन ठीक नहीं है क्योंकि असत्से सत्की उत्पत्ति नहीं होसकती अत्यन्त अभावसे भावात्मक पदार्थ प्रादुर्भूत नहीं होसकते निरात्मक, अस्तित्वहीन एकान्त अभावात्मकही असत् कहाता है और इसके विपरीतको सत् कहते हैं सो ब्रह्म पदार्थ निरात्मक अभावात्मक वा शून्य नहीं होसकता ब्रह्मज्ञान स्वरूप शक्तिस्वरूप और आनन्दित स्वरूप है ॥

असत्से सत्का प्रादुर्भाव कदापि युक्ति सङ्गत नहीं बोध होता यह विषय अतिगम्भीर एवं कठिनहै भलीभाँति मनोयोगसे विचार बिना समझ में नहीं आसकता किसी वस्तुकी उत्पत्तिका विकासके पूर्व कारण और कार्य दोनोंकी उपलब्धि नहीं होती एतावता वे थेही नहीं ऐसा अनुमान करना युक्ति बिरुद्ध है क्योंकि कार्यकी उत्पत्तिसे पहले एक

कारणका होना अतिआवश्यक है एवं इसीकारणके भीतर उसका कार्यभी अव्यक्तरूपसे वर्तमान रहता है मृत्तिका न हो तो घट नहीं उत्पन्न होसकता मृतिकाके होनेसेही घटका जन्म होना सम्भव है सुतरां कारणकी सत्ताविना कार्य कैसे होसकता है ? विना कारणके कार्यका होना कदापि सम्भव नहीं होसकता इसलिये कारणकी सत्ता अवश्यमेव माननी पड़ेगी कुछ बुद्धिमान् ऐसी आपत्ति उठाते हैं कि अभावसेही तो कार्योंपत्ती होतीहुई देखीजाती है घड़ेकाही दृष्टांत लीजिये देखिये मृत्तिकाके पिण्डका नाश हुए विना तो घट उत्पन्न नहीं होसकता तब मृत्पिण्डका ध्वंसरूप अभावही घटकी उत्पत्तिका करण हुआ ऐसी युक्तियोंके सहारे कुछ लोग असत्सेही सत्की उत्पत्ति मानतेहुए कारणकी सत्ताको अस्वीकार करते हैं वे लोग घटके सिवाय बीज और वृक्षका भी दृष्टांत उपस्थित करते हैं कहते हैं कि बीजसे जब वृक्षकी उत्पत्ति होती है तब वहांपर हम क्या देखते हैं यही न कि बीज एकबारही नष्ट होजाता है तभी वृक्ष पैदा होता है सुतरां बीज--ध्वंसही अर्थात् बीजका अभावही जब वृक्षकी उत्पत्तिका हेतु है तब अभावसेही तो वस्तुकी उत्पत्तिका होना सिद्ध होगया ? हे पुत्र असद्वादी पण्डितोंकी युक्तियोंको तुमने सुना किन्तु अब हम यह दिखलाते हैं कि इन युक्तियोंमें कुछ भी सार नहीं है । ध्यान देकर

देखिये कुम्भकार जब मृत्तिकाको लेकर घड़ा बनाता है तब पहिले मृत्पिण्ड वा मिट्टीका लोंदा तैयार करता है एवं लोंदे को फोड़कर उससे घड़ा बना देताहै यहांपर अवश्यही मृत्पिण्डके ध्वंस होनेके बादही घड़ा उत्पन्न होता है इसमें कुछभी सन्देह नहीं, किन्तु तुम खूब सावधान होवर विचारोगे तो जान जावोगे कि मृत्पिण्डका ध्वंस होनेपरभी मृत्तिका तो बनीही रहती है अर्थात् मूल उपादान मृत्तिकाका तो ध्वंस होताही नहीं पिण्ड तो मृत्तिकाकाही एक आकार वा संस्थान विशेषमात्र है घटका कारण तो पिण्डरूप आकार नहीं किन्तु मृत्तिकाही मुख्य कारण है सुतरां मृत्पिण्डके ध्वंस होजानेके पश्चात् घट उत्पन्न होता है इतने मात्रसे ध्वंसकोही घटका कारण मानना किसी तरह ठीक नहीं । इसीप्रकार सुवर्ण पिंडरूप अवयवीका, किंवा सुवर्ण पिण्डका ध्वंस, कनक—कुंडलका कारण नहीं किन्तु सुवर्णही कुण्डलका कारण है ॥

किसी कार्यकी उत्पत्ति में उसके अव्यवहित पूर्ववर्ती एक दूसरे कार्यका ध्वंस होजाताहै यह नियम सर्वत्र देखाजाता है । परन्तु पूर्ववर्त्ती इस कार्य के ध्वंस होनेमें मुख्य कारणकाभी ध्वंस होजाना कदापि सम्भव नहीं क्योंकि परिवर्ती कार्यों में भी यह कारणही अनुप्रविष्ट देखाजाता है इससे पिंडादिके ध्वंसके पश्चात् घटादिकी

उत्पत्ति होनेपरभी जब मृत्तिका बनीही रहती है, मृत्तिका विद्यमानही है जबकि मृत्तिकाका ध्वंस होताहोनहीं तब असत् से घट आदिक सत् पदार्थ उत्पन्न होतेहैं ऐसा कहना सर्वथा युक्ति विरुद्धहै । और अब यदि तुम यह कहो कि घटकी उत्पत्तिके पूर्व में मृत्तिका तो केवल मृत्तिकाके आकारमें स्वतन्त्रभावसे रहती नहीं वह पिंडकारके सहित मिलित भावसेही रहतीहै तब तो हम कहेंगे कि पिंडके आकार में रहे या किसीभी आकारमें क्यों न रहे, वह है तो मृत्तिका ही, मृत्तिकाके अतिरिक्त कोई दूसरी वस्तु नहींहै । जो मृत्तिका पिंडकार में रहतीहै वही मृत्तिका पिंडके विनिष्ट होनेपरभी घटाकारसे देखीजाती है यहांपर मृत्तिकाका अभाव कहां हुआ ? इस विचारसे सिद्ध हुआ कि पिंडरूप अवयवीका अभाव होनेपरभी मृत्तिकाही घटका कारणहै न कि उसका पिंडरूप आकार बीजी वृक्षवाले दृष्टान्त में भी यही बातहै यद्यपि बीजके गलजानेपर या पचकर ध्वंस होजानेके अनन्तरही वृक्षोत्पत्ति होती देखीजाती है तथापि उपादान द्रव्योंका कि जिन द्रव्योंसे बीज देह गठित हुईहै उनका ध्वंस नहीं होता यह उपादानही वृक्षरूपसे परिणत होता है अतएव इस स्थलमें भी बीजका ध्वंसही वृक्षका कारण नहीं, वरन बीजके उपादान भूत अवयवही वृक्षोत्पत्तिके प्रधान कारण हैं । उक्त लेखसे स्पष्ट होगया कि वादी

विद्वानों की आपात्ति आसार है और कार्यकी उत्पत्तिके पहिले कारणका सर्वदा होना सर्वथा सिद्ध है ।

उत्पत्तिके पूर्व कार्यभी अपने कारण में अप्रकटभावसे विद्यमान रहताहै यह सुप्तभावसे स्थित कार्यही आगे अभिव्यक्त होता या प्राकृत होजाताहै । अभिव्यक्ति होनेपरही उसका प्रत्यक्ष दर्शन होताहै । अतः कार्य की उत्पत्तिसे पूर्व भी कार्यकी सत्ता (अव्यक्तिभावसे) पाई जातीहै । किंतु इस प्रसङ्ग में एक बात विशेषकर स्मरण रखने योग्य है । वह यह कि कारणके भीतर कार्यको विद्यमान समझकर मन में यह न बैठना कि कार्य ठीक कार्य के आकारसेही कारण के भीतर वर्तमान रहता है । ऐसा नहीं, किंतु कार्य, कारण के बीचमें अनभिव्यक्तिभावसे अवस्थित रहताहै परन्तु कारणके भीतर कार्यकीही यह विद्यमानताही यथेष्ट नहीं, इसकी अभिव्यक्ति वा विकाशका होना आवश्यक है अर्थात् जिस क्रियाकेद्वारा वह अनभिव्यक्ति कार्य अभिव्यक्ति होगा यानी प्रकाशित होगा, उस क्रियाका करना आवश्यक है । नहीं तो कार्य किसके बलसे बाहर होगा ? उत्पत्ति के पूर्व घट अवश्यही "किसी" के द्वारा अवरुद्ध वा अवृत रहताहै उस आवरणको उठादेनेपरही घटकी उत्पत्ति सम्भव होसकती है । घटरूपी कार्य के उत्पन्न होनेसे पहिले

मृत्तिकाके अवयव पिण्डका आकार धारण करते हैं । यही पिण्डकार-धारणही घटका आवरण है इसके द्वारा घट आवृत रहता है, इसीसे मृत्तिकामें घटकी प्राप्ति नहीं होती । इस पिण्डरूप आवरणको ध्वंस करतेही घटकी अभिव्यक्ति होजाती है । अतएव यह सिद्ध होगया कि, घटरूप कार्य मृत्तिकारूपी कारणमें पहिलेसेही विद्यमान था । परन्तु इस युक्तिके ऊपरभी एक आपत्ति उठाई जासकती है । वह यों कि-यदि घट पहिलेसेही विद्यमान था यह बात सच है, एवं यदि पिण्डरूप आवरण ध्वंस करनेही घटकी अभिव्यक्ति होना सम्भव है, तो जो मनुष्य घट बनानेकेवास्ते इच्छुकहो वह केवल उस आवरणमात्रकोही ध्वंस करे, उसको घटके लिये किसी अन्य प्रयत्नकी आवश्यकता न होनी चाहिये । किन्तु कुम्भकार केवल मृत्तिका पिण्डको ध्वंस करकेही निश्चिन्त नहीं होजाता, अन्य अनेक प्रयत्न और भी उसे करने पड़ते हैं । ऐसा होनेपर "मृत्पिण्डको ध्वंस करनेही घटकी उत्पत्ति हो" यह बात मिथ्या होगई । बस यही आपत्ति है । अब हम यह बतलाते हैं कि प्रागुक्त आपत्ति भी सर्वथा अकिञ्चित्कर है । मान लो कि, अन्धेरे में एक घड़ा रक्खाहुआ है उस घड़ेको प्रकाशित करने के लिये एक दीपक जलाया या लायागया । यह प्रदीपका लायाजाना, सिर्फ अन्धकार नष्ट करनेके लियेहीहै या घटका प्रकाश करनाभी उसका एक

प्रयोजन है । जरूर अन्धकार नाश और घटका प्रकाश, इन दोनों मतलबोंके लियेही प्रदीपका प्रयोजन पड़ता है बात यह है कि,संसारमें मनुष्य अभिव्यक्ति के निमित्त नानाप्रकार के प्रयत्न प्रकट करता रहता है, उन यत्नोंके द्वारा आवरणका भी ध्वंस होजाना प्रासङ्गिकमात्र है । कार्यको प्रकाशित करनेके लिये जिन २ क्रियाओंकी आवश्यकता है उन २ क्रियाओंके पूरे होतेही कार्य अभिव्यक्ति होजाताहै । उत्पत्ति के पूर्व कार्य अपने कारणमें वर्तमान रहता है उसकी अभिव्यक्ति के लिये केवल कईएक क्रियाओं की आवश्यकता होतीहै उन क्रियाओंके उपस्थित होजानेपर कार्य प्रकाशित होजाता है । अतएव यह निश्चय हुआ कि कार्योत्पत्तिसे पहिले कारणकी सत्ता और कारणके भीतर कार्यकी सत्ता सर्वदा निवास करती है अतः असत्से सत्का होना सम्भव हुआ और यह सिद्ध होगया कि सत्मेंही कार्य उत्पन्न होता है ॥

इससे विदित होताहै कि, एक कारण सत्ताही विविध कार्यों के आकार से अभिव्यक्ति वा प्रकाशित होरही है । सुवर्ण कुण्डलका आकार धारण करता है एवं मृत्तिका चूर्ण पिण्डाकार वा घट--शरावादि आकार धारण करती है, यह हमेशा प्रत्यक्षहै । जैसे सुवर्णका कुण्डली आकार एकप्रकारका भेदमात्र है, एवं घड़ा जैसे मिट्टीका प्रकार या आकार भेदमात्रहै, ऐसेही परिदृश्यमान यह विश्वभी एक सद्वस्तुकाही

विविधाकारमात्र है, सृष्टि के पूर्वमें वह एकमात्र सत् पदार्थही विद्यमान था, भिन्न कुछभी न था। पिण्ड, घट, शराव प्रभृति मृण्मय सभी पदार्थ जैसे परस्पर विभिन्न होतेहुएभी वे सबकेवल मृत्तिकाकेही रूपान्तर हैं, मृत्तिकासे भिन्न और कुछभी नहीं है। पिंड घटसे भिन्न है, और घट पिंडसे भिन्न है, तथापि जैसे घट और पिंड दोनों मृत्तिकासे भिन्न नहीं हैं, वे मृत्तिकारूपही हैं। इसीप्रकार सृष्टि के विविध सृष्टि पदार्थोंसे भराहुआ यह संसारभी उस सत् वस्तुसे भिन्न नहीं है--संसार सत्वस्तुकाही रूपान्तर है। और वह सत्वस्तु क्या है? वही ब्रह्म।

अब यह प्रश्न होताहै कि ब्रह्म तो एक अद्वितीय निरवयव है। इस निरवयव वस्तुसे किसभाँति भिन्न भिन्न पदार्थोंके आकार आदि गठित हुए? इस प्रश्नका उत्तर यह होगा, रज्जु (रस्सी) के अवयवमें जैसे सर्प के आकारवाली बुद्धि उत्पन्न होतीहै, ऐसेही ब्रह्ममें मनुष्यकी बुद्धिमें कल्पित संसार का स्वरूप भासित होता है। एक वस्तुमें अन्य वस्तुका आरोपण करके लोग उस वस्तुको जैसे अन्य वस्तुके रूपसेही समझने लगते हैं, जैसे बुद्धिके दोषसे लोग रज्जुकोही सर्प समझ बैठते हैं--घटको मृत्तिका न कहकर घटही कहते हैं, इसीभाँति मनुष्य की बुद्धि वस्तु मात्रको ब्रह्मसे अलग स्वतन्त्र पृथक् २ पदार्थ रूपसे मान बैठतीहै। इन्द्रियसम्बन्धी ज्ञानकी अव-

स्थाही इसप्रकारकी है । वास्तविक पक्ष में ब्रह्म से पृथक् ब्रह्मसत्तासे निरपेक्ष विश्वही सत्ता नहीं है रज्जुको रज्ज समझ लेनेपर जैसे मूलभङ्ग होकर धूलमें मिलजातीहै, सर्पबुद्धि मूलसे हिलजातीहै, घट को मृत्तिका जानलेनेपर जैसे घट बुद्धि घटकर झटपट हटजाती है, तैसेही ब्रह्मकास्वरूप समझ लेनेपर सृष्टि के सृष्टि पदार्थों की स्वाधीनसत्ता सिटपिटाकर सिमिटजातीहै, उसके स्थानमें सत्य सच्चिदानन्दकाही बोध होने लगताहै । ब्रह्म के बिना विश्वके जुदे २ रूप, आकार नाम आदिक सब मिथ्याहैं, ब्रह्मसे व्यतिरिक्त विश्वकी सत्ताही नहीं है । ये सब पदार्थ उस सत्य ब्रह्मके रूपमेंही वर्त्तमान हैं । बुद्धि इंद्रियप्रभृति अविद्याके प्रभावसेही हमको आकार आदिका भ्रम होता है । कार्यकी सत्ता कारण सत्ता के आपेक्ष है, क्योंकि कार्य को कारणसे अलग करना सम्भव नहींहै । इसीलिये कार्यको असत् वा मिथ्या कहते हैं । कार्य की पृथक् स्वाधीन सत्ता नहीं ठहरती, इसीलिये कारणसे भिन्न कार्य को पृथक् करतेही कार्य मिथ्या वा असत् होजाताहै । घट, कुण्डल आदिक सभी कार्य मिथ्याहैं । क्योंकि उत्पत्तिके पूर्व और ध्वंसके पश्चात् इन कार्योंका प्रत्यक्ष दर्शन नहीं होता । कारणही घटादि कार्योंके आकारसे दर्शन देताहै । अतएव जो कारण है वही यथार्थ में सत्य है और जो कार्य है वह वास्तवमें सत्य नहीं है । कारण व्य-

तीत कार्य की निरपेक्ष स्वाधीन सत्ता न होनेसे, कार्य को मिथ्याही कहसकतेहैं। एक ब्रह्मशक्तिही नानाभांतिके विकारों में ओतपोत भरीहुई है। विकारी कार्यमात्र नित्य परिवर्त्तनशील हैं, क्षण २ रूप बदलाकरते हैं किंतु ब्रह्मशक्ति सर्वदा सत्य और नित्य है। अतएव शक्तिमात्रके रूपसे तो कार्यमात्र सत्य है किंतु शक्तिसे पृथक् होकर केवल कार्य दृष्टिमे कार्यमात्रही असत्य वा मिथ्याहै। कारण जिससमय कार्य के आकार में दिखाई देताहै उससमयभी कारणकी सत्ता तिरोहित नहीं होती। वरन कार्यकी सत्ता उसीकारण की सत्तापरही सर्वथा अवलम्बित रहती है। इसभांति सतसे ही पदार्थ की उत्पत्ति होतीहै, यही सिद्धांत सिद्ध होताहै। एक सत् वस्तुही रूपांतरसे दर्शन देती है। एक सद्वस्तु के ही भिन्न २ रूप वा नाम धरकर हम व्यवहार करते हैं, एक वस्तुकोही अन्य वस्तुके रूपसे ग्रहणकरतेहैं, पर वास्तव में अन्य वस्तु नहीं, वही एकही वस्तु सत्य है। इससे यहभी कहाजाता है कि जगत् का कोईभी पदार्थ वस्तुतः असत्य वा मिथ्या नहीं होसकता क्योंकि ब्रह्मशक्तिके सिवा सांसारिक किसी चीजकी स्वतन्त्रसत्ताही नहीं है।

हे श्वेतकेतो! जिस एक अद्वितीय, परमकारण सद्ब्रह्म पदार्थ की यह बात कहीगई है यह सिसृक्षु अर्थात् सृष्टि करनेकी इच्छावाला होकर, एकसे अनेक होनेका सङ्क

ल्प करनेलगा । पूर्व प्रलय में जो सब पदार्थ उसमें सूक्ष्म शक्तिरूपसे विलीन हुयेथे, उनके ज्ञान से उनकी आलोचना का नाम ब्रह्मकी इच्छा, सङ्कल्प वा इच्छाहै । इस सिसृक्षु, अद्वितीय, ज्ञानस्वरूप, ब्रह्मकी कामनासे विश्व प्रादुर्भूत हुआ है । ब्रह्मकी यह जो एकसे अनेक या वहुत बनजानेकी कामना है इस कामनासेही यह विदित होता है कि ब्रह्म चैतन्य पदार्थ है, वही सबका कारण है । अचेतन कोई भी कारण नहीं है । क्योंकि अचेतनपदार्थ कदापि कामना नहीं करसकता समस्त नामरूप जो ब्रह्म में प्रलय-कालमें लीनहुएथे सूक्ष्म बीजाकारसे अवस्थित थे वेही सब उसके ज्ञान में एक कालमें प्रत्यक्ष होतेहैं इस अवस्था में उसे सर्वज्ञ कहतेहैं ज्ञेयवस्तु ज्ञानमें निरन्तर वर्तमान रहतीहै । कामना वासनादि जैसे संसारी जीवोंको वशीभूत करके चलातीहै, वैसेही कामना या वासना ब्रह्मको प्रवर्त्तक नहीं है । कारण कि, ब्रह्म सर्वातीत और स्वाधीन है । ब्रह्मही प्राणियोंके कर्मानुसार उस कामनाको प्रवर्तित करता है । जीवके पक्ष में तो कामना आदि आत्मासे भिन्न हैं, देहे-न्द्रियादिकी क्रियाओं के सापेक्ष हैं । एवं कामनाही जीव प्रवर्तित करतीहै, परब्रह्मकी कामना ऐसी नहींहै एवं ब्रह्म की कामना जीवकी कामनाकी तरह किसीभांति इंद्रियादि-कों के भी आधीन नहीं है । किंतु ब्रह्मद्वारा वही प्रवर्तित

होतीहै। बीजभाव में शक्तिरूपसे समवस्थित, अपनेही आत्मभूत सम्पूर्णनाम और जब रूप अव्यक्तावस्थासे व्यक्तावस्था धारण करते हैं, विकाशित होते हैं। यह नामरूपाभिव्यक्तिही यह बिनाशही तब उसका "वहुभवन" बहुत होताहै। नहीं तो निरवयव एक पदार्थ अनेक कैसे होगा हम तुमको पहिलेही समझाचुके हैं कि विश्व उसी एक सत् बस्तुकी ही रूपान्तरित अवस्थामात्र है।

ब्रह्मके उस सङ्कल्पसे सबसे पहिले आकाशशक्ति उत्पन्न हुई, आकाशसे वायु एवं वायु से तेज शक्तिका प्रकाश हुआ। यह तेज दाहकारी, पाकादि क्रिया सम्पादक प्रकाशक और रक्तवर्ण कहाजाताहै। वह तेजोगत ब्रह्म और भी बहुत होनेकी इच्छा करनेलगा, तब उस तेजसे जल प्रादुर्भूत हुआ। यह जल द्रव्य गुणात्मक, स्निग्ध और शुक्ल वर्णओंकमें प्रसिद्धहै। इस जलके भीतर व्यापक ब्रह्म और भी अधिक होनेको उत्सुक हुआ तो जलसे अन्न वा पृथिवी का जन्म हुआ व्रीह यवादि इसी पृथिवीके अन्तर्गत हैं और यह पृथिवी गुरुत्वधर्म विशिष्ट स्थिर वा कृष्णवर्ण कहीगई है। तेजने बहुत होनेकी इच्छाकी अप (जल) ने बहुत बनने की इच्छाकी, इन सब वाक्यों में तेज जलप्रभृतिकी निजकी कोई इच्छा वा कामनानहीं समझना, कारण कि ये अचेतनहैं। ये सभी ज्ञानमय पदार्थसे प्रगट हुएहैं,

इससे उस ब्रह्मकी इच्छाकाही इनपर आरोप होता है यही समझना चाहिये । "नदी का किनारा गिरना चाहता है" इस स्थलमें जैसे चेतनकी क्रिया अचेतनमें आरोपित होती है, इसीप्रकार ब्रह्मकी इच्छाही अचेतन जलादि में आरोपित जानिये । अचेतनमेंभी चेतनकी क्रिया वा धर्मका आरोप किया जासकता है । किन्तु इस कहनेसे अचेतनही चेतन नहीं होजाता इसके द्वारा यहीबोध होताहै कि जगत्का परम कारण अचेतन नहींहै । इसीप्रणालीसे ब्रह्मचैतन्यके द्वारा सब अचेतन महाभूत प्रादुर्भूत हुए ॥

पशु पक्षी आदि प्राणियोंको उपजानेवाले तीन प्रकारके बीज हैं । अण्डज, जीवज, और उद्भिज । पक्षी सर्पादिक अण्डसे उत्पन्न होते हैं अतएव अण्डसे प्रसून पक्षी सर्पादिकों का अण्डही बीजहै । जीवज बीजका अर्थ, जरायुसे जायमान जैसे मनुष्यादिक । उद्भिज अर्थात् स्थावरसे उत्पन्न अतएव जो भूमिको भेद करके उगते हैं वेही उद्भिजके बीज हैं । माया शक्तिशाली ब्रह्मही इससंसारका मूल कारण होनेसे, उनके ज्ञानमेंही पूर्व सृष्टिवाले तथा मायाके भीतर शक्तिमात्र रूपसे बिलीन रहनेवाले सब पदार्थोंकी स्मृति अपने अपने रूपसे क्रमशः उत्पन्न होतीगई है ॥

सृष्टिमें नाम सृष्टि पदार्थोंके मध्यमें अनुप्रविष्ट ब्रह्म चैतनही "जीव" पदवाच्यहै । तेज, जल और अन्न इन

तीनों भूतोंकी परिणतिके साथ साथ संसर्गवश विशेष विज्ञान लाभ करके जीव प्रादुर्भूत हुआ है । यहाँपर तुम शङ्का करसकते हो कि-"सर्वज्ञचैतन्यमयपरमात्मा" जान बूझकर इस यातनामय अनर्थके आधार शरीरमें प्रविष्ट होकर, अनन्त क्लेशोंको भुगतनेकेलिये क्यों इच्छुक हुआ ?

किन्तु थोड़ासा विचार करनेसे इसका समाधान शीघ्र होजायगा । ब्रह्मने अपने आप, दुःख पानेकी अभिलाषासे किसीके बीचमें प्रवेश नहीं किया है । तब जीव परमात्माका प्रतिबिम्बमात्र है । जलमें जिसभाँति सूर्यका प्रतिबिम्ब पड़ता है, दर्पणमें जैसे पुरुषका प्रतिबिम्ब दृष्ट होता है, इसीभाँति बुद्धि आदिका तथा भूतोंका संसर्ग होनेसेही, ब्रह्मको जीव शब्दसे व्यवहार कियाजाताहै । ब्रह्ममें नित्यमेव जो माया-शक्ति वर्तमान है, उसके साथ सम्बन्ध वशतः बुद्धि आदिके साथभी उसका संसर्ग सिद्ध होताहै । उसीके सम्बन्धवश जीव अपनेको सुखी दुखी प्रभृतिरूपों से विचार करताहै अन्यथा स्वरूपतः जीवात्माको न सुखही है न दुःखही । जैसे कर्दिम पङ्किलजलमें प्रातिबिम्बित होनेपर सूर्यमलिता आदि दोषोंमें युक्त नहीं होता, तथापि सूर्य का प्रतिबिम्ब मलिन दीखपड़ताहै यही दशा बुद्धि आदि के संसर्ग में जीवकी है । अतएव यहभी देखाजाताहै कि यह जगत् और जीवभी सत्य पदार्थ हैं, मिथ्या नहीं क्योंकि

उसी सत्स्वरूप ब्रह्मशक्तिसे सम्भूत हैं । ब्रह्मकाही स्वरूप समझनेपर नाम और रूप आदि सत्य तथा नित्यहैं । परब्रह्मसे पृथक भाव में—भिन्न या स्वतन्त्ररूपसे तो इनका मिथ्यापन सिद्धहीहै । ब्रह्म चैतन्यको छोड़कर इनका स्वतन्त्र वा स्वाधीन अस्तित्व नहीं सिद्ध होता । सुतरां ज्ञात होताहै कि अनभिव्यक्त सब नाम और रूप ब्रह्मकेही आत्मस्वरूपमात्र थे एवं वे ब्रह्ममेंही शक्तिस्वरूपसे विलीनथे । यह शक्ति उसके संकल्प वा इच्छावश "त्रिवृतकृत" होकर स्थूलाकारमें तेज, जल और पृथिवी रूपसे प्रकट हुई । अर्थात् सूक्ष्म अदृश्यशक्तिही ब्रह्म चैतन्यद्वारा त्रिवृतकृत होकर प्रत्यक्ष हुई है ।

परिदृश्यमान 'त्रिवृतकृत' अग्निका जो लोहितवर्ण देखते हो, वह तेज शक्तिकाही रूपहै । फिर उसमें जो शुक्लता देखते हो, वह अपने उपादानभूत जलशक्तिका स्वरूपहै और उसमें कुछ २ जो कृष्णच्छाया देखीजाती है, उसको अपने अन्तर्भूत अन्न (पृथिवीशक्ति) का रूप समझना चाहिये । इन तीन रूपों को छोड़दें तो फिर अग्निका स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं ठहरता इन तीनरूपोंका वास्तविक तत्त्व जान लेनेसे,--अग्नि एक स्वतन्त्र पदार्थ है यह जो ज्ञान होता है, एवं "अग्नि" यह जो एक विशेष नाम है, दोनों उड़जाते हैं । अग्निका यह लोहितादिरूप भूतत्रयके संयोगवशही उत्पन्न हुआ है । मुख्य पक्षमें दृष्टि डालनेपर, भूतत्रयही सत्यपदार्थ हैं,

अग्नि वास्तवमें मिथ्या वस्तु है इसीप्रकार सूर्य, चन्द्रमा, विद्युत्, एवं जल पृथिवी, प्रभृति प्रत्येक पदार्थमेंभी जो थोड़ा बहुत लोहित शुक्ल और कृष्णवर्ण एक साथ देखरहे हो, वह उसके उपादानभूत (अत्रिवृतकृत) भूतत्रयकाही रूप है। उसके निजका कोई स्वतन्त्र रूप नहीं है। रूपकी बात जो कहीगई है तदनुसार प्रत्येक पदार्थमें जो अल्पाधिक परिमाणसे गन्धरस, रूप, स्पर्श और शब्द है, सो भी इसी त्रिवृत्करणका फल है। जब कि समस्त संसारही त्रिवृत्कृत होकर उत्पन्न हुआ है, तो जैसे अग्निकी स्वाधीनसत्ता मिथ्या सिद्धकर दीगई है, वैसेही सम्पूर्ण जगत् मिथ्या है केवल उसके उपादानभूत भूतत्रयकोही सत्य समझो॥

अब प्रश्न होसकता है कि "द्वासुपर्णा सयुजा सखाया॰ इत्यादि श्रुतियां भेद प्रतिपादन कररही हैं फिर उपरोक्त अद्वैत सिद्धांत कैसे माननीय होसकता जिसका संक्षेपसे यह उत्तरहै कि वेदों में द्विधा श्रुतियां हैं जो श्रुतियां भेद प्रतिपादन कररहीहैं वह व्यवहारिकसत्ता का आश्रय लिये हैं और जो अभेद प्रतिपादक श्रुतियां हैं वह पारमार्थिकसत्ता का वर्णन कररहीं हैं व्यवहारिक सत्ता में घट पृथक है पृथ्वी पृथक है परन्तु परमार्थिक सत्तामें भिन्न नहीं जो कुछभी जड़ चैतन्य दृष्टिगोचर होरहा है यह सब ब्राह्मकाहीरूप है आदिमें सब ब्रह्मसे बनाहै और

अन्तमें सब ब्रह्ममें लीन होजावेगा अतएव संसारही ब्रह्म का रूपान्तर है । जब सभी संसार ब्रह्मका रूप है तब ब्रह्मके रूपका निषेध करना चंडूखानेकी गप्प नहीं तो और क्या है । बस यह पुस्तक यहीं समाप्त होतीहै आगामी पुस्तक मूर्त्तिपूजन पर लिखीजावेगी जिसमें प्रबल और अकाट्य प्रमाणों और युक्तियोंद्वारा इसका निर्णय कियाजावेगा ।

समाप्तोयंग्रन्थः

कालूराम शास्त्री
अमरौधा (कानपुर)

ओ३म्
॥ धर्म्म-शिक्षा ॥
प्रथम भाग
ऋग्वेद
यजुर्वेद
वेद सब सत्य विद्याओं की पुस्तक है वेद का पढ़ना
पढ़ाना सुनना सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है
लेखक
श्रीमान् पं० शिव शर्माजी।
प्रकाशक
बाबूरामजी लाल गर्ग।
सामवेद
अथर्ववेद
Cover printed at the King Press, Bareilly—29 889—
मूल्य =)

* ओ३म् *

धर्म-शिक्षा ।

पुत्री व पुत्र पाठशालाओं के निमित्त

कक्षा अ

प्रश्न—"आर्य्यसमाज" किसको कहते हैं ?

उत्तर—जो आर्य्य लोगों का समाज हो, उसको 'आर्य्यसमाज' कहते हैं ।

प्रश्न—'आर्य्य' किसको कहते हैं ?

उत्तर—जो चारों वेद और उनके बताये हुए धर्म को माने ।

प्रश्न—'समाज' किसको कहते हैं ?

उत्तर—किसी काम के करने के लिये इकट्ठे हुए मनुष्यों को 'समाज' कहते हैं ।

प्रश्न—चारों वेदों के कौन कौन से नाम हैं ?

उत्तर—ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद ।

प्रश्न—ये वेद किसके बनाये हुये हैं ?

उत्तर—परम पिता परमात्मा के ।

प्रश्न—ये वेद उसने कब बनाये ?

उत्तर—सृष्टि के आरम्भ में ।

प्रश्न—परम पिता परमात्मा कहाँ रहते हैं ?

उत्तर—सब जगह पर रहते हैं । कोई जगह उनसे खाली नहीं है ।

प्रश्न—परमात्मा का अपना नाम क्या है ?

उत्तर—परमात्मा का अपना नाम 'ओ३म्' है ।

प्रश्न—'ओ३म्' नाम में कितने अक्षर हैं ?

उत्तर—'ओ३म्' नाम में तीन अक्षर हैं । अ, उ, म् ।

प्रश्न-परमात्मा कब से है ?

उत्तर-परमात्मा सदा से है, न कभी पैदा होता है, न कभी मरता है। उत्पत्ति स्थिति उसका काम है।

प्रश्न-क्या परमात्मा मनुष्य बन जाता है ?

उत्तर-कभी नहीं। यदि वह मनुष्य बन जाय तो हम जैसा मरने जीने वाला होजाय।

भाग २

कक्षा ब

प्रश्न-आर्य्यसमाजों को किसने बनाया ?

उत्तर-श्री १०८ स्वामी दयानन्द जी सरस्वती ने।

प्रश्न-आर्य्यसमाजों को स्वामी जी ने क्यों बनाया।

उत्तर-वेदों का प्रचार करने के लिये।

प्रश्न-स्वामी जी कौन थे ?

उत्तर-स्वामी जी ब्राह्मण संन्यासी थे।

प्रश्न-स्वामी जी के गुरु कौन थे ?

उत्तर-स्वामी जी के गुरु श्री स्वामी विरजानन्द जी भी ब्राह्मण दण्डी थे।

प्रश्न-स्वामी जी की जन्मभूमि कौन सी है ?

उत्तर-स्वामी जी की जन्मभूमि "गुजरात काठियावाड़ टंकारा ग्राम में है।

प्रश्न-उनके गुरु स्वामी विरजानन्द जी की जन्मभूमि कौनसी है ?

उत्तर-पंजाब देश में स्वामी विरजानन्द जी उत्पन्न हुए थे।

प्रश्न-स्वामी जी महाराज ने किस स्थान पर विद्या पढ़ी ?

उत्तर-स्वामी विरजानन्द जी मथुरा नगर में रहते थे, वहीं पर स्वामी जी ने उनसे विद्या पढ़ी।

प्रश्न-आर्य्य लोगों का धर्म क्या है।

उत्तर-वेद का पढ़ना पढ़ाना और सुनना सुनाना आर्यों का परम धर्म है।

प्रश्न-वेदों में क्या लिखा है ?

उत्तर-वेदों में मनुष्यों को क्या क्या करना चाहिये, सब कुछ लिखा है।

प्रश्न-मनुष्यों के करने के कौन २ से काम हैं ?

उत्तर-पञ्चयज्ञ से लेकर समाधि तक।

प्रश्न-'पंचयज्ञ, कौन से हैं

उत्तर-ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ, पितृयज्ञ, अतिथियज्ञ और बलिवैश्व (भूतयज्ञ) ये पाँचयज्ञ हैं।

प्रश्न-समाधि कौन लगाते हैं ?

उत्तर-योगी लोग समाधि लगाते हैं।

प्रश्न-समाधि लगाने से क्या होता है ?

उत्तर-समाधि लगाने से परमेश्वर के दर्शन होते हैं।

प्रश्न-परमेश्वर के दर्शन से क्या होता है ?

उत्तर-परमेश्वर के दर्शन से मुक्ति हो जाती है, वह परमानन्द मिलता है जिसे वाणी से नहीं बता सकते।

आर्य्यसमाज के नियम

१-सब सत्य विद्या और जो पदार्थ विद्या से जाने जाते हैं, उन सब का आदि मूल परमेश्वर है। *

२-परमेश्वर सच्चिदानन्दस्वरूप, निराकार, सर्वशक्तिमान न्यायकारी, दयालु अजन्मा, अनन्त, निर्विकार, अनादि, अनुपम, सर्वाधार, सर्वेश्वर, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, अजर, अमर,

* आदिमूल निमित्तकारण को सत्यविद्या वेद को जानिये।

अभय, नित्य, पवित्र और सृष्टिकर्त्ता है। उसी की उपासना करनी योग्य है।

३—वेद सत्यविद्याओं का पुस्तक है, वेद का पढना पढाना और सुनना सुनाना सब आर्य्यों का परम धर्म्म है।

४—सत्य को ग्रहण करने और असत्य को छोड़ने में सर्वदा तैयार रहना चाहिये।

५—सब काम धर्मानुसार अर्थात् सत्य और असत्य का विचार कर करना चाहिये।

६—संसार का उपकार करना इस समाज का मुख्य उद्देश्य है। अर्थात् शारीरिक आत्मिक और सामाजिक उन्नति करना।

७—सबसे प्रीतिपूर्वक धर्मानुसार यथायोग्य वर्तना चाहिये

८—अविद्या का नाश और विद्या की वृद्धि करनी चाहिये

९—प्रत्येक को अपनी ही उन्नति में सन्तुष्ट नहीं रहना चाहिये किंतु सबकी उन्नति में अपनी उन्नति समझनी चाहिये।

१०—सब मनुष्यों को सामाजिक, सर्वहितकारी नियम पालने में परतन्त्र रहना चाहिये और प्रत्येक हितकारी नियम में सब स्वतन्त्र रहें।

भाग २

कक्षा पहिली

प्रश्न-ब्रह्मयज्ञ किसको कहते हैं?

उत्तर-वेदपाठ जप और सन्ध्या करने को ब्रह्मयज्ञ कहते हैं।

प्रश्न-देवयज्ञ किसको कहते हैं?

उत्तर-अग्निहोत्र से लेकर अश्वमेध यज्ञ पर्य्यन्त को देवयज्ञ कहते हैं।

प्रश्न–पितृयज्ञ किसे कहते हैं ?

उत्तर–जीवित माता, पिता, दादा, दादी, नाना, नानी, गुरु, आचार्य और अन्य बड़े बूढ़ों की सेवा करने को पितृयज्ञ कहते हैं ।

प्रश्न–अतिथि किसको कहते हैं ?

उत्तर–जिसके आने की कोई तिथि निश्चित न हो ऐसा विद्वान् ब्राह्मण संन्यासी अपने स्थान पर आजावे तो उसकी सेवा को अतिथि यज्ञ कहते हैं ।

प्रश्न–भूतयज्ञ किसको कहते हैं ?

उत्तर–गृहस्थी में रहकर जो हिंसा होती है उसको दूर करने के लिये जो अग्नि में भोजन के ग्रास डाले जाते हैं अथवा कुत्तों कौओं कृमि-भंगी आदि को खिलाया जाता है उस को बलिवैश्यदेव कहते हैं ।

प्रश्न–इन यज्ञों के करने से क्या लाभ है ?

उत्तर–पंचयज्ञ करने से मनुष्य मुक्ति पाने के योग्य होजाता है

प्रश्न–मुक्ति व मोक्ष किसको कहते हैं ?

उत्तर–दुःखों से छूटने को मुक्ति व मोक्ष कहते हैं ।

प्रश्न–ईश्वर निराकार है या साकार ?

उत्तर–ईश्वर निराकार है ।

प्रश्न–निराकार किसको कहते हैं ?

उत्तर–जिसका कोई आकार न हो और सावयव न हो ।

प्रश्न–साकार किसको कहते हैं ?

उत्तर–एक से अधिक भागों के मिलने को आकार कहते हैं ,

प्रश्न–ईश्वर को साकार मानें तो क्या हानि है ?

उत्तर—साकार पदार्थ नष्ट होने वाला होता है, इसलिये ईश्वर भी नाशवान् हो जावेगा, साकार पदार्थ एकदेशीय

(सावयव) होता है, ईश्वर सर्वव्यापक है, केवल है।

प्रश्न–देवता किसको कहते हैं ?

उत्तर–जो दूसरों को अच्छे गुण दें, वे देवता कहाते हैं।

प्रश्न–वे देवता जड़ हैं वा चेतन ?

उत्तर–अग्नि, वायु, जल, पृथ्वी, आकाश, सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, ८ वसु, ११ रुद्र, १२ आदित्य, विद्युत १ यज्ञ यह ३३ देवता जड़ हैं, और विद्वान् मनुष्य चेतन देवता हैं।

प्रश्न–श्राद्ध किसको कहते हैं ?

उत्तर–श्रद्धापूर्वक जीवित माता पितादि को भोजन कराने आदि को श्राद्ध कहते हैं।

प्रश्न–तर्पण किसे कहते हैं ?

उत्तर–जल और दूध भोजन वस्त्र आदि से तृप्त करने को तर्पण कहते हैं।

यह प्रार्थना मंत्र कण्ठ करें

ओ३म् विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव यद्भद्रन्तन्न आसुव ॥ १ ॥

ओ३म् हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्। सदाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ २ ॥

ओ३म् य आत्मदा बलदा यस्य विश्व उपासते प्रशिषं यस्य देवाः यस्यच्छायाऽमृतं यस्य मृत्युः कस्मै देवाय हविषा विधेम् ॥ ३ ॥

ओ३म् यः प्राणतो निमिषतो महित्वैक इन्द्राजा जगतो

॥२॥ यजु: अ० ३३ मं० ३१ ॥ चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः आप्राद्यावा पृथिवी अन्तरिक्षꣳ सूर्य्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च स्वाहा ॥ ३ ॥ य० अ० ७ मं० ४२ ॥ तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत् । पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतꣳ शृणुयामशरदः शतं प्रब्रवाम शरदः शतमदीनाः स्याम शरदः शतं भूयश्च शरदः शतात् ॥४॥ य० अ० ३६ मं० २४ । ओ३म् भूर्भुवः स्वः । तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गोदेवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात् । य० अ० ३६ मन्त्र ३३ ॥ ओं नमः शम्भवाय च मयोभवाय च नमः शङ्कराय च मयस्कराय च नमः शिवाय च शिवतराय च ॥ य० अ० १६ मन्त्र ४१ ॥

भाग ५

कक्षा २ के लिये

प्रश्न—स्वतःप्रमाण पुस्तक कौनसी हैं ?

उत्तर—केवल चारों वेद संहितामात्र

प्रश्न—स्वतःप्रमाण किसको कहते हैं ?

उत्त०—जिसकी सिद्धि के लिये किसी अन्य प्रमाण की आवश्यकता न हो उसको स्वतःप्रमाण कहते हैं।

प्र०—स्वतःप्रमाण का कोई उदाहरण दो ?

उ०—जैसे सूर्य्य को देखने के लिये किसी अन्य सूर्य की आवश्यकता नहीं वैसे ही वेदों की सिद्धि के लिये किसी अन्य ग्रन्थ की आवश्यकता नहीं है।

प्रश्न–चारों वेदों को प्रकाशित हुए कितना समय व्यतीत हुआ
उत्तर–एक अरब, सत्तानवे करोड़, उन्तीस लाख, उञ्चास हजार
उन्तीस साल तदनुसार सन् १६२६ ई० ।
प्रश्न–इसमें क्या प्रमाण है कि वेदों को प्रकाशित हुए दो अरब
साल के लगभग होगए ?
उत्तर–सृष्टि की उत्पत्ति हुए दो अरब के लगभग हुए तभी से
परमात्मा ने अपना ज्ञान वेद भगवान् दिया ।
प्रश्न–क्या वेदों में किसी प्रकार की न्यूनाधिकता अबतक हुई है ।
उत्तर–वेदों में घटी बढी कोई नही कर सकता जैसे सूर्य्य को जो
परमात्मा का बयान है, उसे कोई घटा बढी नहीं कर
सकता ।
प्रश्न–ऋग्वेदादि चारों वेदों में कितने मन्त्र हैं ?
उत्तर–ऋग्वेद है ५०८ मन्त्र ।
यजुर्वेद में १६७१ मन्त्र ।
अथर्ववेद में ५०८७ मन्त्र ।
सामवेद में १६४०२ मन्त्र ।
कुल १६३०४ मन्त्र ।
प्रश्न–ऋग्वेदादि के मण्डल अध्यायादि कितने २ हैं ?
उत्तर–ऋग्वेदादि में ८ अष्टक १० मण्डल १०२८ सूक्त २०२४
वर्ग हैं ।
यजुर्वेद में चालीस अध्याय हैं ।
सामवेद में पूर्वार्ध और उत्तरार्ध के दो अंग ८७ साम
२६ अध्याय हैं ।
अथर्ववेद में २० काण्ड ३४ प्रपाठक १११ अनुवाक ७३१
वर्गहैं ।

प्रश्न-इन मण्डल अध्यायादि का विभाग किसने किया ?

उत्तर-वेद के मण्डलादि का विभाग ऋषि मुनियों ने किया।

प्रश्न- मण्डलादि का विभाग क्यों किया ?

उत्तर-प्रकरण बतलाने और पठन पाठन की सुगमता के लिये वेदों के मण्डल और अध्याय नियत किये।

प्रश्न-वेदमन्त्रों के ऋषि कौन थे ?

उत्तर-जिस २ मन्त्र के गूढ़ अर्थों को जिस २ ऋषि ने प्रकाशित करके प्रचार किया उस २ ऋषि का नाम आदर के लिये उस मन्त्र के साथ लगा दिया गया है।

प्रश्न- मन्त्रों के देवता कौन हैं ?

उत्तर-जिस मन्त्र में जिस वस्तु का वर्णन है वह वस्तु उस मन्त्र का देवता है।

प्रश्न-ऋषि और देवता का उदाहरण देकर बतलाओ ?

उत्तर-जैसे अग्निमिले पुरोहितम् का मधुच्छन्द, ऋषि और देवता अग्नि है। क्योंकि इस मन्त्र में अग्नि का वर्णन है। यजुर्वेद के प्रथम मन्त्र इषेत्वोर्जे का सविता देवता और प्रजापति ऋषि। सामवेद के प्रथम मन्त्र अग्नि आयाहि-वीतये का अग्नि देवता भरद्वाज। अथर्ववेद के प्रथम मन्त्र येत्रिषप्ता: का वाचस्पत्यम् देवता और अथर्वा ऋषि है।

प्रश्न-वेद मन्त्रों पर खड़ी और पड़ी छोटी २ रेखायें किस लिये हैं?

उत्तर-वेद मन्त्रों पर छोटी २ रेखा स्वर कहाते हैं।

प्रश्न-स्वर कितने प्रकार के होते हैं ?

उत्तर-स्वर तीन प्रकारके होते हैं-उदात्त, अनुदात्त और स्वरित।

प्रश्न-ये तीनों स्वर कैसे २ बोले जाते हैं ?

उत्तर-ऊंचे स्वर से उदात्त, नीचे से अनुदात्त और मध्यम स्वर

से स्वरित बोले जाते हैं।

प्रश्न–क्या यह चारों जिल्दें इस प्रकार की परमात्मा ने हमको दी हैं?

उत्तर–परमात्माने इन चारों संहिताओं का ज्ञान सृष्टि के आदि में चार ऋषियों को दिया। शब्दार्थ सम्बन्ध सहित।

प्रश्न–क्या परमात्मा ने ऋषियों को ज्ञान इसी प्रकार दिया जैसे गुरु जी अपने शिष्य को पढाते हैं?

उत्तर–ज्ञान देने में और पढाने अन्तर है। पढाया जाता है शब्द द्वारा और ज्ञान डाला जाता है आत्मा में।

प्रश्न–तब परमात्मा ने किस प्रकार ऋषियों को ज्ञान दिया?

उत्तर–परमात्मा सर्व व्यापक होने से ऋषियों की आत्मा में भी व्यापक है, इसलिये आत्मा में ज्ञान का प्रकाश किया।

प्रश्न–फिर अक्षर आदि किसने बनाये?

उत्तर–अक्षरों के सङ्केत ऋषि मुनियों ने बनाये।

प्रश्न–यह सङ्केत क्यों और कब बनाये?

उत्तर–बहुत काल तक वेदों के पठन पाठन का क्रम सुन सुनाकर रहा जब मनुष्य गणना बढी और विस्मृति होने लगी तब सृष्टि उत्पत्ति के लक्षों वर्ष बाद यह अक्षरों के सङ्केत नियत हुए।

इसलिये वेदों को श्रुति भी कहते हैं?

प्रश्न–क्या ईश्वरीय ज्ञान बदलता नहीं?

उत्तर–जब आँख के ज्ञान का प्रकाश सूर्य्य अनादिकाल से नहीं बदलता तो आत्मा के ज्ञान का प्रकाश वेद कैसे बदल सकता है। आंख बनने से पहिले सूर्य और मन बनने से पहिले वेद बना है न किसी मनुष्य ने सूर्य्य को बनते देखा है न वेद को।

प्रश्न–श्रुति के क्या अर्थ हैं ?

उत्तर–जो सुना जाता है उसको श्रुति कहते हैं। वेदों का ज्ञान उन चार ऋषियों के अतिरिक्त सुना ही गया था इस लिये वेद श्रुति कहाते हैं।

प्रश्न–कौन २ सा वेद किस ऋषि पर प्रगट हुआ ?

उत्तर–अग्नि ऋषि पर ऋग्वेद, वायु ऋषि पर यजुर्वेद, आदित्य ऋषि पर सामवेद, अंगिरा ऋषि पर अथर्ववेद।

प्रश्न–इन चारों वेदों में कौन से विषय हैं ?

उत्तर–ऋग्वेद में पदार्थों का वर्णन है। यजुर्वेद में कर्मकाण्ड, सामवेद में उपासना कांड और अथर्ववेद में विज्ञानकांड वर्णन किये गये हैं। अग्निविद्या, वायुविद्या, सौर्यविद्या, अंगरसविद्या के इजहार और प्रचार के लिये।

भाग ६

कक्षा ४ के लिये

प्रश्न–संध्या शब्द के क्या अर्थ हैं ?

उत्तर–जिस रीति से परमात्मा का चिन्तन किया जाता है उस रीति को संध्या कहते हैं। जिस समय दिन रात्रि मिलें उस समय को भी सन्ध्या कहते हैं।

प्रश्न–सन्ध्या दिन रात्रि में कितनी बार करनी चाहिये ?

उत्तर–संध्या दिन रात्रि में दो बार करनी चाहिये।

प्रश्न–सन्ध्या करने के समय कौन २ से हैं ?

उत्तर–प्रातःकाल सूर्य उदय होने से पूर्व और सायंकाल का सूर्य अस्त होने के पश्चात् अर्थात् दोनों समय में दिन रात्रि के संयोग में सन्ध्योपासना करनी चाहिये।

प्रश्न-सन्ध्या में कितने प्रकार के मन्त्र हैं

उत्तर-सन्ध्या में नौ प्रकार के मन्त्र हैं।

प्रश्न-किस २ मन्त्र का क्या २ नाम है।

उत्तर-१ ओं शन्नोदेवी, इसका नाम है 'आचमन मन्त्र,

२ ओं वाक् वाक्, ओं प्राणः प्राणः आदि का नाम है 'इन्द्रिय स्पर्श',

३ ओं भूः पुनातु शिरसि आदि का मार्जन मन्त्र।

४ ओं भूः ओं भुवः आदि हैं-प्राणायाम मन्त्र।

५ ओं ऋतञ्च सत्यञ्चाभिद्धात्-अघमर्षण मन्त्र।

६ ओं प्राचीदिगग्निरधिपति-यह हैं मनसा परिक्रमा मन्त्र।

७ ओं उद्वयं तमसस्परिस्वः आदि हैं-उपस्थान मन्त्र।

८ ओं भूर्भुवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यं है-गायत्री मन्त्र।

९ ओं नमः शम्भवाय च - सम्पूर्णमन्त्र।

प्रश्न-आचमन कितने और कैसे करें।

उत्तर-आचमन तीन करे। दक्षिण हथेली पर शुद्ध पात्र से थोड़ा सा जल पीवे। सब से प्रथम फिर अघमर्षण फिर उपस्थान के पश्चात।

प्रश्न-प्राणायाम करने की विधि क्या है।

उत्तर-पहिले चौरस स्थान में बैठे। पुनः: भीतर की वायु को वमन की समान बाहर निकाल कर कुछ काल बाहर रोके रहे, फिर वायु को धीरे २ भीतर खींचे। जब पूर्ण वायु भीतर भर जावे तो कुछ काल उसको भीतर रोके रहे इस को एक प्राणायाम जाना। इसी प्रकार किया करें।

प्रश्न-इन तीन प्रकार की क्रियाओं को क्या कहते हैं।

उत्तर-बाहर निकालने वाली को रेचक, भीतर भरने की

क्रिया को पूरक रोके रहने वाली क्रिया को स्तम्भ वृत्ति या कुम्भक कहते हैं ?

प्र० प्राणायाम शब्द के क्या अर्थ हैं ?

उ० "प्राणायाम" शब्द के अर्थ है प्राणों का "अयान" कसरत जिस प्रकार शरीर की कसरत को व्यायाम कहते हैं उसी प्रकार प्राणों की कसरत को प्राणायाम कहते हैं।

प्र० इन्द्रिय स्पर्श किसको कहते हैं ?

उ० वाम हथेली पर ठण्डा पानी ताज़ा जल रख कर मध्यमा और अनामिका अंगुलियों से ओष्ठ आदि को जल लगाना वह इन्द्रिय स्पर्श कहाता है।

प्र० मार्जन किसको कहते हैं ?

उ० ऊपर की विधि से अङ्गों पर जल छिड़कने को "मार्जन" कहते हैं

दूसरा पाठ

प्र०–अघमर्षण के क्या अर्थ हैं ?

उ०–पापों से दूर रहने को अघमर्षण कहते हैं।

प्र०–मनसा परिक्रमा के क्या अर्थ हैं ?

उ० छः दिशाओं में मन द्वारा परमात्मा की रचना को देखना मन की परिक्रमा कहाती है।

प्र० उपस्थान शब्द के क्या अर्थ हैं ?

उ मेरे निकट परमात्मा और मैं परमात्मा के निकट हूं ऐसा जानना उपस्थान कहाता है।

प्र०–गायत्री मन्त्र किसको कहते हैं ? इसमें सबसे अधिक बड़प्पन क्या है ?

उ०–जिससे जपने वाले की रक्षा हो उसको गायत्री कहते हैं इसमें प्रार्थना है कि सबकी बुद्धियाँ शुद्ध हों जिससे वे धर्मात्मा बन सकें।

प्र० – समर्पण के क्या अर्थ हैं ?

उ०—नमस्कार करना "समर्पण" कहाता है।

प्र०—आदि सृष्टि किस प्रकार उत्पन्न हुई ?

उ०—सबसे पूर्व परमात्मा ने आकाश को प्रकट किया, आकाश के बाद वायु, वायु के बाद अग्नि, अग्नि के बाद जल, जल के बाद पृथ्वी, पृथ्वी से अन्न, अन्न से वीर्य, रज वीर्य के संयोग से देहधारी जीव उत्पन्न किये।

प्र०—रजवीर्य का संयोग कहां पर हुआ ?

उ०—पृथ्वी में ही रज वीर्य का संयोग आदि सृष्टि में होता है।

प्र०—रज वीर्य के संयोग का नियम तो सभी पुरुषों में ही है।

उ०—यह नियम सृष्टि के उत्पन्न होजाने के आदि का है। क्योंकि संसार में बहुत सी वस्तुएं साँचे में ढाली जाती हैं परन्तु सांचे हाथ से बनाये जाते हैं। इस ही प्रकार सृष्टि के आदि के सांचे रूप मनुष्य परमात्मा ने अपने सांचे शक्तिमत्ता के बनाये।

प्र०—सृष्टि की आदि में मनुष्यादि कितने बड़े उत्पन्न हुए ?

उ०—सृष्टि की आदि में मनुष्यादि युवा उत्पन्न हुए। क्योंकि यदि बच्चे होते तो पालता कौन ? यदि बूढ़े होते तो आगे सन्तान कैसे उत्पन्न करते।

प्र०—बिना माता पिता के बहुत से मनुष्य उत्पन्न हो जावें यह बात सृष्टि क्रम में विरुद्ध प्रतीत होती है।

उ०—जिस बात के उदाहरण पाये जाते हों वह सृष्टि नियम के विरुद्ध नहीं होती। देखो ! जब वर्षा होती है तब असंख्य गिज़ाई आदि पृथ्वी में स्वयं हो बिना माता पिता के उत्पन्न हो जाती हैं। शीत काल के आते ही

मनुष्य के शरीर के संयोग से वस्त्रों में जुएँ पड़नी आरम्भ हो जाती हैं सबसे पूर्व ये गरमी सरदी के संयोग से उत्पन्न होता है पुनः मैथुनी सृष्टि आरम्भ हो जाती है पूर्व सृष्टि को अमैथुनी सृष्टि कहते हैं।

प्र०—इस समय बिना माता पिता के मनुष्य उत्पन्न क्यों नहीं होते ?

उ०—इस समय बिना माता पिता के मनुष्य उत्पन्न होने की आवश्यकता नहीं है। कारण कि सृष्टि चल रही है यह नियम आदि सृष्टि का है।

प्र०—फिर गिजाई आदि अब क्यों उत्पन्न होते हैं ?

उ०—गिजाई और जूं इत्यादि इस समय इसलिये उत्पन्न होते हैं कि उनकी प्रलय हो जाती है जब मनुष्यों की प्रलय हो जाती है तो वे भी बिना माता पिता के उत्पन्न होते है।

प्र०—बड़े २ किस प्रकार उत्पन्न हुए यह बात समझ में नहीं आती ?

उ०—सृष्टि के आरम्भ में पृथ्वी में उत्पन्न करने की शक्ति अत्यधिक रहती है इसलिये वह बहुत ही शीघ्र प्रत्येक पदार्थ को बड़ा कर देती है।

प्र०—आकाश को परमात्मा ने किस पदार्थ से बनाया ?

उ०—आकाश को किससे नहीं बनाया वह नित्य है।

प्र०—फिर उसकी उत्पत्ति क्यों लिखी है ?

उ०—प्रलयावस्था में सारे आकाश अवकाश को प्रकृति के परमाणु घेरे रहते हैं जब रचना आरम्भ होती है तो परमाणुओं के मिलने से आकाश खाली हो जाता है। इसही को उत्पन्न होना कहते हैं।

प्र०—परमाणु किसको कहते हैं ?

उ०—सबसे छोटे टुकड़े को जो फिर टूट न सके उसे परमाणु कहते हैं।

प्र०—क्या उसको परमात्मा ने उत्पन्न किया ?

उ०—परमाणुओं को परमात्मा ने उत्पन्न नहीं किया वे अनादि हैं।

प्र०—कितनी वस्तु अनादि हैं ?

उ०— तीन वस्तु अनादि हैं ईश्वर, जीव, और प्रकृति।

प्रातःकाल उठते ही परमात्मा से प्रार्थना के मंत्र तीसरा पाठ

ओ३म्— प्रातरग्निं प्रातरिन्द्रं हवामहे प्रातर्मित्रा वरुण प्रात-
रश्विना प्रातर्भगं पूषणं ब्रह्मणस्पतिं प्रातस्सोममुत रुद्रं हुवेम ॥१॥
प्रातर्जितं भगमुग्रं हुवेम वयं पुत्रमदितेर्यो विधर्ता।
आध्रश्चिद्यं मन्यमानस्तुरश्चिद्राजा चिद्यं भगं भक्षीत्याह ॥२॥
भगप्रणेतर्भग सत्यराधो भगेमां धियमुदवा ददन्नः।
भगप्रणो जनय गोभिरश्वैर्भग प्रनृभिर्नृवन्तःस्याम ॥३॥
उतेदानीं भगवन्तः स्यामोत प्रपित्व उत मध्ये अह्नाम्।
उतोदिता मघवन्त्सूर्यस्य वयं देवानां सुमतौ स्याम ॥ ॥
भग एव भगवाँ अस्तु देवास्तेन वयं भगवन्तः स्याम।
तं त्वा भग सर्व इज्जोहवीति स नो भग पुरएता भवेह।

अग्निहोत्रविधिः

नीचे लिखे तीन मन्त्रों से तीन आचमन करे।

ओं अमृतोपस्तरणमसि स्वाहा १ इससे पहला ॥

ओं अमृतापिधानमसि स्वाहा २ इससे दूसरा ॥

ॐ सत्यं यशः श्रीर्मयि श्रीः श्रयतां स्वाहा ॥ ३ ॥ इससे तीसरा इसके पश्चात् नीचे लिखे मन्त्रों से जल लेकर अंगों का स्पर्श करे।

ओं वाङमऽआस्येऽस्तु ॥ इस मन्त्र से मुख
ओं नसोमे प्राणोऽस्तु ॥ इस मन्त्र से नासिका के दोनों छिद्र
ओं अक्ष्णोर्मे चक्षुपस्तु ॥ इस मन्त्र से दोनों आंखें,
ओं कर्णयोर्मे श्रोत्रमस्तु ॥ इस मन्त्र से दोनों कान,
ओं वाह्वोर्मे बलमस्तु ॥ इस मन्त्र से दोनों बाहु,
ओं ऊर्वोर्मेऽओजोऽस्तु ॥ इस मन्त्र से दोनों जंघा,
श्री अरिष्टानो मेंऽगांनि तनुस्तन्वा मे सहसन्तु,

इस मन्त्र से दाहिने हाथ जल स्पर्श करके मार्जन करे फिर ओं भूर्भुवः स्वः ॥ इस मन्त्र का उच्चारण करके द्विज के घर से अग्नि ला अथवा घृत का दीप जला उससे कापूर में लगा किसी पात्र में धर उसमें छोटी २ लकड़ी लगा नीचे लिखे मन्त्र को पढ़कर अग्न्या धान करे वह मन्त्र यह है

अग्नि प्रज्वलित करने का मन्त्र

ओं भूर्भुवः स्वद्यौरिव भूम्ना पृथिवित्वरिम्णा तस्यास्ते पृथिवी देवयजनी पृष्टेऽग्निमन्नादमन्नाद्यायादधे ॥

यजु० अ० ३। मं ५ इस मन्त्र से वेदी के बीच में अग्नि को धर उस पर छोटे २ काष्ठ के टुकड़े धर कर आगे लिखा मन्त्र पढ़ पंखे से अग्नि को प्रदीप्त करे।

ओं उद्वुध्यस्वाग्ने प्रतिजगृहित्वामिष्टा पूर्त्तसँ सजेथा मयं च। अस्मिन्सधस्थे अध्युत्तरस्मिन् विश्वेदेवा यजमानश्च सीदत ॥ यजु० अ० १५ मं० ५४ ॥

जब अग्नि समिधाओं में प्रविष्ट होने लगे तब तीन लकड़ी

आठ २ अंगुल की घृतमें डुबा उनमें से एक इस अगले मन्त्र से अग्नि में चढ़ावे ।

अथ समिधाधान मन्त्रः

ओं अयन्त इध्म आत्मा जातवेदस्ते नेध्यस्व वर्द्धस्वश्चेद्ध वर्धं चास्मान् प्रजयापशुभिर्ब्रह्मवर्चसेनान्नाद्ये न समेधय स्वाहा इदमग्नयेजातवेदसे—इदन्नमम ॥ १ ॥

दूसरी समिधा निम्न दो मन्त्रों से देवे ।

ॐ समिधाग्नि दुवस्यत घृतैर्बोधयतातिथिम् । अस्मिन् हव्या जुहोतनस्वाहा ॥ इदमग्नये इदन्नमम ॥ २ ॥

सुसमिद्धाय शोचिषे घृतं तीव्रं जुहोतन । अग्नये/जातवेद-से स्वाहा ॥ इदमग्नये जातवेदसे इदन्न मम ॥ ३ ॥

तीसरा समिधा ।

तन्त्वा समिद्भिरंगिरो घृतेन वर्द्धयामसि बृहच्छोचाय विषुय स्वाहा ॥ इदमग्नयेऽगिरसे—इदन्नमम ॥ ४ ॥ यजु० अ० ६ । मं० १ । ६ । ३ ॥ ४ ॥

अगले मन्त्र को पांच बार पढ़कर घृत की पांच आहुति देवे

ॐ अयंत इध्म आत्मा जातवेदस्ते नेध्यस्व वर्द्धस्वचेद्ध वर्द्धय चास्मान् प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्च सेनान्नाद्येन समेधय स्वाहा । इदमग्नये जातवेदसे—इदन्नमम ॥ १ ॥

पात्र से जल लेकर अगले मन्त्र से यथा क्रम कुंड के चारों ओर जल छिड़के ।

ओं अदितेऽनुमन्यस्व ॥ इस मन्त्र से पूर्व में,
ओं अनुमतेऽनुमन्यस्व ॥ इस मन्त्र से पश्चिम में,
ओं सरस्वत्यनुमन्यस्व ॥ इस से मन्त्र से उत्तर में और
ओं देव सवितः प्रसुव यज्ञं प्रसुव यज्ञपति भगाय ।

दिव्यो गन्धर्वः केतपूः केतन्नः पुनातु वाचस्पतिर्वाचंनः स्वदतु यजु० अ० ३० मंत्र १ ॥

इस मंत्रसे कुंडके चारों ओर जल छिड़कावे

अगले चार मंत्रों से घृत की चार आहुति देवे।

अथ आधारावाज्याहुति वा आज्याभागाहुति।

चौथा पाठ

ओं अग्नये स्वाहा। इदमग्नये- इदन्नमम। इससे कुन्ड के उत्तर भाग अग्नि में।

ओं सोमाय स्वाहा। इदं सोमाय इदन्नमम॥ इससे कुंड के दक्षिण भाग अग्नि में।

ओं प्रजापतये स्वाहा इदं प्रजापतये—इदन्नमम॥

ओं इन्द्राय स्वाहा इदमिंद्राय— इदन्नमम॥

इन दोनों मंत्रों से कुंड के मध्य में दो आहुति देवे- इतनी क्रिया के पश्चात् निम्न लिखित मंत्रों से सामग्री अथवा घृत दोनों की आहुति देवें।

प्रातः काल के हवन मन्त्र

ओं सूर्यो ज्योतिर्ज्योतिः सूर्यः स्वाहा ॥१॥

सूर्यो वर्चो ज्योतिर्वर्चः स्वाहा ॥ २॥

ओं ज्योतिः सूर्यः सूर्योः स्वाहा ॥ ३ ॥

ओं सजूर्देवेन सवित्रा सजूरुष सेन्द्रवत्या जुषाणः सूर्यो वेतु स्वाहा ॥४॥

सायंकाल के हवन मन्त्र

ओं अग्नि ज्योतिर्ज्योतिरग्नि स्वाहा ॥ १ ॥

ओं अग्निर्वर्चो ज्योतिर्वर्चः स्वाहा ॥ २ ॥

ओं अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहा ॥ ३ ॥ इस मंत्र को मन से उच्चारण करके तीसरी आहुति देवे ।

ओं सजूर्देवेन सवित्रा सजूरात्र्येन्द्रवत्या जुषाणो अग्निर्वेतु स्वाहा ॥ ४ ॥

अथ निम्न लिखित मंत्रों से प्रातः सायं दोनों समय आहुति देवे ।

ओं भूरग्नये प्राणाय स्वाहा । इदमग्नये प्राणाय इदन्न मम ॥ १ ॥ ओं भुवर्वायवे ऽपानाय स्वाहा इदंवायवे ऽपानाय, इदन्न मम ॥ २ ॥ ओं स्वरादित्याय व्यानाय स्वाहा । इदमादित्याय, व्यानाय, इदन्नमम ॥ ३ ॥ ओं भूर्भुवःस्वरग्निवाय्वादित्येभ्यः प्राणापानव्यानेभ्यः स्वाहा इदमग्निवाय्वादित्येभ्यः प्राणापव्यानेभ्य इदन्न मम ॥ ४ ॥ ओं आपो ज्योतिरसोऽमृत ब्रह्म भूर्भुवः स्वरो स्वाहा ॥ ५ ॥ ओं यां मेधां देवगणाः पितरश्चोपासते । तया मामद्य मेधयाऽग्ने मेधाविनं कुरु स्वाहा ॥ ६ ॥ ओं विश्वानि देवसवितर्दुरितानि परासुव यद्भद्रं त न आ सुव स्वाहा ॥ ७ ॥ ओं अग्नेनय सुपथा राये अस्मान्विश्वानि देव वयुतानानि विद्वान् युयोध्यस्मज्जु हुराणमेनो भूयिष्ठांते नम उक्ति विधेम स्वाहा ॥ ८ ॥ ओं भूर्भुवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहिधियो यो नः प्रचो दयात् ॥ ६ ॥ ओं सर्वं वै पूर्णँ स्वाहा । इस मन्त्र को तीन बार पढ़ कर तीन पूर्णाहुति देवे ।

इस मन्त्र को पढ़कर घृतकी धार बांध कर पूर्णाहुति देवे

ओ३म् वसोः पवित्रमसि शतधारं वसोः पवित्रमसि सहस्रधारं देवस्त्वा सविता पुनातु वसोः पवित्रेण शतधारेण सुप्वा काम धुक्षयाः ।

रात्रि को सोते समय परमात्मा से प्रार्थना के मंत्र

रात्रि का सोते समय परमात्मा से प्रार्थना के मंत्र।

अग्नेत्व ँ सुजागृह वयं ँ सुमदिषीमहि। रक्षोणा अप्रयुच्छन् प्रवुधेनः पुनस्कृधिः। ओ३म् शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॐ द्यौःशान्तिरन्तरिक्ष ँ शान्ति। पृथिवी शान्ति रापःशान्ति रोषधयः शान्तिः, बनस्पतयः शान्तिर्विश्वेदेबाः शान्तिब्रह्म शान्तिःसर्वँ शान्तिः शान्तिरेव शान्तिः सामाः शान्तिरेधि

भाग ७

कक्षा ५ के लिये।

प्र०—संस्कार गिनती में कितने हैं ?

उ०—संस्कार गिनती में १६ हैं। जो संस्कार विधि में स्वामी जी महाराज ने लिखे हैं।

प्र०—उनके क्या २ नाम हैं ?

उ०—१ गर्भाधान, २ पुंसवन, ३ सीमन्तोनयन, ४ जातकर्म, ५ नाम करण, ६ निष्क्रमण, ७ अन्न प्राशन, ८ चूड़ा कर्म, ९ कर्णवेद, १० उपनयन, ११ वेदारम्भ, १२ समावर्त्तन, १३ बिवाह, १४ वानप्रस्थ, १५ संन्यास, १६ अन्त्येष्टि।

प्र०—यह संस्कार किस समय करें ?

उ०—बिवाहोपरान्त गर्भाधान करे। गर्भाधान के २ व ३ मास उपरान्त पुंसबन करे। छटे व आठवें मास में सीमन्तो-

नयन संस्कार करे। जब सन्तान उत्पन्न हो तब जात कर्म संस्कार करे। नाम करण संस्कार ११ वें दिन व १०१ वें दिन अथवा दूसरे वर्ष के आरम्भ में जिस दिन बालक का जन्म हुआ हो करे। निष्क्रमण संस्कार बालक के जन्म के पश्चात् तीसरे शुक्ल पक्ष की तृतीया को व चौथे महीने में जिस तिथि में बालक का जन्म हुआ हो करे। छठे मास में अन्नप्राशन संस्कार करे चूडाकर्म मुण्डन संस्कार) बालक के जन्म से एक वर्ष वा तीसरे वर्ष में उत्तरायण काल और शुक्ल पक्ष में करे। कर्णवेध संस्कार जन्म से तीसरे व पांचवें वर्ष करे जन्म से वा गर्भस्थिति से आठवें वर्ष ब्राह्मण का, ग्यारहवें वर्ष क्षत्रीय का बारहवें वर्ष वैश्य का यज्ञोपवीत करे * वेदारम्भ संस्कार उपनयन संस्कार के दिन करे वा दूसरे दिन करे। अथवा एक वर्ष के भीतर किसी दिन करे विवाह संस्कार विद्या के पढ़ने उपरान्त २५ वें २६ वें ४८ वें वर्ष करे। वान-प्रस्थी जब बने जिस समय पुत्र के पुत्र (पोता हो जावे वान प्रस्थाश्रम के उपरान्त पूर्ण वैराग्य होने पर, जिस दिन पूर्ण वैराग्य हो जाये सन्यास ग्रहण करे। अन्त्येष्टि संस्कार का कोई समय नहीं है जब शरीरांत हो तभी यह संस्कार मृतक शरीर का करदे।

दूसरा पाठ

प्र०—वर्ण कितने हैं ?

उ०—वर्ण चार हैं ब्राह्मण, क्षत्रीय वैश्य और शूद्र।

प्र०—इनके क्या २ कर्म हैं।

*यदि बालक को तेजस्वी बनाना हो तो पांचवें छठे ८ वें वर्ष करे

उ०—वेद पढ़ाना पढ़ना यज्ञ करना, कराना, दान का देना और लेना यह ब्राह्मण के कर्म हैं।

वेद का पढ़ना यज्ञ कराना दान देना विषयों में आसक्त न होना युद्ध से पीछे न हटना और प्रजाकी रक्षा करना, यह क्षत्रीय के कम हैं।

वेद पढ़ना यज्ञ करना दान देना पशुरक्षा और कृषि बनिज और सूद से जीवका करना यह वैश्य के कर्म हैं तीनों वर्णों की सेवा निन्दा रहित होकर करना अभक्ष्य न खाना, यह शूद्रों के कर्म हैं।

प्र०— आश्रम कितने हैं।

उ०—आश्रम चार हैं । ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वाणप्रस्थ और सन्यास।

प्र०—इन आश्रमों में क्या २ करना चाहिये ?

उ०—ब्रह्मचर्य जिसका काल २५, ३६, ४८, वर्ष हैं। उसमें चारों वेद वेदांगों व अन्य सारी विद्याओं को पढ़े। वीर्यरक्षा करे, आठ प्रकार के मैथुन से बचे, जितेन्द्रिय होकर तपो बीर बने गृहस्थाश्रम में ऋतु समय सन्तानोत्पादन करे, द्रव्य का संग्रह धर्म पूर्वक करे बड़े २ यज्ञ करे पञ्चयज्ञों को नित्य प्रति करता रहे। वाणप्रस्थाश्रम में स्त्री को साथ लेकर वा पुत्रों के पास छोड़कर बन में एकान्त वास करे। गृहस्थ की विषय बासना को त्याग विद्याभ्यास करता रहे पञ्चयज्ञ करता रहे सन्यास आश्रम में स्त्री को भी त्याग दे। केवल ब्रह्म की उपासना द्वारा समाधिस्थ होकर मुक्ति का साधन करे. भिक्षा मांग कर खावे शिखा सूत्र का त्याग और कर्म कांड की समाप्ति करदे।

प्र०--पिता जिसका वेदपाठी हो और पुत्र वेद पढ़ा हुआ न हो और पुत्र वेद पढ़ा हुआ हो और पिता वे पढ़ा हुआ हो ऐसे दोनों पुत्रों में श्रेष्ठ कौन है ?

उ०-दोनोंमें श्रेष्ठ वहहै जो स्वयं वेद पढ़ाहो, जिसका पिताभी वेदज्ञ हो

प्र०—विवाह अपने वर्ण में हो वा अन्य वर्ण में ?

उ०—विवाह वर्ण में व्यवस्था के गुण कर्म स्वभावानुसार होना चाहिए।

प्र०—विवाह एक गोत्र में हो सकता है या नहीं ?

उ०—विवाह एक गोत्र में नहीं होना चाहिये। पिता का गोत्र और माता छः पीढ़ी बचा कर विवाह करें।

प्र०— विवाह समीप के देश में करे वा दूर देश में ?

उ—विवाह दूर देश में करना उचित है।

प्र०—किन कुलों में विवाह नहीं करना चाहिये ?

उ०—इन दस कुलों में सम्बन्ध न करे। १ उत्तम क्रियां हीन, २ उत्तम पुरुष हीन, ३ विद्वान् हीन, ४ शरीर पर बड़े २ लोभ वाला, ५ बवासीर रोगवाला, ६ क्षयी रोग वाला, ७ मन्दाग्नि रोगवाला, ८ मृगी रोगवाला, ९ श्वेतकुष्ठवाला, १० गलित कुष्ठ वाला।

प्र०—विवाह कितने प्रकार के होते हैं ?

उ०—विवाह आठ प्रकार होते हैं १ ब्रह्म, २ दैव, ३ आर्ष ४ प्रजापात्य, ५ आसुर ६ गान्धर्व ७ राक्षस ८ पैशाचिक

प्र०—इनमें से कौन २ से अच्छे हैं और कौन २ से बुरे हैं ?

उ०—ब्रह्म, दैव, आर्ष और प्रजापात्य, यह चार विवाह अच्छे हैं और असुर, गन्धर्व, राक्षस पैशाच यह चार बुरे हैं।

प्र०—विवाह में कन्या और बर के मन्त्रों को किसे बोलना चाहिये ?
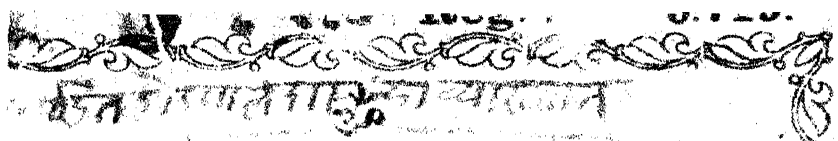
जैनहितैषी ।

जैनियोंके साहित्य, इतिहास, समाज और धर्मसम्बन्धी लेखोंसे विभूषित

मासिकपत्र ।

सम्पादक और प्रकाशक—**श्रीनाथूराम प्रेमी ।**

आठवाँ भाग ।	चैत्र श्रीवीर नि० संवत् २४३८	छठा अंक

विषयसूची । पृष्ठ

व्यवहार करनेका पता—

मैनेजर—श्रीजैनग्रन्थरत्नाकर कार्यालय,
हीराबाग, पो० गिरगांव–बम्बई ।

Printed by G. N. Kulkarni at his Karnatak Press, No. 7 Girgaon Back Road, Bombay, for the Proprietors.

जैनहितैषीके नियम।

१. जैनहितैषीका वार्षिक मूल्य डांकखर्च सहित १॥) पेशगी है।

२. प्रतिवर्ष अच्छे २ ग्रन्थ उपहारमें दिये जाते हैं और उनके छोटे बड़ेपनके अनुसार कुछ उपहारी खर्च अधिक भी लिया जाता है। इस सालका उपहारी खर्च ॥) है। कुल मूल्य उपहारी खर्चसहित २) है।

३. इसके ग्राहक सालके शुरूसे ही बनाये जाते हैं, बीचमें नहीं, बीचमें ग्राहक बननेवालोंको पिछले सब अंक शुरू सालसे मंगाना पड़ेंगे, साल दिवालीसे शुरू होता है।

४. जिस साल जो ग्रन्थ उपहारके लिये नियत होगा वही दिया जायगा उसके बदले दूसरा कोई ग्रन्थ नहीं दिया जायगा।

५. प्राप्त अंकसे पहिलेका अंक यदि न मिला हो, तो भेज दिया जायगा। दो तीन महिने बाद लिखनेवालोंको पहिलेके अंक दो आना मूल्यसे प्राप्त हो सकेंगे।

६. बैरंग पत्र नहीं लिये जाते। उत्तरके लिये टिकट भेजना चाहिये।

७. बदलेके पत्र, समालोचनार्थ पुस्तकें, लेख वगैरह "**सम्पादक, जैनहितैषी, पो० मोरेना, जिला ग्वालियर**" के पतेसे भेजना चाहिये।

८. प्रबंध सम्बन्धी सब बातोंका पत्रव्यवहार मैनेजर, **जैनग्रंथरत्नाकर कार्यालय पो० गिरगांव, बम्बई**से करना चाहिये।

जैनहितैषी।

श्रीमत्परमगम्भीरस्याद्वादामोघलाञ्छनम् ।

जीयात्सर्वज्ञनाथस्य शासनं जिनशासनम् ॥

आठवां भाग] चैत्र श्रीवीर नि॰ सं॰ २४३८ [छठा अंक

कर्नाटक-जैन-कवि।

२० **गुणवर्म**—इस नामके दो जैनकवि हो गये हैं, एक हरिवंशपुराणका कर्ता और दूसरा पुष्पदन्तपुराणका कर्ता। पहिला गुणवर्म ईस्वी सन् [illegible] के लगभग हुआ है। **अभिनव विद्यानन्दिने** अपने **काव्यसार** नामके ग्रन्थमें गुणवर्माके **शूद्रक** नामक ग्रन्थके कुछ पद्य उद्धृत किये हैं, जिससे मालूम होता है कि, उसने कोई शूद्रक नामक ग्रन्थ भी रचा था, जो अभी तक कहीं देखनेमें नहीं आया। इस ग्रन्थमें किसी **गंग** नामके राजाका जिसके कि **गंगार्जुन**, गंगचक्रायुधांक, रूपकन्दर्प आदि नामान्तर व विशेषण थे चरित्र और स्तवन है। **नागवर्म** कविने गुणवर्मको 'लक्षण ग्रन्थकर्ता' बतलाया है। इससे इसका बनाया हुआ कोई **व्याकरणग्रन्थ** भी होना चाहिये। इसके पीछेके **नागवर्म, नयसेन, रुद्रभट्ट** आदि कवियोंने अपने ग्रन्थोंमें गुणवर्मके कविता चातुर्यकी बहुत प्रशंसा की है, जिससे मालूम होता है कि, यह एक सुप्रसिद्ध

कवि हो गया है। दूसरे गुणवर्मका समय ईस्वी सन् १२३९ के लगभग निश्चित हुवा है।

२१ गजांकुश—**मल्लिकार्जुन, नयसेन** आदि कवियोंके पद्योंसे विदित होता है कि, **गज** अथवा **गजांकुश** नामका एक जैनकवि ईस्वी सन् ११९० के पहिले हो गया है। **दुर्गसिंहने** इसका 'विजितारिदंड नायक' कह कर उल्लेख किया है, जिससे मालूम होता है कि, यह कवि होनेपर भी एक शूर सेनापति था। इसका एक नाम **गजग** भी था। **रुद्रभट्ट, अंडय्य, काशिराज, कुमुदेन्दु वाणिवल्लभ** आदि कवियोंने इसकी स्तुति की है. परन्तु इसका अभी तक कोई भी ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हुआ है।

२२ कविमल्ल—**राजेन्द्रचूडके** राज्य कालमें (ईस्वी सन् १०५७) जो अठारहवां शिलाशासन लिखा गया है और जो **हेग्गडदेवके कोटि** नामक स्थानमें है, उससे ऐसा मालूम होता है कि, नुगुनाडके अधिपति चोलनरेशकी देकब्बे नामकी लड़की थी। यह नविलेनाडके स्वामी **एचन**को व्याही थी। इस एचनने अपने दायादोंको मार डाला था, इस अपराधमें उसका सार्वभौम नरेशकी आज्ञासे शिरच्छेद किया गया था। देकब्बे अपने पतिके इस विरहको सहन न कर सकी, इसलिये उसके साथ ही सती हो गई—चितामें जल गई। इस पतिव्रताके स्मरणार्थ जो शिलालेख लिखा गया है, उसका पद्य बहुत ही भावपूर्ण और सुन्दर है। कविमल्ल इसी लेखका रचयिता है। और इससे वह एक उत्तम कवि मालूम होता है। उसका कोई स्वतंत्र ग्रन्थ प्राप्य नहीं है।

२३ नागवर्माचार्य—यह **उदयादित्य** राजाका 'सेना नायक' और 'सान्धि वैग्रहिक मंत्री' था। यह ईस्वी सन् १०७०

के लगभग हुआ है। यह बड़ा धर्मात्मा और परमार्थी था। **बलिपुर** नामके स्थानमें इसने बहुतसे मन्दिर बनवाये थे और **मुत्तुरेडे** नामके स्थानमें सिद्धतीर्थ स्थापित किया था। अपने भास्करादि भाइयोंको उद्देश करके इसने एक **चन्द्रचूड़ामणि शतक** नामक ग्रन्थकी रचना की थी। इस ग्रन्थका दूसरा नाम **ज्ञानसार** भी है। इसमें वैराग्यको जागृत करनेवाले बहुत ही सुन्दर पद्य हैं।

२४ **दामराज**—सार्वभौम **त्रिभुवनमल्ल** नरेश (राज्यकाल ई० सन् १०७६ से ११२६) का **गंगपेरमानडीदेव** नामक सामन्त राजा था। और उसका **नोक्कय हेग्गडे** नामका मंत्री था। पहिले यह कवि इसी मंत्रीका आश्रित था। परन्तु **शिवमोग्ग** तहसीलमें जो दशवां शिलालेख है, उसमें इसने अपनेको 'सान्धिवैग्रहिक मंत्री' लिखा है। इससे मालूम होता है कि, पीछेसे इसने उक्त पद पा लिया होगा। गंगपेरमानडीदेवने बहुतसे जिनमन्दिरोंको ग्रामादि दान किये थे, और उनके शासन **दामराज**से लिखवाये थे। उक्त शासन लेखोंके पद्योंसे यह बात निःसंकोच कही जा सकती है कि, वह एक उच्च श्रेणीका कवि था। मालूम नहीं, इस कविने किसी स्वतंत्र ग्रन्थकी भी रचना की है, या नहीं। इसका समय ईस्वी सन् १०८९ के लगभग मालूम होता है।

२५ **शंखवर्म**—इसकी 'अलंकार शास्त्रकार' के नामसे ख्याति है। परन्तु इसका कोई ग्रन्थ अब तक उपलब्ध नहीं हुआ। द्वितीय **नागवर्म**ने अपने **काव्यावलोकन** ग्रन्थमें इसकी प्रशंसा की है। **रुद्रभट्ट**ने भी इसकी स्तुति की है।

२६ **नागचन्द्र**—इसका दूसरा नाम **अभिनवपंप** है। कनड़ीका यह वैसा ही कवि समझा जाता है, जैसे हिन्दीके **तुलसीदास**।

कर्नाटक प्रान्तमें नागचन्द्रकी **रामायण** वा **पंपरामायण**का प्रचार है। यह ग्रन्थ ऐसा सुन्दर और सरस है कि, इसे प्रत्येक धर्मका अनुयायी पढ़ता है। कोई इस बातका ख्याल नहीं करता है कि, इसकी कथा जैनधर्मके अनुसार है। यह ग्रन्थ गद्य पद्यमय है। इसमें छह आश्वास हैं। इस कविका दूसरा ग्रन्थ **मल्लिनाथ पुराण** है, जिसमें १९ वें तीर्थंकर **मल्लिनाथ**का चरित्र १४ आश्वासोंमें वर्णित है। यह भी गद्य पद्यमय है। इसकी वर्णन शैली बड़ी ही हृदयग्राहिणी है। **जिनमुनितनय** और **जिनाक्षरमाला** ये दो ग्रन्थ भी इसी कविके बनाये हुए प्रसिद्ध हैं। परन्तु हमको इस विषयमें संदेह है। क्योंकि इन ग्रन्थोंकी रचना बहुत ही सादी और महत्त्वहीन है। यह कवि ईस्वी सन् [illegible] के लगभग हुआ है। भारतीकर्णपूर, कविता मनोहर, साहित्य विद्याधर, साहित्य सर्वज्ञ, सूक्ति मुक्तावतंस, आदि इस कविके उपनाम थे। यह जैसा विद्वान् था, वैसा ही धनवान् भी था। मल्लिनाथ पुराणकी प्रशस्तिसे ज्ञात होता है कि, इसने **बीजापुर**में विपुल धन लगाकर मल्लिनाथ भगवान्का एक विशाल मन्दिर बनवाया था और उसी समय मल्लिनाथ पुराणकी रचना की थी। इसका निवासस्थान बीजापुर ही जान पड़ता है। इसके गुरुका नाम **बालचन्द्र** मुनि था। बालचन्द्र नामके दो मुनि हो गये हैं, जिनमेंसे एक **पुस्तकगच्छ** मुक्त **नयकीर्ति**के शिष्य थे और प्राभृत ग्रन्थोंके टीकाकार (कनड़ी) होनेसे 'आध्यात्मिक बालचन्द्र' कहलाते हैं। ये सन् [illegible] तक जीवित थे। दूसरे बालचन्द्र **वक्रगच्छ**के थे और **वीरनन्दि** सिद्धान्त चक्रवर्तीके गुरु **मेघचन्द्र** (पूज्यपाद कृत समाधि शतकके टीकाकार) के सहाध्यायी थे। यही दूसरे बालचन्द्र **नागचन्द्र**के गुरु थे।

नागचन्द्र नामके एक और विद्वान् हो गये हैं, परन्तु वे गृहस्थ नहीं थे मुनि थे । **तत्त्वानुशासन**, **लब्धिसार टीका** और **विषापहार टीका** आदि कई संस्कृत ग्रन्थ उनके बनाये हुए हैं ।

२७. **कन्ति**—यह स्त्री कवि थी और इसकी कविता बहुत ही मनोहारिणी होती थी । कनड़ी साहित्यमें शायद इसके पहिले और कोई स्त्री कवि नहीं हुई । **देवचंद्र** कविके एक लेखसे मालूम होता है कि, यह छन्द, अलंकार, काव्य, कोष, व्याकरणादि नाना ग्रन्थोंमें कुशल थी । **बाहूबलि** नामक कविने अपने **नागकुमारचरि-तके** एक पद्यमें इसकी बहुत प्रशंसा की है और इसे 'अभिनववा-ग्देवी' विशेषण दिया है । **द्वारसमुद्रके** बल्लालराजा विष्णुवर्धनकी सभामें अभिनव **पंप** और **कन्तिसे** विवाद हुआ था । अभिनव-पंपकी दी हुई समस्याकी उसने पूर्ति की थी । अभिनवपंप चाहता था कि, कन्ति मेरी प्रशंसा करे—उसकी की हुई प्रशंसाको वह अपने गौरवका कारण समझता था । परन्तु कन्ति पंपकी प्रशंसा नहीं करती थी । कहते हैं कि, कन्तिने अन्तमें पंपकी कविताकी प्रशंसा करके उसको सन्तुष्ट कर दिया था—परन्तु सहज ही नहीं । पंपको इसके लिये एक ढोंग बनाना पड़ा था । यह राजमंत्रीके **धर्मचन्द्र** नामक पुत्रकी लड़की थी । इसका समय पंपके समयके लगभग समझना चाहिये । इस समय इसका बनाया हुआ कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है ।

२८. **नयसेन**—यह कवि ईस्वी सन् ११ १२ के लगभग **मुळगुन्द** नामक तीर्थस्थानमें हुआ है । यह त्रैविद्य चक्रवर्ती **नरेन्द्रसेन सूरिका** शिष्य था । नरेन्द्रसेन बहुत प्रभावशाली विद्वान् हुए हैं । चालुक्यवंशीय **भुवनैकमल्ल** (सन् १०६२ से १०७६) **उनकी**

सेवा करते थे। नयसेनके बनाये हुए दो ग्रन्थ उपलब्ध हैं, एक तो कर्नाटक भाषाका **व्याकरण** और दूसरा **धर्मामृत**। धर्मामृतको **काव्यरत्न** भी कहते हैं। इसमें १४ आश्वास हैं। इसकी कनडी भाषा बहुत ही मधुर, ललित तथा शुद्ध है। नीति ग्रन्थोंकी पद्धतिसे इसमें श्रावकाचारका विस्तृत स्वरूप कहा है। इस कविकी भी कनडीके नामी कवियोंमें गणना है। इसके पीछेके कवियोंने इसे 'सुकवि निकर पिक माकन्द,' 'सुकविजनमनः पद्मानि राजहंस' आदि विशेषणोंसे भूषित किया है।

[असमाप्त]

श्रीसोनागिर सिद्धक्षेत्र

और

हमारे विचार।

बहुत कम जैनी भाई ऐसे होंगे, जो इस सिद्धक्षेत्रसे परिचित न हों। यह तीर्थ बुन्देलखंडके **दतिया** राज्यके अन्तर्गत है। जी. आई. पी. रेलवेके सोनागिर स्टेशनसे लगभग दो ढाई मील दूरीपर सोनागिर पर्वत है। इसका प्राचीन नाम श्रमणगिरि या श्रमणाचल है। 'श्रमण' शब्दका अर्थ जैन मुनि होता है। इस पर्वतपर पूर्वकालमें जैन मुनि निवास करते थे और अनेक जैन मुनियोंने यहांसे मोक्ष प्राप्त किया था, इसलिये इसका श्रमणगिरि नाम अन्वर्थक मालूम होता है। श्रमणगिरि, श्रवनगिर, सवनगिर, और सोनगिरि इस तरह क्रमसे अपभ्रंश होते होते सोनागिर शब्द बना है। इस पर्वतपर जो **चन्द्रप्रभ**

भगवानका मुख्य मन्दिर है. उसके शिलालेखसे[1] मालूम होता है कि, विक्रमसंवत् ३३५ में **श्रमणसेन** और **कनकसेन** नामके मुनियोंने जो कि **मूलसंघ** और **बलात्कारगण**के थे. इस मन्दिरकी प्रतिष्ठा करवाई थी और सोनागिरके मंदिरोंमें यही मन्दिर सबसे प्राचीन है। आश्चर्य नहीं कि. इन्हीं श्रमणसेन मुनिके नामसे इस पर्वतका नामकरण हुआ हो। 'श्रमण' का अपभ्रंश जिस तरह 'सोन' होता है. उसी तरह 'कनक' (कनकसेनका संक्षिप्तनाम) के पर्यायवाची 'स्वर्ण' का अपभ्रंश भी 'सोन' ही होता है। बहुत लोगोंकी राय है कि. सोनागिर उस सुवर्णगिरि शब्दका अपभ्रंश है, जिसका कनकसेनसे कोई सम्बन्ध नहीं है। परन्तु यह सुवर्णगिरि क्यों कहलाया इसका वे कोई बलवान् प्रमाण नहीं दे सकते हैं। प्रत्यक्षमें वहां कोई ऐसे सुवर्ण पाये जाने आदिके चिन्ह नहीं हैं. जिनसे इस नामकी सार्थकता सिद्ध की जा सके। विरुद्ध इसके श्रमणाचल वा श्रमणगिरि नाम वहां जो कई मन्दिरोंमें शिलालेख हैं. उनमें लिखे हुए मिलते हैं और अर्थसे भी ये नाम ठीक मालूम होते हैं अस्तु।

इस पवित्र तीर्थपर प्रतिवर्ष चैत्रमासके प्रारंभमें मेला लगता है और उसमें दूर दूरके कई हजार यात्री एकत्र होते हैं। यद्यपि इस वर्ष झांसी आदि कई स्थानोंमें प्लेग हो रहा था. इस लिये उस ओरके बहुत कम लोग आये थे और कुछ आये भी थे. सो

१ वर्तमानमें जो चन्द्रप्रभका मन्दिर है, वह सम्वत् १८८३में मथुरा निवासी सेठ लक्ष्मीचन्दजीका जीर्णोद्धार कराया हुआ है। संवत् ३३५के पुराने लेखका सारांश हिन्दीमें उक्त जीर्णोद्धार करनेवालोंने जुदे शिलालेखपर लिखकर लगा दिया है। वह मौजूद है, परन्तु मालूम होता है पुराने लेखका पता नहीं है।

राज्यके प्लेग प्रबन्धकर्त्ताओंद्वारा लौटा दिये गये थे, तो भी लगभग डेढ़ दो हजार भाइयोंका समूह हो गया था। अपने चिरकालके मनोरथको पूर्ण करनेके लिये द्वितीयाकी संध्याको हम भी इस समूहमें जाकर शामिल हो गये थे और पंचमीकी संध्यातक रहे थे। इस बीचमें बन्दना करते समय, जलेब निकलते समय और दूसरे मौकोंपर हमारे हृदयमें जो विचार उत्पन्न हुए, उन्हें हम वर्त्तमान जैन समाजके उपयोगी समझकर इस लेखमें प्रकाशित करना चाहते हैं। आशा है, उनसे हमारे पाठक कुछ न कुछ लाभ अवश्य उठावेंगे।

सोनागिरका पर्वत गिरनार आदि पर्वतोंके समान ऊंचा तथा विस्तृत नहीं है—बहुत ही मामूली है। बिना किसी विशेष कष्टके दो ढाई घंटेमें अच्छी तरहसे इसकी बन्दना हो सकती है और पर्वतका घेर तो इतना कम है कि, परिक्रमा करनेमें पूरा घंटा भर भी नहीं लगता है। इतना छोटा होनेपर भी इस पर्वतपर जैनियोंकी विलक्षण उदारताने ६७ मन्दिर बनवा दिये हैं और यदि यह मन्दिर बनवानेकी उदारताका संक्रामक रोग बराबर इसी तरह जोर पकड़े रहा, जैसा कि वर्त्तमानमें है तो बहुत ही थोड़े दिनोंमें सारा कासारा पर्वत मन्दिरोंसे ढक जायगा और फिर यह जानना कठिन हो जायगा कि, वास्तवमें यह कोई पर्वत है। केवल मन्दिरोंका एक स्तूपसा दीखेगा।

बन्दना करते समय हमने जब इस बातपर गौर किया कि, ये मन्दिर कितने पुराने हैं, तो मालूम हुआ दो चार मन्दिरोंको छोड़कर पर्वतके प्रायः सब ही मन्दिर ऐसे हैं, जो विक्रम संवत् १८०० के पीछेके हैं अर्थात् केवल १५० वर्षके भीतर इन सबकी रचना हुई है। प्राचीन मन्दिरोंमें या तो चन्द्रप्रभुका मन्दिर है, या एक

मन्दिरमें संवत् १२७२ की धर्मचन्द भट्टारकके उपदेशसे प्रतिष्ठा की हुई प्रतिमा है। इसके सिवाय और कोई प्रतिबिम्ब या मन्दिर प्राचीन नहीं मालूम हुए। और यदि हमारे दृष्टिदोषसे कोई रह भी गये हों, तो उनकी संख्या दो चारसे अधिक नहीं होगी। इन सब मन्दिरोंमें जो प्रतिमाएँ हैं, यदि सत्य और स्पष्ट कहनेमें कोई पाप न हो, तो हम कहेंगे कि उनमें कोई भी ऐसी नहीं है जो शिल्पशास्त्रके नियमानुसार बनाई गई हो और उनसे प्रतिमापूजनका जैनियोंका जो मुख्य उद्देश है, उसकी पूर्ति होती हो। शिल्पशास्त्र वा मूर्तिनिर्माण विद्याकी सूक्ष्म बातोंपर ध्यान रखना तो दूर किनार रहा, इन मूर्तियोंके बनानेमें इतने भी कौशल्य पर ख्याल नहीं रक्खा गया, जितना वर्त्तमानमें जयपुर आदिके मूर्ति बनानेवाले रखते हैं। एक या दो प्रतिमाएँ अवश्य ही संगमर्मरकी बनी हुई ऐसी हैं, जिन्हें बुरी नहीं कह सकते हैं तो भी वे ऐसी नहीं हैं कि हमारे हृदयपर वैराग्यका कुछ गहरा असर डाल सकें। इनको छोड़कर प्रायः जितनी प्रतिमा हैं, वे सब बेडोल, बेढंगी, अस्वभाविक और गिरी हुई शिल्पकलाकी दृष्टान्त स्वरूप हैं। दृष्टि, मुखमुद्रा आदि सूक्ष्म भाव जो चतुर कारीगरकी रचनामें दृष्टिगोचर होते हैं उनकी तो बात ही निराली है पर इनके बनानेवाले कारीगर और बनवाने वाले धनिक तो मालूम होता है, यह भी नहीं जानते थे कि ऊपरके धड़से पैर बड़े होना चाहिये या छोटे शिर और धड़के मापमें कितना तारतम्य होना चाहिये। पैरोंमें घुटनोंके स्थानपर अथवा नीचे ऊपर कुछ चढ़ाव उतारकी जरूरत है या नहीं ऐसी प्रतिमाएँ तो हमने ५०—६० से कम न देखी होंगी, जिनके पैरोंके पंजोंकी लम्बाई प्रतिमाके परिमाणसे जितनी होनी चाहिये,

उससे आधी या तिहाई भी नहीं थी। जब हमने इन बातोंका विचार किया कि, ऐसी प्रतिमाओंकी स्थापना क्यों की गई—इतने अधिक मन्दिर क्यों बन गये और ये सब लगभग डेड़ सौ वर्ष ही में क्यों बने, तो हमारी दृष्टिके सामने पिछली दो सौ वर्षोंकी अंध-श्रद्धा तथा अज्ञानताका और भट्टारकोंके विवेकशून्य शासनका चित्र खिंच गया। जब भट्टारक गण स्वयं विद्याहीन होने लगे समीचीन विद्या तथा चारित्रसे रहित होने लगे और साथ ही साथ उनमें स्वार्थकी मात्रा बढ़ने लगी, तब उन्होंने जैनधर्मकी रक्षाका केवल यही उपाय तजवीज किया कि, खूब मन्दिर बनवाये जावें और प्रतिष्ठाएँ करवाई जावें। इन कामोंसे उनके स्वार्थकी साधना भी होती थी। सुतरां इस ओर उन्होंने अपनी शक्तिका भी उपयोग विशेष रूपसे किया। जैन समाजमें अज्ञानका साम्राज्य था ही फिर क्या था धड़ाधड़ मन्दिर बनने लगे! एकको सिंगईकी पगड़ी बँधवाई गई, तो दूसरा सवाई सिंगई बननेको तयार हो गया। और एकने पांच हजार लगाकर मन्दिर बनवाया, तो दूसरा दश हजार लगानेकी प्रतिज्ञा करने लगा। इस तरह देखादेखीसे बराबर मन्दिर बनते गये और उनकी संख्या सैकड़ोंपर पहुंच गई। जो लोग भट्टारकोंके शासनसे जुदे हो गये थे जिनपर तेरहपंथकी मुद्रा लग चुकी थी। उन्होंने भी इस कार्यमें योग दिया, वे भी मन्दिर बनवानेमें बीसपंथियोंसे पीछे न रहे। प्रभावनाका मन्दिर बनवानेके अतिरिक्त और भी कोई अच्छा मार्ग है—इसका ज्ञान उन्हें भी नहीं हुआ। हम यह नहीं कहते हैं कि, इन मन्दिरोंके बनवानेवालोंमें धर्मबुद्धि बिलकुल ही नहीं थी, अथवा इन्होंने कुछ पुण्योपार्जन नहीं किया होगा। नहीं, हमारा अभिप्राय केवल यह है कि, वे अंधश्रद्धालु और

गतानुगतिक होंगे। उनमें धर्मके स्वरूपका ज्ञान बहुत ही कम होगा। जिसमें भट्टारकजीने धर्म कह दिया उसमें धर्म और जिसमें अधर्म कह दिया उसीमें अधर्म समझते होंगे। यदि वे कमसे कम इतना भी समझते कि, जैनियोंके यहां जो मूर्तिपूजा है। वह केवल वैराग्य भावोंकी वृद्धि-के लिये तथा अपने पूर्व महात्माओंके उत्कृष्ट चरित्रका स्मरण करनेके लिये है। एकपर एक मन्दिर बनाकर भगवानको राजी करनेके लिये नहीं है, तो उनके द्वारा ऐसी बेडौल प्रतिमाओंकी स्थापना न होती। यदि वे जानते कि, प्रतिमाओंकी सौम्यता तथा शान्तिताके अनुसार भावोंमें भी कुछ तारतम्य होता है, तो जिन मन्दिरोंमें बीस २ हजार रुपया लगाये हैं, उनमें प्रतिमाओंके लिये भी दो २ चार २ हजार रुपये खर्च करते। जिन दिनोंमें ये मन्दिर बने, उन दिनों यदि जैनसमाजमें अज्ञान अंधकार नहीं होता, तो अवश्य है कि, मंदि-रोंके साथ २ चार छह पाठशाला, पुस्तकालय और दानालय आदि संस्थाएं भी स्थापित होतीं। प्रभावनाके लिये ये काम भी कुछ कम महत्त्वके नहीं हैं। पर इनका महत्त्व उस समयका समाज नहीं स-मझ सकता है, जब चारों ओर अज्ञान अंधकार छाया हुआ था। आज चारों ओर ज्ञान सूर्यका प्रकाश फैल रहा है और जहां तहां विद्याको ही सबसे अधिक महत्त्व दिया जा रहा है। परन्तु ऐसे सम-यमें भी जैनसमाज जब मन्दिर बनवाने और प्रतिष्ठा करवानेमें ही सबसे अधिक दत्तचित्त है, तब उस समयमें जब कि विद्यादेवी केवल धर्मगुरुओंकी अथवा इनेगिने दश पांच पंडितोंकी ही गृह-दासी हो रही थी, पुस्तकालय पाठालयादिकों को कौन पूछता था।

जिन बिढंगी प्रतिमाओंका हमने ऊपर जिक्र किया है, उनके विषयमें दूसरे लोगोंके मत कैसे हैं, यह जाननेके लिये जब हमने

दो चार सज्जनोंसे जिनमें एक दो शिक्षित भी थे, पूछा तो उन्होंने शिरःसंचालन और ईषन्नेत्र मुकुलित करते हुए कहा—आहा! कैसी दिव्य मूर्तियां हैं। अमुक मन्दिरकी मनोज्ञ प्रतिमाके समक्ष कैसी शान्ति मिलती है। यह सुनकर मैंने अपने मनमें कहा,—"हे अन्धश्रद्धे, तुझे नमस्कार है। तेरे प्रचंड शासनने लोगोंकी सत्य-निष्ठा और सदसद्विवेक बुद्धिको तो मानो देश निकाला ही दे दिया है। तू लोगोंको जबर्दस्ती धर्मात्मा बननेके लिये लाचार करती है। जो तेरी आज्ञासे जरा भी विरुद्ध हुआ कि, उसकी मिट्टी खराब होती है। आज '**देवागमनभोयानादि**' कारिकाएँ कहकर भगवानकी परीक्षा करनेवाले **भगवत्समन्तभद्र** जैसे आचार्य भी होते, तो उनपर भी आपत्ति आये विना न रहती। उनका उपदेश सुनना भी बन्द कर दिया जाता। देखना है कि, हमारे समाजमें अब तेरी तूती और कितने दिन बोलती है।"

पर्वतके ऊपर पहुंच कर जब हमने एकबार सब ओर दृष्टि डाली तब हमारे मनमें एक अपूर्व भावका उदय हुआ। अहा! यह वही पवित्र भूमि है, जहां किसी समय सैकड़ों मुनि संसारकी विषय-वासनाओंसे विरक्त हो कर आत्माका चिन्तवन करते थे। जगतके सूक्ष्मसे सूक्ष्म पदार्थोंका अपनी विशदबुद्धिसे विचार करते थे, और निरन्तर, प्राणीमात्रके हितके लिये प्रयत्नशील रहते थे। यह वही विद्याभूमि है, जहां वृक्षोंके नीचे बैठे हुए मुनियोंके पास हजारों ब्रह्मचारी विद्याध्ययन करते थे और अपने आगामी जीवनको परार्थ-तत्पर संयमी और धर्म प्रचारक बनानेकी सामग्री एकत्र करते थे। यह वही विजयभूमि है, जहां बड़े २ दिग्गज वादी जैनधर्मपर विजय प्राप्त करनेके लिये आते थे, परन्तु स्याद्वादकी सत्य युक्ति-

योंके सामने गलितमद हो कर चुपचाप चले जाते थे, या सब कुछ छोड़ छाड़कर आप भी इस सत्य धर्मकी छायामें बैठनेका सौभाग्य प्राप्त करते थे। आज यद्यपि यह भूमि पहलेकी अपेक्षा अधिक समृद्ध-शाली जान पड़ती है--सैकड़ों गगनचुम्बी मन्दिरोंसे शोभित हो रही है, और एक राजपुरीसी दिखती है, परन्तु राजपुरी क्या तपोवनकी बराबरी कर सकती है? विद्वान्की झोपड़ीकी समता क्या राजाका महल कर सकता है? अहा! यदि इन शताधिक मन्दिरोंके साथ २ सौ पचास मुनि नहीं ब्रह्मचारी ही रहकर विद्याभ्यास करते होते, दश पांच उपदेशक निरन्तर आने जाने-वाले यात्रियोंको उपदेश देकर उनका कल्याण करते होते, जिन मन्दिरोंमें देवोंकी स्थापना है, उनमें दो चार हजार शास्त्रोंकी भी स्थापना होती और उनसे दर्शक गण अपने हृदयका अंधकार हटा-नेका प्रयत्न करते होते तो इनके दर्शनोंसे जो आनन्द होता है, वह कितनी वृद्धिको न प्राप्त होता? ऐसा होता तो मानो पंचभूता-त्मक शरीरमें जीव विराजमान हो जाता, चारित्रके बिल्लौरके साथ सम्यग्ज्ञानका मणि जड़ जाता, और तारागण मंडित आकाशमें पूर्ण चन्द्रका उदय हो जाता। क्या वह दिन कभी आयगा, जब उस स्मृतिपथके पार पहुंची हुई सच्ची शोभाका और इस वर्तमानकी बना-वटी तथा निर्जीव शोभाका सम्मेलन होगा? ऐसे दिवसका लाना वर्तमानके धर्मप्राण युवकोंपर और भविष्यकी प्रजाके हाथमें है।

पर्वतके नीचे भी मन्दिरोंकी कमी नहीं है। लगभग १६ मन्दिर हैं और कई धर्मशालाएँ हैं।

वहांके मन्दिरोंमें जो चढ़ावा चढ़ता है, उसको पंडे लोग लेते है। जैनियोंके मन्दिर जहां कहीं भी हैं उनकी चढ़ी हुई सामग्री

माली या व्यास लेते हैं और कोई नहीं ले सकता है परन्तु इसका मतलब यह नहीं है कि, उन व्यासों या मालियोंका उनपर अधिकार हैं–उन्हें कोई कानूनी स्वत्व प्राप्त है। यदि मन्दिरवाले चाहें तो उन्हें निकाल कर उनके स्थानमें दूसरोंको रख सकते हैं। पर सोनागिरके पंडे जैनियोंकी दुर्बलता और संघशक्तिकी कमीसे ऐसे नहीं रहे हैं, वे वहांके अधिकारी बन बैठे हैं और भिक्षुकसे स्वामी बनकर जैनियोंके साथ मन माना व्यवहार करते हैं। चढ़ावाके मौरूसी अधिकारी तो वे वर्षोंसे बन ही रहे थे, पर अब इस वर्ष उन्होंने चन्द्रप्रभके मन्दिरमें एक भंडार पेटी रख दी है और आश्चर्य की बात यह है कि, उन्हें भोले भाई रुपया भी देते हैं। पर्वतके प्रायः प्रत्येक मन्दिर पर पंडोंकी औरतें बैठी रहती हैं और दर्शन करनेवालोंसे पैसा मांगती हैं। इनके सिवाय पर्वतपर सैकड़ों भिखारी तथा वैष्णव साधु भी बैठे रहते हैं, जो 'चन्द्रप्रभ स्वामी तुम्हारा भला करेगा' कहकर पैसा अधेला मांगते हैं। देहाती भाइयोंको ये लोग बहुत तंग करते हैं और उन्हें उनके हृदयमें 'कंजूस' आदि शब्दोंसे पीड़ा पहुंचा कर पैसा देनेके लिये लाचार करते हैं।

पूछनेसे मालूम हुआ कि, इस तीर्थपर जो भंडार एकत्र होता है, वह एक जगह नहीं होता है–कोई १४ या १५ जगह होता है, परन्तु कहां कितना होता है और उसका उपयोग क्या होता है, यह किसीको मालूम नहीं होता है। इतने बड़े तीर्थपर यदि अच्छा प्रबन्ध किया जावे और सब भंडार एकत्र जमा किया जावे तो सहज ही १५–२० हजार रुपया वार्षिक एकत्र हो सकता है। और उससे मन्दिरोंकी मरम्मत पूजाका प्रबन्धादि होकर भी एक दो धार्मिक संस्थाएँ अच्छी तरहसे चल सकती हैं। पर इतना

ख्याल किसको है? जहां रुपया दे देनेमें ही पुण्य समझ लिया जाता है–उसका उपयोग क्या होता है इस ओर दृष्टि ही नहीं जाती है। वहां ऐसी बातोंको कौन सोचे? लगभग एक वर्षसे यहां तीर्थक्षेत्रकमेटीकी ओरसे एक मुनीम रक्खा गया है और सब जगह आन्दोलन किया गया है कि, इस प्रामाणिक संस्थाको सब लोग भंडार देवें। परन्तु हमारे लकीरके फकीर अज्ञानी भाई इस संस्थाके पास भी खड़े होनेको डरते हैं। इस संस्थासे जिन लोगोंके स्वार्थमें बाधा पड़नेकी संभावना है और जिन्हें अपने अधिकारोंके छिन जानेका डर है, वे लोग तो इसे न जमने देनेके लिये जी जानसे प्रयत्न करते ही हैं, परन्तु साथ ही दूसरे भाई भी इसके साथ सहानुभूति नहीं दिखलाते हैं। हमने तीर्थक्षेत्रकमेटीके इन्स्पेक्टर बाबू वंशीधरजी और मुनीम बदामीलालजीकी प्रेरणासे चतुर्थीको कमेटीके दफ्तरके सामने एक सभा करके सोनागिर तीर्थकमेटीके संगठन करनेका और तीर्थक्षेत्रकमेटीका परिचय करानेका विचार किया। यह सभा संध्याको की गई, और उसमें जैसे तैसे २५०–३०० भाई जमा भी हुए तथा हमने जैनजातिकी उन्नति कैसे हो। इस विषयपर एक व्याख्यान भी दिया, परन्तु बहुतसे सज्जनोंके द्वारा जिनमें इस ओरके बहुतसे अगुए भी शामिल थे। इस बातकी जी भरके कोशिश की गई कि, इस सभामें कोई भाई न जावें। इस घटनासे हमको बड़ा भारी दुःख हुआ। समाजमें जहां देखिये वहां इसी प्रकार अज्ञानता स्वार्थपरता और गतानुगतिकताका साम्राज्य हो रहा है। न जाने हमारे समाजके शिक्षित भाइयोंका ध्यान इस ओर कब जायगा। जिन तीर्थोंपर उचित साधन मिलानेसे समाजके अगणित उपकार किये जा सकते हैं–अनेक संस्थाओंको सहायता दी जा सकती है, उन्हींकी

ऐसी दशा देखकर न जाने उनके हृदयमें धार्मिक जोश कब आयगा। जिनके हृदयमें समाजके हित करनेकी सच्ची उत्कंठा है, उन्हें चाहिये कि, और नहीं तो ऐसे स्थानोंमें कमसे कम एक २ उपदेशक रखनेका प्रबन्ध तो फिलहाल कर दें। मन्दिर बहुत बन चुके धर्मशालाएँ भी बहुत बन गईं, अब ऐसा उपाय करना चाहिये, जिससे इन मन्दिरों और धर्मशालाओंके बनवानेका उद्देश जो धर्मकी उन्नति करता है, वह थोड़ा बहुत सिद्ध होने लगे।

यहां प्रतिदिन द्वितीयासे पंचमी तक एक २ जलेब निकलती है, और उसके साथ खूब गीतनृत्यादि होते हैं। पंचमीके दिन दो जलेबें निकलनेवाली थीं, इससे जलेब निकालने वालोंमें विवाद हो गया। सुनते हैं कि, उक्त विवाद यहांतक बढ़ गया कि, राज्यके अधिकारियों तक पहुंचा और वहांसे यह फैसला हुआ कि, एक जलेब १२ बजेके पहिले २ निकल जावे और दूसरी उसके बाद, कहां है वे धर्मात्मा, जो कहते हैं कि, जैन समाजमें धार्मिक श्रद्धा बहुत है। क्या इसीको धार्मिक श्रद्धा और धार्मिक विचार कहते हैं? क्या ऐसे विवादोंका यह अर्थ नहीं है कि, ये जलेबें श्रीजीकी नहीं, किन्तु हमारे श्रीमानों तथा पंचायतके अगुओंकी निकलती हैं। जैनधर्मके उदार पवित्र और शान्त सिद्धान्तोंसे तो हमारी समझमें ये बातें कोसों दूर हैं। एक जलेबमें श्रीजीके सामने पद कहे जा रहे थे। एक नवयुवकने एक नये ढंगका पद जिसमें कि विद्याकी उन्नति करने का जोर भरा था, कहना प्रारंभ किया, बेचारेने एक दोही तुकें कही थीं कि, एक प्रबन्धक महाशयने डपट कर कहा यहां ऐसे पद मत गाओ यहां तो कोई 'हजूरी' पद गाना जाहिये। युवक अप्रतिभ होकर चुप हो रहा। उसके बाद

ही आपने श्रीजीको उद्देश करते हुए अपने तानसेनी कंठसे एक पद कहना शुरू किया। उक्त पद मुझे स्मरण नहीं रहा, परन्तु उसका अभिप्राय यह था कि, प्रातःकाल उठकर जिनमन्दिरको जाना चाहिये और पूजन वन्दन करना चाहिये इत्यादि, जब आप इसे गाते समय भगवानकी प्रतिमाके सामने हाथोंसे इशारा करते थे उस समय यही भास होता था कि, भक्त महाशय श्रीजीको उपदेश दे रहे हैं कि, आप यहां बैठे २ क्या कर रहे हैं—मन्दिरको जाया कीजिये। यह सुनकर हमने समझ लिया कि, 'हजूरी' पदोंका यह अर्थ है। जैनियोंके मेलोंमें तथा जुलूसोंमें ऐसे एक नहीं, सैकड़ों दृश्य दिखलाई देते हैं, कोई परीक्षक बुद्धिसे देखनेवाला होना चाहिये। इस समय जैनियोंमें जो अज्ञान अंधकार फैला हुआ है धार्मिकतत्त्वोंकी जो अज्ञता बढ़ रही है, उसके कारण वे अपने धार्मिककृत्योंको जिस ढंगसे करते हैं तथा अपने इष्ट देवोंके विषयमें उनके हृदयमें जो संस्कार बैठे हुए हैं उनको देखकर उनके विषयमें पूछताछकरके कोई भी अपरिचित विदेशी पुरुष यह नहीं जान सकता है कि, जैनी ईश्वरको सृष्टिका कर्त्ता नहीं मानते हैं, वे एकेश्वरवादी नहीं हैं और प्रतिमाओंको अपने भावोंकी शुद्धीके लिये पूजते हैं। वह यही समझ सकता है कि, वैष्णव शैवादिके समान जैनधर्म भी हिन्दूधर्मकी एक शाखा है। इन्होंने ईश्वरके नामादिमें कुछ भेद मान लिये हैं वास्तवमें कुछ अन्तर नहीं है। अपने पवित्र सर्वथा स्वतंत्र और अद्वितीय धर्मके विषयमें लोगोंके द्वारा ऐसे अनुमान बँधवाना, हमारे लिये बड़ी ही लज्जाका विषय है।

सोनागिरमें तीन भट्टारकोंकी गद्दी हैं, जिनमेंसे भट्टारक हरेन्द्रभूषणजी वहीं रहते हैं। इनके एक दो शिष्य भी हैं इनके पास

सम्पत्ति तो बहुत सुनते हैं, पर विद्या भी थोड़ी बहुत है या नहीं इसमें सन्देह है। तो भी इस प्रान्तमें आपपर श्रद्धा करनेवाले भोलेभक्तोंकी कमी नहीं है। आजकल आपके वहांके पंडोंसे कई मुकद्दमे चल रहे हैं। तीर्थक्षेत्रकमेटीसे भी आप बहुत अप्रसन्न रहते हैं। हमने आपको एक सरकारी कागजपर दस्तखत करते हुए देखा तो मालूम हुआ कि आप स्वयं ही अपनेको 'श्रीमत् स्वामी श्री १०८ श्रीजैनगुरु भट्टारक हरेन्द्रभूषणजी लिखते हैं। अच्छा है, और कोई नहीं लिखे, तो स्वयं लिखनेसे चूकनेमें कौनसी बुद्धिमानी है? हम आपके दर्शन करनेके लिये इसलिये गये थे कि, सोनागिरका शास्त्रभंडार देखें। दो तीन बार जानेसे अपने ग्रन्थ तो नहीं, पर ग्रन्थोंकी सूची दिखलानेकी कृपा कर दी। उससे मालूम हुआ कि, ग्रन्थोंका संग्रह अच्छा है और बहुतसे अपूर्व २ ग्रन्थ भी हैं वैदिक धर्मियोंके भी कई सौ ग्रन्थ होंगे। इस सूचीमें एक बड़ी भारी कमी यह है कि, नम्बर नहीं हैं और नम्बरके विना एक ग्रन्थके ढूंढनेमें दो दिन लग जाते हैं। महाराजको लड़ाई झगड़ोंके मारे इतना अवकाश कहां कि, ग्रन्थोंको सिलसिलेसे लगा दें और नम्बरवार सूची बना दें। यदि महाराजके कोई शिष्य ही इसका प्रयत्न करें तो अच्छा हो।

महासभाके विषयमें कुछ नोट।

चैत्रवदीके जैनमित्रसे महासभाकी अन्तर्व्यवस्था सम्बन्धी बहुतसी विलक्षण बातें मालूम हुई हैं। उसके दफ्तरमें २०) मासिकका क्लार्क होनेपर भी अधिवेशन सरीखे जरूरी कामोंके पत्रोंकी तामिली डेढ़ २ महिनेमें की जाती है। और उसमें भी

मालसाजियां की जाती हैं । अबकी बार लखनौके पंचोंके निमंत्रणको जो कि पहिले आ चुका था, फीरोजाबादके निमंत्रणसे पीछे आया हुआ बतलाकर सभासदोंकी आखोंमें धूल डालकर उनकी सम्मतियां मांगीं गई और इस तरह सभाके अधिवेशन होनेके मार्गमें एक प्रकारसे कांटे बिछाये गये । महासभाका जब किसी वर्ष कहींसे निमंत्रण नहीं आता है, तब उपालम्भ दिया जाता है कि, समाजमें उत्साह नहीं है लोगोंको सभादि धर्म सम्बन्धी कार्योंसे प्रेम नहीं है । परन्तु जब कहींके भाई उत्साह करके निमंत्रण देते हैं तब महासभाका दफतर ऐसी मुस्तैदी और भलमंसाहत दिखलाता है। फिर लोग क्यों न सोचें कि, **वरं शून्या शाला न च खलु वरो दुष्ट वृषभः ।**

जैनमित्रके लेखोंसे जो कि **फीरोजाबाद** और **लखनौके** अधिवेशनके सम्बन्धमें प्रकाशित हुए हैं, यह फलितार्थ निकलता है कि महासभाके सहायक महामंत्री **श्रीमन्त सेठ मोहनलालजी** लखनौकी अपेक्षा फीरोजाबादमें महासभाका होना अच्छा समझते हैं और इसी कारण उनके दफ्तरसे उक्त लज्जास्पद कार्यवाही हुई है। परन्तु श्रीमन्त सेठजी फीरोजाबादके अधिवेशनको क्यों पसन्द करते हैं, यह एक गूढ प्रश्न है । हमारी समझमें इसका सम्बन्ध **दस्सों बीसोंके** उस झगड़ेसे है, जो कि प्रकाश रूपसे शान्त हुआ बतलाया जाता है । इस झगड़ेसे समाजमें जो दो पक्ष पड़ गये है, एक धनिकों वा सेठोंका और दूसरा शिक्षितोंका । श्रीमन्त सेठजी भी उनमेंसे एक पक्षके पुरस्कर्ता हैं। फीरोजाबाद स्थान सेठ **मेवारामजी** तथा उनके पक्षके प्रभावसे अतिशय अभिभूत है । इस पक्षके सज्जन समझते होंगे कि, यदि फीरोजाबादमें अधिवेशन हो जा-

यगा, तो हम अपनी मनमानी कार्यवाही करके जीके फफोलोंको शान्त कर लेंगे और महासभाको एक विशिष्ट पथपर खींच लेजानेकी कोशिस करेंगे। इसलिये उन्होंने जी जानसे फीरोजाबादके अधिवेशनके लिये कोशिस की और श्रीमन्त सेठजीको इस बातके लिये लाचार किया कि, जैसे बने तैसे वे सभासदोंकी सम्मति लेकर यह कार्य सिद्ध करा देवें। इधर सेठोंकी मुख पत्रिका **रत्नमालाने** भी एक लम्बा चौड़ा लेख लिखकर फीरोजाबादका अधिवेशन मंजूर करानेकी कोशिश की। इन बड़े २ प्रयत्नोंमे इसमें सन्देह नहीं कि, फीरोजाबादका अधिवेशन निश्चित हो जाता, और वहां **मुजफ्फरनगरके** अधिवेशनमे भी बढ़कर आनन्द आये विना नहीं रहता, परन्तु दुर्भाग्यसे **बाबू अजितप्रसादजी वकील** इस बीचमें आ कुदे और उन्होंने रंगमें भंग कर दिया। लोग समझेंगे कि, उन्होंने यह कार्यवाही अपने निवासस्थान लखनौके मेलेमें महासभाका अधिवेशन करानेके लिये की होगी, परन्तु नहीं, लखनौके अधिवेशनकी अपेक्षा उन्हें महासभामें धींगाधींगी न होने देनेका अधिक ख्याल है। वे चाहते हैं कि, अब महासभा एक सुव्यवस्थित और नियमबद्ध संस्था हो जाय। उसमें नियमविरुद्ध कार्रवाइयां न हों। इसीलिये उन्होंने पिछले **मथुराके** मेलेमें जहां कि, सेठ पक्षकी धूमधाम थी, महासभाका अधिवेशन न होने पावे इस बातका भी प्रयत्न किया था। महासभाके सभापति दानवीर **सेठ माणिकचंन्दजीने** जो फीरोजाबादवालोंके तारों और पत्रोंके जबाबमें फीरोजाबादमें अधिवेशन करनेके विषयमें टालटूल बतलाई है और जैनमित्रमें प्रकाशित करवाया है कि, श्रीमन्त सेठ मेरे पत्रोंपर बिलकुल ध्यान नहीं देते हैं, इसलिये मैं सभापतित्वका

स्तीफा भेज देता हूं उससे साफ जाहिर होता है कि, वे फीरोजाबादके अधिवेशनमें महासभाका अनिष्ट देखते हैं। वे स्पष्ट रूपसे भले ही न कहें, पर उन्हें सेठ पक्षकी मनमानी कार्रवाईयोंका और उसका समाजके हितकी ओर जो दुर्लक्ष्य है, उसका जरूर भय है और श्रीमन्त सेठ जो सभापति महाशयकी लिखा पढ़ी पर ध्यान नहीं देते हैं, उसका कारण उनका प्रबल पक्ष मोह है। इससे कोई यह न समझ ले की, दानवीर सेठजी अथवा बाबू अजितप्रसादजी दूसरे पक्षके हैं, इसलिये वे सेठ पक्षके अभिमत अधिवेशनके विरोधी हैं। वे शिक्षित पक्षके अनुयायी अवश्य हैं परन्तु साथ ही वे यह भी चाहते हैं कि, महासभामें यह दस्सों बीसोंकी चर्चा ही न उठे और कुछ उपयोगी कार्य हों। और फीरोजाबादमें ऐसा होना असंभव सा प्रतीत होता है।

महासभाके विषयमें यह जो खींचातानी और धींगाधींगी हो रही है, इससे जितना खेद होता है, उतना ही बल्कि उससे भी अधिक इस बातका हर्ष होता है कि, अब उसे लोग कुछ महत्त्वकी वस्तु समझने लगे हैं। जबसे महासभा स्थापित हुई है, तबहीसे जैनसमाजमें एक दल ऐसा रहा है जिसने हमेशा उससे प्रतिकूलता धारण की है। महासभाके मेम्बर होना अथवा उसके साथ सहानुभूति रखना तो बड़ी बात है, स्वप्नमें भी इस दलके जीमें यह बात नहीं आई होगी कि, महासभासे जैनियोंका कल्याण होगा। पर आज वह दिन आ पहुंचा है—जैनसमाजमें इतनी प्रगति हो चुकी है, सभा पाठशालादि कार्योंकी ओर लोगोंकी इतनी रुचि बढ़ गई है कि, वह दल भी जो महासभाका कट्टर विरोधी था, अब इस

बातकी कोशिश करता है कि, हमारा एक अगुआ महासभाके सभापतिका आसन सुशोभित करे। हमारे मन्तव्य महासभाके द्वारा स्वीकार किये जावें और हमारे प्रतिपक्षियोंका महासभाके द्वारा शासन हो। महासभाकी क्या यह साधारण सफलता और लोकप्रियता है? महासभाका प्रबन्ध अच्छा नहीं है, अथवा उसके द्वारा प्रत्यक्षमें कोई काम नहीं होता है, यह दूसरी बात है; पर इसमें सन्देह नहीं कि, लोगोंमें उसका महत्त्व बढ़ता जाता है। उसका सभापति वा अधिकारी होना एक सौभाग्यका विषय समझा जाने लगा है।

हिन्दीमें इस समय सैकड़ों पत्र निकलते हैं, परन्तु उनमें भी ग्रेज्युएट सम्पादकों द्वारा चलनेवाले शायद ही एक दो पत्र हों। गतवर्ष जैनगजटके सम्पादनका कार्य जब श्रीयुक्त बाबू बनारसीदासजी, बी. ए., एल. एल. बी.ने स्वीकार किया तब हमको बड़ी ही प्रसन्नता हुई। हमने समझा कि, अब जैनसमाजके दिन कुछ अच्छे आये हैं—उसका मुखपत्र जैनगजट अब खूब चमकेगा। इस बातका भी हमको अभिमान हुआ कि, जैनियोंके गजटका सम्पादन अब एक ग्रेज्युएटके द्वारा होगा। परन्तु महासभाका कुछ भाग्य ही ऐसा है कि, उसके सम्बन्धसे सोना भी लोहा हो जाता है। ग्रेज्युएट सम्पादकको पाकर भी वह अपने मुख्य पत्रकी अवस्था उन्नत न कर सकी—उन्नत करना तो दूर रहा, जैसी थी वैसी भी न रख सकी। इस समय जैनगजट कभी दो सप्ताहमें, कभी तीनमें कभी चारमें और कभी इससे भी अधिकमें निकलता है। और जबसे वकील महाशयकी छत्रछायामें गया है, तबसे समयपर निकलनेकी

तो मानो उसने कसम ले ली है। सम्पादन भी ऐसी लापरवाहीसे होता है कि, कुछ पूछिये नहीं। हम नहीं कह सकते कि, बाबू बनारसीदासजीने क्या समझ कर इस कामका भार अपने ऊपर लिया था। यदि इस ओर लक्ष्य देनेको काफी समय उनके पास नहीं था, तो क्यों यह आपत्ति मोल ली। शिक्षितोंका यह कर्तव्य होना चाहिये कि, जो काम अपने ऊपर लेवें, उसे अपनी शक्ति भर अच्छा करके दिखलावें। किसी कामको आनरेरी समझ कर उसे जैसा तैसा कर देना—शिक्षितोंका काम नहीं। बल्कि आनरेरी कामोंको तो उन्हें और अधिक मुस्तैदी और खूबीके साथ करना चाहिये। जो लोग अपने ऊपर लिये हुए कामको आनरेरी समझ कर उसपर कम ध्यान देते हैं, पर आनरेरी होनेके कारण उससे यशकी आशा रखते हैं, वे भूलते हैं। समाजसे उन्हें कभी यश नहीं मिलता है—उल्टी निन्दा होती है। हमको विश्वास है कि, वकील साहब यदि पूरा २ ध्यान देवें और स्वयं कुछ परिश्रम करें, तो जैनगजटका ऐसा अच्छा सम्पादन हो कि, जैसा होनेका उसे कभी सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ। पर पूरा ध्यान देवें, तब न? जैनगजटकी दुर्दशाका सबसे बड़ा कारण उसका निजका प्रेस न होना और कहीं सम्पादन हो कर कहीं छपना है। इस कमीके कारण अच्छे २ सम्पादक भी निराश हो कर थक जाते हैं और उसको समय पर नहीं निकाल सकते हैं। यदि वे प्रेस खोलनेका इन्तजाम करते हैं, तो महासभाके मंत्री महाशय उसकी आज्ञा नहीं देते हैं। उन्हें भय रहता है कि, कहीं प्रेस खोला और उसमें कोई एकाध ग्रन्थ छप गया तो? उसके पापसे तो महासभा निगोदमें चली जायगी। हमारी समझमें अब या तो महासभाको निजका प्रेस खोल देना

चाहिये, या जैनगजटको बिलकुल ही बन्द कर देना चाहिये। बल्कि अब उसे खुल्लमखुल्ला छापेका पक्ष ले लेना चाहिये। क्योंकि विना छापेकी सहायतासे उसके विद्याप्रचारादिके सभी कार्य शिथिल हो रहे हैं। और यदि यह न करना हो, तो सेठ लोग महासभाको चाहते ही हैं, उन्हींके नामसे इसकी रजिष्ट्री करा देना चाहिये। वे कभी छापेका नाम भी नहीं लेंगे, और छपे ग्रन्थोंके प्रचारको रोक रोक कर जैनधर्मकी उन्नति करेंगे।

छापेके प्रश्नका विचार अब कर ही डालना चाहिये। इस समय जैन समाजमें जितनी काम करनेवाली संस्थाएं हैं, वे सब छापेके पक्षमें हैं। क्योंकि वर्तमान युगमें छापा उन्नतिके कामोंका प्रधान साधन बन रहा है। यदि नहीं है, तो एक श्रीमती जैनमहासभा। इस विषयमें वह आजसे १९ वर्ष पहिले जहां थी, वहीं इस समय भी है। परन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं है कि, उसके कार्यकर्त्ताओं और मेम्बरोंके विचार भी जहांके तहां हैं। नहीं, महासभाने जिन लोगोंके द्वारा थोड़ा बहुत समाजका कल्याण किया है और कर रही है, प्रायः सब ही छापेके सम्पूर्णतया अनुयायी हैं। इसके सिवाय समाजके विचारोंमें भी इस विषयसम्बन्धी आश्चर्यकारक क्रांति हुई है। तीन चतुर्थांशसे भी अधिक लोग छापेके अनुयायी हो गये हैं और शिक्षितोंमें तो प्रायः सब ही इसकी आश्चर्यकारिणी शक्तिके आगे सिर झुकाते हैं। केवल थोड़ेसे संकीर्ण हृदयके लोग इसके विरुद्धमें हैं, जो हस्ताक्षर कराने वा प्रतिज्ञा करानेरूप मिट्टीके बाँधसे इसके अनिवार्य प्रवाहको रोकनेका यत्र तत्र प्रयत्न करते हैं। ऐसी अवस्थामें जब कि बहुसमाज इसके अनुकूल है और शिक्षाप्रचारके साथ २ शेष लोगोंमें भी इसकी अनुकु-

लता बढनेका निश्चय है, तब महासभा इस उपयोगी साधनको काममें न लानेकी दिखावटी कसमको जो कि कुछ विघ्नसंतोषी लोगोंके शान्त रखनेके लिये की गई थी, क्यों नहीं तोड़ देती है? जब तक वह ऐसा न करेगी, तब तक उसके द्वारा समाजकी और धर्मकी जितनी सेवा होनी चाहिये, उतनी कभी नहीं होगी। इस कसमके तोड़नेमें प्रारंभमें थोड़े बहुत उपद्रव होंगे, परन्तु वे बहुत ही शीघ्र शान्त हो जावेंगे। प्रान्तिक सभा बम्बईने भी पहिले इस विषयकी चर्चा न करनेकी कसम ले रक्खी थी, परन्तु अब वह खुल्लमखुल्ला इस पक्षमें आ गई है।

दक्षिणमहाराष्ट्र जैनसभाका चौदहवां अधिवेशन।

गत ता० १ मार्चसे ६ मार्च तक इस सभाका अधिवेशन बेलगांवमें खूब उत्साह और समारोहके साथ पूर्ण हो गया। यह सभा बहुत ही नियमबद्ध और व्यवस्थित पद्धतिसे चल रही है। यद्यपि यह एक प्रान्तीय सभा है, तो भी इसका कार्य इसके सुशिक्षित और विचारशील संचालकोंके कारण बहुत ही सुन्दरतासे सम्पादित होता है। हमारी महासभाके समान धींगाधींगी और मनमानी कार्रवाईयां इसमें नहीं होती हैं। और यही कारण है कि, इस सभाने और सभाओंकी अपेक्षा शिक्षासम्बन्धी कार्योंमें बहुत सफलता प्राप्त की है! कोल्हापूरका जैन बोर्डिंग स्कूल, बेळगांवका सूबेदार बोर्डिंगस्कूल, हुबलीका जैन बोर्डिंग स्कूल और सांगलीका विद्यालय तथा बोर्डिंग इस तरह इस सभाके द्वारा चार तो विद्या संस्थाएँ स्थापित हो चुकी हैं और वे अच्छी तरहसे चल रही

हैं । प्रकृति आणि जिनविजय नामका मराठी साप्ताहिक पत्र बहुत उत्तमतासे सम्पादन हो कर निरन्तर समय पर प्रकाशित होता है, और एक जिनविजय नामका कनड़ी भाषाका मासिक पत्र भी निकलता है। इसके सिवाय तीर्थकमेटी, महिला परिषद आदि और भी कई काम इस सभाके द्वारा सम्पादन होते हैं।

बेलगांवके सुप्रसिद्ध वकील मि० चौगुले, B. A. L. L. B. ने चन्द्रप्रभ भगवानका एक नवीन मन्दिर बनवाया है। इसी मन्दिरके बिम्ब प्रतिष्ठाके महोत्सवके साथ २ सभाका वार्षिक अधिवेशन किया गया था। अबके अधिवेशनके सभापति स्याद्वाद वारिधि पूज्यवर पंडित गोपालदासजी चुने गये थे। सभापति महोदय ता०२९ फरवरीके प्रातःकाल बेलगांव पहुंचे। उनके साथ पं० धन्नालालजी काशलीवाल, न्यायाचार्य पं० माणिकचन्दजी, कुँवर दिग्विजसिंहजी, बाबू अर्जुनलालजी सेठी, बी. ए. सेठ रामचन्दनाथाजी सेठ हीराचन्द नेमिचन्दजी, आदि बहुतसे सज्जन थे। गाड़ीके स्टेशनपर पहुंचते ही उत्साही स्वयंसेवकोंने बन्दूकोंके ११ फैर करके अभिनन्दन किया और इसके पश्चात् खूब ठाट बाटसे स्वागत किया गया। पुष्पहार वा मालाएँ पहिनाई गईं। उस समय लोगोंमें विलक्षण आनन्दोत्साह था। पंडितजीके विषयमें जो लोगोंके हृदयमें भक्ति थी वह उनके चेहरोंपर झलक रही थी। बेलगांवके पहिले ही मिरज, गोकाक, पाचापुर, सुलधाल, मुलेभावी आदि स्टेशनोंपर भी पंडितजीका खूब स्वागत किया गया था। इससे मालूम होता है कि इस ओरके लोगोंके चित्तोंमें सभाके कार्योंसे सहानुभूति तथा स्नेह बहुत है। स्टेशनपर स्वागत हो चुकनेके बाद पंडितजी मोटरपर विराजमान किये गये और एक बड़े भारी जुलूसके साथ डेरेकी ओर प्रस्थानित

किये गये । आगे २ मनोहर बैंडबाजा बजता जाता था। शाहापुरके एक सुन्दर मकानमें पंडितजीको डेरा दिया गया । सभाके लिये मेचफैक्टरीकी दाहिनी ओर एक सुविशाल और दर्शनीय मंडप बनाया गया था और उसमें स्त्रियोंके बैठनेके लिये भी स्वतंत्र प्रबन्ध किया गया था । ता० १ मार्चके ढाई बजेसे सभाका कार्य शुरू किया गया । लगभग दो हजार मनुष्य सभामें उपस्थित थे । मंगलाचरणादिके पश्चात् स्वागत सभाके चेअरमेन मि० **चौगुले**, बी. ए., एल. एल. बी. का व्याख्यान हुआ और फिर मि० **अंकले** लेट. डिपुटी इनस्पेक्टरने पंडितजी महोदयका परिचय देकर उनसे सभापतिका आसन स्वीकार करनेकी प्रार्थना की । इसका समर्थन **सेठ हीराचन्द नेमिचन्द**जीने इस तरह किया कि दक्षिण जैनियोंकी सभाके सभापतिका आसन एक उत्तर प्रान्तके विद्वानको देनेके लिये प्रार्थना की जाती है, इसका कारण यह है कि, हमारे समस्त तीर्थंकर और प्रधान २ तत्त्वज्ञानी उत्तर भारतमें ही हुए हैं, इस लिये उत्तर प्रान्त हम सबके लिये अतिशय पूज्य हो गया है । ऐसे पूज्य प्रान्तके एक विद्वान और सन्मान्य गृहस्थको सभापतिके पदके लिये की हुई योजना किसे आनन्दप्रद न होगी? इसे दक्षिणवासियोंके पूर्व पुण्यका फल ही समझना चाहिये । इस विषयमें एक सज्जनने और भी समर्थन किया और पंडितजीने सभापतिका आसन सुशोभित किया । सभामंडप तालियोंके शब्दसे गूंज उठा । इसके पश्चात पंडितजीका व्याख्यान प्रारंभ हुवा । * व्याख्यान बहुत विस्तृत था, इस लिये उस दिन पूर्ण नहीं हो सका । शेषांश दूसरे दिन ता० २

---

* सभापति महोदयका व्याख्यान विस्तृत होनेके कारण पूर्ण नहीं पढ़ा गया और इस अंकके साथ बांटा गया है ।

को पूर्ण किया गया। उस दिन व्याख्यानके सिवाय सभाकी पिछली रिपोर्ट पढ़कर सुनाई गई और पास की गई। इसके सिवाय पांच प्रस्ताव और भी सर्वानुमतसे पास किये गये; जिनमें दो विशेष महत्त्वके थे—एकमें सम्राट महोदयने जो शिक्षा प्रचारके लिये ५० लाख वार्षिक द्रव्य देना स्वीकार किया है, इसके विषयमें कृतज्ञता प्रकाश की गई और आनरेबिल मि० गोखलेने जो* बलात् शिक्षा विषयक बिल पेश किया है; वह सरकारकी उदारतासे पास हो जायगा, ऐसी आशा प्रकाश की गई। और दूसरेमें बालकोंके हृदयमें धर्मतत्त्वोंका बीजारोपण करनेके लिये संस्कृत, मागधी आदि प्राचीन भाषाओंका ज्ञानकी वृद्धि करना, उच्च श्रेणीकी धार्मिक विद्याकी शिक्षा देनेवाली संस्थाओंकी और उनमें पढ़नेवाले विद्यार्थियोंकी सहायता करना; जैनधर्मके संस्कार रक्षित रखके व्यवहारोपयोगी शिक्षा देनेकी तजवीज करना आदि उत्तम उपायोंको काममें लानेकी प्रेरणा की गई। रातको कुंवर दिग्विजयसिंहजीको 'जैनधर्मका सौन्दर्य' पर और सभापति महोदयका 'राष्ट्रधर्म' पर व्याख्यान हुआ। दोनों ही व्याख्यान श्रोताओंको विशेष रुचिकर हुए।

ता० २ मार्चकी सभामें तीन प्रस्ताव पास हुए जिनमेंसे एक स्त्रियोंमें शिक्षाका प्रचार करनेके सम्बन्धमें था, दूसरा सभाका चन्दा वसूल करनेके विषयमें था और तीसरा 'श्रीबसवेश्वर' नामक नाटक जो कि जैनजातिका और जैनधर्मका तिरस्कार करनेवाला था, सरकारने बन्द कर दिया, इसके उपलक्षमें सरकारका आभार मानने और उसीके समान 'शंकर दिग्विजय' नाटकके बन्द करनेकी प्रेरणा करनेके विषयमें था। आज एक विशेष और महत्त्वका कार्य यह हुआ कि, श्रीयुत कल्लापा सांवरड़ेकर नामक विद्यार्थीको चित्रकला

* हम लोगोंके दुर्भाग्यसे यह बिल सरकारने पास नहीं किया। संपादक.

सीखनेको इटली भेजनेके लिये चन्दा किया गया और स्वामी **जिनसेनाचार्यने** विलायत गमनके लिये उसे अनुमति दे दी।

ता० ४ मार्चको चार साधारण प्रस्ताव पास हुए। आज सदर्न मराठा डिवीजनके कमिश्नर **मि० शेफर्डने** अपनी स्त्रीसहित सभाको सुशोभित किया। आपने कहा—जैनधर्म संसारके अतिशय पवित्र और शुद्ध धर्मोंमेंसे एक है। इसके अनुयायी शांतताप्रिय और सुधारणाशील हैं। इस सभाके उद्देश्य प्रशंसनीय हैं। इत्यादि। ता० ५ मार्चको पंडितजीका शरीर कुछ अस्वस्थ हो गया था, इसलिये सभाका कार्य न हो सका। **सेठ हीराचन्द नेमिचन्दजीके** सभापतित्वमें कुँवर **दिग्विजयसिंहजी** और **अर्जुनलालजी** सेठीके दो व्याख्यान हुए।

ता० ६ को यथा नियम सभाका कार्य शुरू हुआ। जैनियोंकी संख्या क्यों घट रही है, इस पर विचार करने और कार्यकारिणी समिति गठित करने आदिके सम्बन्धमें ६—७ प्रस्ताव हुए। दो प्रस्ताव विशेष महत्त्वके हुए--एकमें जैनधर्मकी छोटी २ पुस्तकें छापकर बहुत थोड़े मूल्यमें बेचनेके लिये एक कमेटी बनाई गई। और दूसरेमें भट्टारकोंको इस बातकी सूचना की गई, कि वे अपने मठकी आमदनी और खर्चका हिसाब प्रतिवर्ष छपाकर प्रकाशित करें। क्योंकि मठोंका द्रव्य सार्वजनिक द्रव्य है और उसका उपयोग ठीक होता है या नहीं। इस विषयमें लोगोंको सन्देह है। अन्तमें सभापतिका आभार मानकर सभाका कार्य आनन्द पूर्वक समाप्त किया गया।

इस सभाके जल्सेके साथ महिला परिषदका भी अधिवेशन उत्साहके साथ हुआ। पंडितजीके डेरेपर सभाके अतिरिक्त दूसरे

समयोंमें निरन्तर बहुतसे सज्जनोंका जमाव रहा करता था और शास्त्रीय चर्चा तथा शंका समाधानादि होते थे।

इस तरह द० म० जैनसभाकी यह बहुत ही संक्षिप्त रिपोर्ट समाप्त की जाती है।

यूरोपका धर्मविश्वास।

इस बातको यूरोप तथा अन्यान्य समस्त सभ्यदेशोंके विचारशील विद्वान स्वीकार करते हैं कि, धर्मविश्वासकी हानि होनेसे धर्मपर श्रद्धा न रहनेसे सामाजिक बन्धन शिथिल हो जाते हैं और समाजबन्धन शिथिल होनेसे धीरे २ जातिकी संघ शक्ति क्षीण हो जाती है, जिसका फल यह होता है कि, वह जाति अल्पकालमें ही अपने स्वातंत्रको खो बैठती है। इस समय यूरोपके बड़े २ पादरी और समाजपति इस चिन्तामें डूब रहे हैं कि, यूरोपके वर्तमान सभ्यसमाजमें धर्मविश्वासकी प्रबलता कैसे हो। बहुतोंका यह विश्वास है कि, आधुनिक विज्ञानचर्चाकी अधिकतासे ही विज्ञानशास्त्रके देशव्यापी प्रचारसे ही लोगोंके मनमें अविश्वासका भाव उत्पन्न हुआ है और विज्ञानशास्त्रकी ज्यों २ उन्नति होगी, त्यों २ धर्मश्रद्धाका निस्सन्देह ऱ्हास होगा। परन्तु अब यह बात शक्तिसे बाहर हो गई है और योग्य भी नहीं है कि विज्ञानचर्चा उठा दी जावे। जिस विज्ञानने यूरोपको संसारका शिरोमणि बनाया है, यूरोपवासी उस विज्ञानकी उन्नति करनेका प्रयत्न चाहे जितना कर सकते हैं, उसका गला घोंटना उन्हें कदापि पसन्द नहीं आ सकता। अतएव वहांके धर्माचार्य अब इस बातकी चेष्टा कर रहे हैं कि, बिज्ञानशास्त्रका पठन पाठन भी प्रचलित रहे और लोग कट्टर ईसाई भी बने रहें।

इस समय इस चेष्टासे यूरोपमें विलक्षण २ ग्रंथ प्रकाशित हो रहे हैं। इन ग्रन्थोंके मुख्य दो भेद किये जा सकते हैं। प्रथम रोमन कैथलिक धर्ममूलक ग्रन्थ और द्वितयि प्रोटेस्टेंट धर्म मूलक ग्रन्थ। इन दोनों धर्मोंकी युक्तियां और लेखन पद्धतियां जुदी २ हैं। रोमन कैथलिक ग्रन्थोंमें भी दो श्रेणियां हैं, एक जर्मनपद्धति और दूसरी आक्सफोर्ड पद्धति। इसी प्रकार प्रोटेस्टेंटोंकी भी दो पद्धतियां हैं एक पोपकी पद्धति और दूसरी फरासीसी पद्धति।

सबसे पहिले हम पोप विचार पद्धतिकी बात कहेंगे। पोप कहते हैं— " विज्ञान दृष्ट और लौकिक व्यापारोंकी आलोचना करता है और धर्म अदृष्ट तथा अलौकिक व्यापारोंका विचार करके विधिनिषेधकी रचना करता है। इसीलिये आप्तवाक्योंपर धर्मकी प्रतिष्ठा है। अर्थात् जो आप्तने कहा है, वही धर्म है। आप्त बाक्य प्रमाण—सापेक्ष नहीं हैं—उनके सत्यसिद्ध करनेके लिये प्रमाण ढूंढनेकी आवश्यकता नहीं है। वे स्वयंसिद्ध और अज्ञेयके ज्ञाता हैं। इससे लौकिकी विज्ञान विद्याके द्वारा अलौकिक व्यापारोंका पता लगाना ठीक नहीं—साइन्सकी लकड़ीसे धर्मका माप करना उचित नहीं। साइन्सका जो प्रयोजन है वह साइन्सके द्वारा ही सिद्ध होगा और इसीमें उसकी सार्थकता है। इसी प्रकारसे धर्मका जो प्रयोजन है, वह धर्मपंथका अवलम्बन करनेसे ही सिद्ध होगा और अवश्य होगा। इसीमें उसकी सार्थकता है। जो साइन्सकी सहायता से धर्मको जानना चाहता है—धार्मिक तत्त्वोंकी खोज करना चाहता है वह नास्तिक है। ऐसे नास्तिकोंको समाजमें नहीं रखना चाहिये।" पोपके इस उपदेशका प्रचार होनेसे फ्रान्समें एक विषम समाज विक्षोभ और धर्म विप्लव उपस्थित

हुआ है और इसका फल यह हुआ है कि, वहांकी गवर्नमेंट अब फ्रान्समें रोमन कैथलिक धर्म प्रतिष्ठित रखनेके लिये राजकोषसे धन व्यय नहीं करती है। परन्तु पोपकी उक्त पद्धतिका अनुसरण करके एक श्रेणीके लेखक कुछ अपूर्व ही प्रकारके धर्मग्रन्थोंकी रचना करनेमें दत्तचित्त हो गये हैं। और उक्त ग्रन्थ ऐसे प्रभावशाली हुए हैं कि, उनके आलोचन तथा मननके प्रभावसे जर्मनीके शिक्षितोंकी विचार तरगें एक नवीन ही पथपर अग्रसर हुई हैं।

आक्सफोर्डके पंडितोंने इससे एक विपरीत ही पथका अवलम्बन किया है। वे कहते हैं कि,—"साइन्सने जिन २ बातोंका आविष्कार किया हैं, वे सर्वथा सत्य है—उनमें सन्देहके लिये स्थान नहीं है। इसलिये यदि धर्म सत्य और अभ्रान्त होगा, तो वह साइन्स प्रतिपादित सत्य बातोंकी सीमासे बाहिर नहीं जा सकेगा।" इतना तो सबको ही मान्य है। जो कुछ झगड़ा और वितण्डा है वह इसके आगे है। मेरी (ईसाकी माता) की चिरकाल तक कुमारी रहने और इसको जन्म देनेकी कथा, ईसाके मर जाने और फिर जी उठनेकी कथा, अनादिकाल व्यापी दंडकी और स्वर्गके भोगोंकी कथा, इसी प्रकार और भी बाइबिलमें लिखी हुई अप्राकृत अस्वभाविक घटनाओंकी कथाएँ आधुनिक साइन्सकी सहायतासे सत्य प्रतीत नहीं होती हैं। बल्कि पुरातत्त्वकी आलोचनासे यह एक प्रकारसे स्थिर ही हो गया है कि, Old testament (पुराना करार) नामक पुस्तक नहीं है—एक समय लिखी हुई नहीं है, और उसमें ऐतिहासिक सत्य भी नहीं है। इन सब विषमताओंको—गड़बड़ोंको दूर करनेके उद्देशसे जर्मनीके ईसाइयोंने बाइबिलकी आध्यात्मिक व्याख्या करनेका आरंभ किया है। वे बाइबिलकी आदि पुस्तक

परसे जो कि हिब्रू भाषामें है, नूतन अनुवाद करते हैं—अर्थात् एक अभिनव बाइबिलकी रचना करनेके लिये उद्यत हुए हैं। गरज यह कि, वे जो बाइबिल प्रकाशित करते हैं, वह पुरातन बाइबिलके अनुरूप नहीं है। इस उद्योगमें एक नई बातका पता लगा है। वह यह कि ईसाई धर्म जूम धर्मके साथ बौद्ध धर्मके संमिश्रणका परिणाम है। जर्मनीकी पंडित मण्डलीमें यह बात अब ऐतिहासिक सत्यरूपसे मानी जाने लगी है। इसमें किसीको कुछ भी सन्देह नहीं रहा है। इसीसे जर्मनीके बहुतसे विद्वान बौद्धधर्म ग्रहण करने लगे हैं। वे कहते हैं कि, बौद्धधर्म आधुनिक विज्ञानके सिद्धान्तोंसे अविरुद्ध है। यदि हम यह कहें कि, उसमें अलौकिक बातोंका अति प्राकृत घटनाओंका समावेश ही नहीं है, तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी।

इंग्लेंडका आक्सफोर्ड सम्प्रदाय कुछ बातें जर्मन पद्धतिकी और कुछ पोपके आदेशोंकी ग्रहण करके उनमें सामञ्जस्य (औचित्य) घटित करनेकी चेष्टा कर रहा है। वह कहता है—" बाइबिलमें जो सब उपदेश लिखे हैं, वे सर्वकालीन सर्व जातियोंके लिये उपयोगी हैं। वही बाइबिलका धर्म है। इस धर्ममतको ईसा और उसके अनुयायी जो आकार दे गये हैं—जिस रूपमें संगठितकर गये हैं, वही ईसाई धर्म है। देश काल और पात्रके अनुसार धर्मका जो आकार जो स्वरूप इंग्लेंडमें जितना परिवर्तित हुआ है, वह इंग्लेंडके लिये उपयोगी है। वही हमारे लिये प्रतिपाद्य और अनुसरणयोग्य है।" इसके साथ २ उसने (आक्सफोर्ड सम्प्रदायने) जर्मनीकी आध्यात्मिक व्याख्याका भी कुछ अंश ग्रहण किया है। इस आक्सफोर्ड पद्धतिका कुछेक अनुसरण करके 'मारी कोरेली'

ने The Christian नामक ग्रन्थकी रचना की है और आध्यात्मिक व्याख्यांश ग्रहण करके उन्होंने Soul of Libith और Barabbas नामक दो उपन्यासोंकी भी रचना की है। ईसाई धर्मको विज्ञान-विदग्ध यूरोपमें किस प्रकारसे फिर प्रतिष्ठित करना होगा, इसीका मार्ग इन उपन्यासोंमें दिखलाया गया है।

इंग्लेंड और युरोपके समस्त स्वाधीन देशोंमें विद्यार्थियोंको बालकपनसे ही धर्मकी शिक्षा दी जाती है। उन्हें प्रतिदिन उपासना भी सिखलाई जाती है। तो भी नास्तिकताका प्रसार खूब जोर शोरके साथ होता जाता है। यह नहीं कि. केवल नास्तिकता की ही वृद्धि होती हो। नहीं, साथ ही साथ बहुत लोग अन्धविश्वासी भी होते जाते हैं। जो लोग आस्तिक हैं, वे जिन सब बातोंमें अटल विश्वास रखते हैं, उन्हें सुनकर हँसी आती है। कोई कुछ निश्चय नहीं कर सकता है, तो रोमनकेथिलिक हो जाता है। कोई थियोसोफिष्ट स्पिरिचुआलिष्ट आदि नाना प्रकारके उपधर्मोंको स्वीकार करता है। और तो क्या भारतवर्षके तांत्रिक धर्मकी चर्चा भी यूरोप और मार्किनमें खूब जोरसे चल रही है। ऐसा मालूम होता है कि समाज धर्म किसको कहते हैं? धर्मकी आवश्यकता क्या है, धर्मका विनियोग कहां और कैसे होता है: इन सब बातोंको यूरोप भूल गया है। इस धर्मविप्लवके विषयमें इस समय केंटरबरीके आर्च बिशपसे लेकर सामान्य पादरीतक चिन्तित हैं। प्रायः सबहीका यह विश्वास होता जाता है कि, यूरोपमें एक विराट धर्मविप्लव होगा। यह विप्लव जिससे विषम आकार धारण न करने पावे और समाज शरीर को विध्वस्त न कर सके, इसके लिये प्रायः सब ही विचारशील पुरुष जी जानसे प्रयत्न कर रहे हैं। ईसाई पादरी यहां विदेशोंमें

तो ईसाई धर्मका प्रचार कर रहे हैं, परन्तु उनके स्वदेशमें तो ईसामशीहको ही देशनिकाला दिया जा रहा है. यह बात जानकरके भी बेचारे कुछ प्रतीकार नहीं कर सकते हैं।

वर्तमानमें विलायतके एक उच्च पदाधिकारी पादरीने इन सब बातोंको लेकर एक बड़े भारी ग्रन्थकी रचना की है। यह ग्रन्थ इतने महत्त्वका है कि, उसका थोड़े ही दिनोंमें जर्मन भाषामें अनुवाद हो गया है और उसके आधारसे इंग्लेंड और जर्मनीके धार्मिक पत्रोंमें बीसों लेख प्रकाशित हो चुके हैं। इस ग्रन्थके जोड़का एक और स्वतंत्र ग्रन्थ डाक्टर रेंचने लिखा है। आप कहते हैं कि—यूरोप चाहे जितनी चेष्टा क्यों न करे, जातिके हिसाबसे उसका अधःपतन अवश्यंभावी है—वह नीचे गिरे विना नहीं रहेगा। इस पुस्तकका नाम है The Mistery of Life इसमें आपने अनेक प्रमाण देकर सिद्ध किया है कि, चीन, प्राचीन मिसर, और हिन्दू आदि जातियां स्थितिके जिस मूलमंत्रसे चिरजीवी हुई हैं, वह यूरोपमें नहीं है। विलास और व्यक्तिगत स्वातंत्र्यके कारण यूरोप नष्ट होगा। केवल ईसाई धर्मका दृढ श्रद्धानी बना देनेसे यूरोप नहीं टिकेगा; टिकेगा तो प्राचीन कालके अनुसार एक स्वामीके शासनाधीन समाज पद्धति चलानेसे टिकेगा। इस सिद्धान्तका प्रतिवाद करनेके लिये अनेक विद्वान कटिबद्ध हुए हैं। शीघ्र ही कोई नया ग्रन्थ इसके प्रतिवाद स्वरूप प्रकाशित होगा। *

नोट—यूरोपका धार्मिक विश्वास विज्ञान वा साइन्सके सिंहनादसे किस प्रकार पलायोन्मुख हो रहा है और वह जहांका तहां स्थिर बना रहे—पलायन नहीं करे; इसके लिये वहांके पादरी कैसे २

* बंगला साहित्यकी फाल्गुणकी संख्यामें प्रकाशित हुए एक लेखका अनुवाद।

आयोजन कर रहे हैं, पाठकोंको इस बातका थोड़ा बहुत परिचय लेखसे हो जायगा। और यदि अच्छी तरहसे विचार किया जाय, तो इस बातका भी ज्ञान हो जायगा कि, इस समय जैनियोंका कर्त्तव्य क्या है। हमारी समझमें जिन लोगोंको इस बातका अभिमान है और पक्का विश्वास है कि, जैनधर्म और साइन्स परस्पर अनुयायी हैं—साइन्सके सिद्ध किये हुए पदार्थ जैनधर्मसे विरुद्ध नहीं जाते हैं और जैनधर्मके पदार्थ साइन्सके अनुकूल हैं, उन्हें इस समय चुप नहीं रहना चाहिये—कुछ पुरुषार्थ करके दिखलाना चाहिये। जिन लोगोंकी श्रद्धा ईसाई धर्मसे उठकर बौद्ध थियोसोफिष्ट आदि मतोंपर जा रही है—उन्हें जैनधर्मकी उदार और शीतल छायामें विश्राम करनेके लिये आह्वान करनेका प्रयत्न करना चाहिये। जैनधर्मकी पताका दूसरे देशोंमें उड़ानेके लिये इससे अच्छा अवसर और कब आवेगा? इसके लिये दश बीस ग्रेज्युएटोंको जो कि साइन्सकी उच्च श्रेणीकी शिक्षा पाये हों, जैनधर्मके विद्वान् बनाना चाहिये और दश बीस जैनधर्मके पंडितोंको अंग्रेजीकी और साइन्सकी उच्च शिक्षा देना चाहिये; फिर इस तरह जो विद्वान् हो जावें, उन्हें युरोपमें उपदेश देने और जैनधर्मके प्रचारका उद्योग करनेको भेजना चाहिये।

समाजके शिक्षितोंको विशेष करके भारतजैनमहामंडलको इस ओर ध्यान देना चाहिये और फिलहाल कमसेकम अंग्रेजीमें कुछ जैनग्रन्थोंके अनुवाद करनेका और अंग्रेजीके प्रतिष्ठित पत्रोंमें जैन फिलोसोफीके लेख प्रकाशित करानेका प्रयत्न करना चाहिये।

शान्तिके विज्ञापनमें अशान्ति ।

पाठकोंने रानीवालोंकी ओरसे प्रकाशित हुए 'सत्यकी जय' शीर्षक विज्ञापन पढ़ा होगा । यह विज्ञापन निकाला तो गया है शान्तिके लिये, परन्तु बहुत कम आशा है कि, इससे शान्ति फैले । क्योंकि इसमें अपने पक्षकी जीत सिद्ध करनेकी कोशिश की गई है और साथ ही दूसरे पक्षवालोंको दो चार उलटी सीधी सुना दी गई है । सुलह करनेकी पद्धति यह नहीं है । यह एक अन्याय है । यदि दूसरे पक्षवाले इस विज्ञापनके विषयमें कुछ कहेंगे तो रानीवाले कह देंगे कि, हम क्या करें, वे शान्ति नहीं चाहते और फिर उपद्रव मचाना शुरू कर देंगे । परन्तु अपनी करतूत नहीं देखते कि, हम क्या कर रहे हैं ।

उक्त विज्ञापनमें लिखा है कि, 'पंडितजी अपनी भूल इन लफ्जोंमें स्वीकार करते हैं, इस प्रकार बाबू सूरजभानजीने हस्तिनापुरमें कहा था । परन्तु यह बात बिलकुल झूठ है । पंडितजीसे न कोई भूल हुई है और न उन्होंने स्वीकार की है । वे तो लोगोंकी भूल बतलाते हैं, जिन्होंने उनके इजहारोंका कुछका कुछ अर्थ समझ लिया और इसका वे खेद प्रगट करते हैं । देहलीमें जो पंडितजीकी ओरसे सूचना प्रकाशित हुई थी, उसमें उन्होंने स्पष्ट लिखा है कि मैंने तीर्थंकरोंकी शानमें कोई अनुचित शब्द नहीं कहे, मैं तीर्थंकरोंको विशुद्ध कुलोत्पन्न और परमपूज्य मानता हूं । जो शब्द तीर्थंकरोंको दूषित करनेवाले हों, उनका कहना मैं अनुचित समझता हूं । मेरे इजहारका सारांश वाक्य तीर्थंकरोंपर दूषण लगानेवाला नहीं है । कुछ महाशयोंने उसको तीर्थंकरोंपर दूषण लगानेवाला समझ लिया है, इसका मुझे हार्दिक दुःख है । पाठक सोचें कि, इसमें पंडितजीने क्या भूल स्वीकार की है ?

हस्तिनापुरमें झगड़ा तय हो जानेकेबाद उसे फिर उकसानेका दोष गोपालदासजीकी पार्टीके लेखोंपर मढ़ा गया है। परन्तु यह विज्ञापनदाता महाशयकी सफेद झूठ है। हस्तिनापुरके बाद यह मामला फिर कभी नहीं उठता। यदि आगरेके मेलेमें रानीवालोंकी ओरसे फिरसे उकसानेका प्रयत्न न किया जाता। इस ओरका लेख उस समय आगरेमें बांटा गया है, जब पंडितजीको बहिष्कार करनेके लिये लोगोंसे हस्ताक्षर कराये जाने लगे थे।

अन्तमें 'अशान्तिकी जड़ किस ओर है' इस लेखको जैनगजटमें लिखनेके अपराधमें विश्वंभरदासजी गार्गीयको उलटी सीधी सुनाई हैं और पंडित गोपालदासजीको उपदेश दिया है कि, वे ऐसे पुरुषोंसे बचें। जैनगजटके उक्त लेखको जाति मात्रको गालियां देनेवाला और सत्यका खून करनेवाला कहा है, पर हमने तो उसमें कोई वाक्य ऐसा नहीं देखा जिससे यह बात मालूम हो सके और इसका सुबूत यही है कि, यदि वह वास्तवमें ऐसा होता जैसा कि आप कहते हैं, तो जैनगजटके सम्पादक महाशय जो कि आपके अनुयायी हैं, उसे कभी प्रकाशित नहीं करते। और जब आप इस झगड़ेको शान्त ही करना चाहते हैं, तब एक सज्जनके जीको इस प्रकारके अपमान जनक शब्द लिखकर दुखानेकी आपने क्या आवश्यकता समझी?

उक्त विज्ञापनका शीर्षक जो 'सत्यकी जय' है, वही कह रहा है कि, मैं रानीवालोंकी जय प्रगट करनेके लिये निकला हूं, कोई झगड़ा शान्त करनेके लिये नहीं निकला। मालूम होता है—सत्य शब्दका अर्थ रानीवालोंका पक्ष है। उनके पक्षसे पृथक कोई सत्य नहीं है।

अन्तमें मैं स्पष्ट शब्दोंमें प्रगट कर देना चाहता हूं कि, मेरी इच्छा यह कदापि नहीं है कि, यह झगड़ा फिरसे उकसाया जाय। मैं हृदयसे चाहता हूं कि, इसकी यहीं शान्ति हो जाय और लोग इस व्यर्थके प्रपंचमें उलझे न रहकर अपनी शक्तियोंको अच्छे कामोंमें लगावें। परन्तु मुझे विश्वास नहीं होता है कि, ऐसे विज्ञापनोंसे यह उपद्रव शान्त हो जायगा। अभीतक इन सत्य पक्षवालोंके हृदय साफ नहीं हुए हैं। इसलिये मैं ने यह सूचना करना उचित समझा शान्ति संस्थापकोंको इस ओर ध्यान देना चाहिये।

उचित वक्ता।

विविध विषय।

दैनिक भारतमित्र—जिस हिन्दीके बोलनेवाले आठ करोड़से उपर हैं और जो भारतकी राष्ट्रभाषा बननेका दावा करती है, उसमें दैनिक समाचारपत्रका अभाव बहुत ही खटकता था। हर्षका विषय है कि, कलकत्तेका 'भारतमित्र' अब इस अभावकी पूर्ति कर देनेके लिये कटिबद्ध हुआ है। अभी दरबारके समय डेढ़ महीनेके लिये जो उसने दैनिक रूप धारण किया था, उसकी प्रायः सभी पढ़े लिखोंने प्रशंसा की है। दैनिकके लिये कलकत्ता स्थान भी बहुत उपयुक्त है। चैत्र शुक्लासे उसका दैनिक संस्करण प्रकाशित होने लगा। दैनिकका वार्षिक मूल्य कलकत्तेमें छह रुपया और बाहिर दश रुपया है। हिन्दी प्रेमियोंको चाहिये कि, अपनी भाषाके इस एक मात्र दैनिकके ग्राहक बनकर हिन्दीका गौरव बढ़ावें।

जैनियोंकी संख्यामें कमी—गतवर्षकी मनुष्यगणनाका जो संक्षिप्त विवरण हाल ही प्रकाशित हुआ है, उससे मालूम होता है कि, जैनियोंकी संख्या जो १९०१ की गणनाके अनुसार १३, ३४,१४८ थी, वह घटकर १२.४८,१८२ रह गई है। अर्थात दश वर्षमें ८५,९६६ की घटी हुई है। जैनियोंके लिये यह बड़ी भारी चिन्ताका विषय है। जब सनातनधर्मियोंकी हजार पीछे ४९, आर्यसमाजियोंकी ९,६४४, ब्रह्मसमाजियोंकी ३५९, और सिक्खों-की ३७३ वृद्धि हुई है, तब जैनियोंकी ६४ हानि हुई है। पाठकोंको मालूम होगा कि, जैनियोंकी संख्या १९०१ की गणनामें भी पिछली १८९१ की गणनासे इसी प्रकार कम हुई थी। जब प्रति दश वर्षमें प्रति सहस्र ६४ की कमी हो जाती है, तब प्रत्येक बुद्धिमान समझ सकता है कि, जैनजातिका अस्तित्व कितनी जल्दी लुप्त हो जायगा। प्रत्येक जातिहितैषीको इस विषयपर विचार करना चाहिये। यह जीवन मरणका प्रश्न है। क्या कारण है जो अन्य सब जातियोंकी वृद्धि हो रही है, और जैनियोंकी हानि हो रही है? और हानि भी कितनी सौमें ६॥ मनुष्य! यदि इसी तरह बराबर कमी होती रही, तो, केवल डेढ़सौ वर्षमें जैनजातिका संसारमें नाम ही नहीं रहेगा। बहुतसे भाई इस कमीका कारण यह बतलाते हैं कि, मनुष्यगणनाके समय जैनी अपनेको हिन्दुओंमें लिखा देते हैं। परन्तु हमारी समझमें यह कारण ठीक नहीं है। क्योंकि यह भूल १९०१ की मनुष्य गणनामें भी तो हुई होगी। बल्कि इन दश वर्षोंमें जैनि-योंमें धार्मिक आन्दोलन बहुत अधिक हुआ है। जिससे पिछली मनुष्यगणनाकी अपेक्षा इस मनुष्यगणनामें जैनियोंने अपनेको जैनी विशेषताके साथ लिखवाया होगा। इसी प्रकारसे प्लेगादि

कारण भी इस घटीके नहीं हो सकते हैं। क्योंकि ऐसा कोई नियम नहीं है कि, प्लेग जैनीयोंको ही विशेषरूपसे आक्रमण करता हो। तब इसके कारण बहुत ही गूढ़ और विचारणीय होंगे। हम आशा करते हैं कि महासभा और जैनमहामंडल अपने अधिवेशनोंमें इस विषयमें खास तौरपर विचार करेंगे। समाचारपत्रोंमें भी इसकी चर्चा होनी चाहिये। हर्षका विषय है कि, दक्षिण महाराष्ट्र जैन-सभाने अपने इस अधिवेशनमें इस विषयपर बहुत चर्चा की है।

रत्नमालाका दर्शन—दृष्टिदोषके भयसे स्याद्वादीके संरक्षक तो स्याद्वादीको घरमें ही छुपाये रहे—अभीतक उसे बाहिर नहीं निकलने दिया, पर इधर उसके पीछे जन्म लेनेवाली सहयोगिनीके तीन चार वार दर्शन हो गये। सहयोगिनीके जन्मदाताओंको बधाई है। जैनपताकाके बाद इधर कुछ समयसे सहयोगिनीका स्थान खाली था और अनेक सहयोगियोंके बीचमें यह कमी बहुत खटकती थी। अच्छा हुआ कि इसकी पूर्ति हो गई। सहयोगि-नीका जन्म बड़े घरोंमें हुआ है, बड़े २ धनिकोंकी उसपर सुदृष्टि है। आर्थिक चिन्ता उससे कोसों दूर है। इससे आशा है कि, वह समाजको अपने पुनीत दर्शनोंसे निरन्तर ही प्रसन्न किया करेगी।

दो हजार वर्षकी पुरानी मूर्तियां—सहयोगी जैनमित्रमें जो कटकके पासके उदयगिरि खंडगिरि तीर्थोंका वृत्तान्त प्रकाशित हुआ है। इससे मालूम होता है कि. वहांकी हाथीगुफामें जो दिगम्बर जैनप्रतिमाएं हैं। वे मौर्यसंवत् १६९ की अर्थात् इस्वी सन्से १५२ वर्ष पहिलेकी प्रतिष्ठित की हुई हैं। कलिंगदेशके **खारावेल** नामक जैनराजाके समयमें उक्त प्रतिमाएं स्थापित हुई थीं। ऐसा वहांके एक शिलालेखसे मालूम होता है। वहांके अन्यान्य लेखोंसे यह भी

पता लगा है कि, जिस उड़ीसा और बंगाल प्रान्तमें इस समय जैनधर्मका लोप हो गया है, वहां पहिले जैनधर्मका खूब जोर शोर था। वहां बहुतसे राजा भी जैनी हुए हैं। जैनधर्मके प्राचीन वैभवका इतिहास ऐसे न जाने कितने पर्वतों और गुफाओंमें छुपा हुआ पड़ा है। न जाने जैनी उसे कब प्रकाशमें लानेका प्रयत्न करेंगे।

बंगालमें जैनधर्म—का परिचय और प्रचार करनेके लिये जो बंगीय सार्व धर्मपरिषद स्थापित हुआ है, हर्षका विषय है कि, उसकी ओर जैनसमाजका चित्त आकर्षित हुआ है। थोड़े ही दिनोंके प्रयत्नसे उसको जो सफलता प्राप्त हुई है, उससे इस बातका अच्छी तरहसे अनुमान होता है कि, समाजमें नई जागृती उत्पन्न हो गई है और लोग नई पद्धतिके अनुसार जैनधर्मके प्रचार करनेकी आवश्यकता समझने लगे हैं। उनके पुराने खयाल बदलते जा रहे हैं और एक ऐसे जनसमूहका उत्थान हो रहा है, जो थोड़े ही समयमें कुछ-करके दिखलानेको समर्थ हो सकेगा। इन थोड़े ही दिनोंमें बंगीय परिषदको लगभग (१५००) की सहायता मिल चुकी है और बहुत लोग सहायता देनेका वचन दे रहे हैं। यहांपर हम बम्बईके शेठ नाथारंगजी गांधीकी प्रशंसा किये विना नहीं रह सकते जिन्होंने परिषदको लगभग १०००) की सहायता देकर उपकृत किया है। नाथारंगजीके परिवारसे इस समय विद्योन्नतिके कार्योंमें जैसी सहायता मिलती है, वैसी शायद ही किसी जैनपरिवारसे मिलती हो। समाजके कोट्याधिशोंको आपका अनुकरण करना चाहिये। यदि आपके समान अन्य धनिक गण अपने द्रव्यदानका प्रवाह विद्याकी ओर बदल दें, तो थोड़े ही दिनोंमें जैनधर्मकी विजयपताका फहराने लगे। परिषदको दो अच्छी सहायताएँ और मिली हैं, एक कलक-

त्तेके बाबू धन्नूलालजी अटर्नीसे—आपने एक बंगला ट्रेक्ट छपाना स्वीकार किया है, जिसमें सौ या डेढ़सौ रुपया लगेंगे और दूसरी शोलापुरके शेठ बालचन्द रामचन्दजीसे—आप परिषदको प्रति-वर्ष १०१) की सहायता दिया करेंगे। इनके सिवाय लगभग ४५०) के और फुटकर सहायताएँ मिली हैं। परिषदके मंत्री महाशय काशीमें एक पुस्तकालय खोलनेकी बड़ी भारी आवश्यकता बतला रहे हैं और उसके लिये किसी एक दानीसे सिर्फ ५००) चाहते हैं। इस पुस्तकालयमें बंगला तथा हिन्दीके अखबार मंगाये जावेंगे और उत्तमोत्तम पुस्तकें रक्खी जावेंगी। जिनके पढ़नेके लिये बंगाली सज्जन आवेंगे और उस समय उन्हें जैनधर्मका परिचय कराया जावेगा।

सहायता 'पं० पन्नालालजी बाकलीवाल भेलूपुरा बनारस सिटीके' पतेसे भेजना चाहिये।

हर्ष समाचार।

सर्व सज्जन विद्याप्रेमी महाशयोंकी सेवामें निवेदन है कि, बुन्देलखंडके मुख्य शहर ललितपुरमें अति रमणीक व सुन्दर स्थान क्षेत्रपाल पर **श्रीअभिनन्दन दिगम्बर जैन पाठशाला** स्थापित हुई है, जिसमें उच्च कोटिकी धार्मिक व लौकिक शिक्षा दी जाती है। संस्कृतके साथ साथ अंग्रेजी भी पढ़ाई जाती है। बाहरसे आए हुऍ विद्यार्थियोंके लिए खान, पान, रहन, सहन, का भी अति उत्तम प्रबंध है। और हमको इस बातका अभिमान है कि, जैनियोंकी जितनी संस्थाएं हैं उन सबमें स्वास्थ्य और स्थानकी अपेक्षा इस

पाठशालाका स्थान क्षेत्रपाल उत्तम है। इस स्थानपर कमसेकम २०० विद्यार्थी अति सुगमतासे विद्याध्ययन कर सकते हैं और ऐसी ही आशासे इस पाठशालाका मुहूर्त किया गया है। सर्व भाईयोंको और खासकर बुन्देलखण्डके भाइयोंको इस पाठशालाकी ओर ध्यान देना चाहिये, इसके कोषकी वृद्धि करना चाहिए और हिन्दीमें अच्छी योग्यता रखनेवाले तीक्ष्णबुद्धि विद्यार्थियोंको विद्वान पंडित बनानेके लिए इस पाठशालामें भेजना चाहिए।

इस पाठशाला सम्बन्धी समस्त पत्रव्यवहार श्रीयुत सेठ मथुरादासजी ललितपुरके नामसे करना चाहिये।

दयाचन्द्र जैन बी. ए.

पुस्तक-समालोचन।

पत्नीधर्म संग्रह—गिरिधरलाल शर्मा बहुगुण द्वारा संग्रहीत और अनुवादित। २० पृष्ठोंकी इस छोटीसी पुस्तकमें व्यास, दक्ष, शंख, वसिष्ठ, गौतम, कात्यायन, पाराशर, अत्रि, याज्ञवल्क्य, और मनुकी स्मृतियोंमें स्त्रियोंके सदाचार सम्बन्धी श्लोक संग्रह किये गये हैं और नीचे उनका हिन्दी अनुवाद दिया हुआ है। यदि इसमें पतिके मरनेपर स्त्रीको अग्निमें भस्म हो जाना चाहिये, जो ऋतुस्नात स्त्री पतिसे संभोग नहीं करती है, वह नरकको जाती है और बार २ विधवा होती है। ब्रह्माने अपनी देहके दो खंड करके एकसे पुरुष और एकसे स्त्री बनाई, इत्यादि पुराने मिथ्याविश्वासके श्लोक न संग्रह किये जाते, तो अच्छा होता। ऐसी शिक्षाओंसे अब स्त्रियोंका कल्याण नहीं हो सकता है। पुस्तक भरमें यह कहीं भी नहीं लिखा कि, पढ़ना लिखना भी स्त्रियोंका धर्म है।

कविरत्नमाला, प्रथमभाग— जोधपुर निवासी मुंशी देवी-प्रसादजी मुन्सिफ द्वारा लिखित। इसमें राजपूतानेके १०८ हिन्दी कवियोंका परिचय और उनकी कविताका नमूना दिया गया है। परिचय बहुत ही संक्षिप्त है तो भी इसके लिये हमें मुंशीजीको धन्यवाद देना चाहिये। क्योंकि उनके परिश्रमसे हिन्दी जाननेवालोंको ऐसे २ कवियोंकी कविता पढ़नेको मिली, जिनका कभी नाम भी नहीं सुना था। कोई २ कविता बहुत ही अच्छी है। कई पद्योंसे बहुतसी ऐतिहासिक बातोंका ज्ञान होता है।

आत्मसुधार—बाबू वृन्दावनलालजी वर्मा, गुदरी, झांसी लिखित। इस छोटीसी ४१ पृष्ठकी परन्तु महत्त्वपूर्ण पुस्तकको पढ़कर हम बहुत प्रसन्न हुए। हिन्दीमें ऐसी पुस्तकोंकी बहुत बड़ी जरूरत है। एक अंग्रेज विद्वानके लिखे हुए अंग्रेजी निबन्धका आशय लेकर इसकी रचना की गई है। भाषा परिमार्जित और सरल है। ऐसा नहीं मालूम होता है कि, किसी दूसरी भाषासे अनुवादित की गई है। इसमें आत्मसुधार अर्थात् अपना सुधार करनेके तत्त्व बतलाये गये हैं। पढ़कर वा रटकर प्राप्त की हुई विद्यासे स्वयं उपार्जित की हुई विद्याका महत्त्व बहुत अधिक है। रटन्तके द्वारा विषयको गलेके नीचे न उतारकर मस्तकमें चढ़ाना चाहिये। आत्मशिक्षा ही सच्ची शिक्षा है। जो दूसरोंके द्वारा जबर्दस्ती गलेमें ठूंसी जाती है, वह दूर भी बहुत जल्दी हो जाती है। जिस तरह अध्ययनसे मन सुधरता है, उसी तरह कामसे शरीर सुधरता है। श्रम न करना प्रकृतिके नियमके विरुद्ध है। **शरीर अच्छा हो, तब मन अच्छा रह सकता है और मन अच्छा हो, तब ही सच्चा आनन्द मिलता है। शारीरिक परिश्रम नहीं**

करनेवाले पुरुषोंका चरित्र कभी शुद्ध नहीं रह सकता है। असन्तुष्ट दुखी निकम्मे निराश और उदासचित्त विद्यार्थियोंके सुधारनेकी एक मात्र औषधि शारीरिक श्रम और व्यायामकी पाबन्दी कड़ाईके साथ करना है। लगातार परिश्रम करनेसे असाध्य कार्य भी साध्य हो जाते हैं। मनुष्यको श्रेष्ठता श्रमके बदलेमें मिलती है—योंही पड़े पड़े नहीं मिल जाती। किसी भी कामके पूरा करनेके लिये दृढ़ प्रतिज्ञा, अटल इच्छा, अचल पुरुषार्थ और असीम साहस चाहिये। जो कुछ पढ़ो, ध्यानसे पढ़ो। धुंधला ज्ञान किसी कामका नहीं। एक साथ जल्दी २ तरह २ की किताबोंके पढ़नेसे दिमाग कमजोर हो जाता है। और रोगोंके समान किताबें पढ़नेका भी एक रोग है। सदा काममें लगे रहनेसे बड़ा आनंद आता है। घुल घुलकर मर जाना बहुत अच्छा, पर जंग मोर्चा खाकर मरना बहुत ही निकृष्ट है। दिमागमें ढेरकी ढेर विद्याका रखना और सदुपयोग न करके उसका घमंड करना वैसा ही है, जैसे किसी कुलीका भारी बोझ लादकर यह कहना कि यह मेरी ही जायदाद है। बिना व्यावहारिक बुद्धिके मनुष्य मनुष्यता हीन होता है। केवल विद्या बोझ मात्र है। विद्याका उद्देश बुद्धिको बलिष्ट और चरित्रको उन्नत करना है। यदि तुम्हारी विद्यामें यह न हुआ, तो तुम्हारे पढ़नेका समय व्यर्थ ही गया। आत्ममर्यादा मनुष्यकी सर्वश्रेष्ठ पोशाक है। आमोद प्रमोद निरोगताके देनेवाले हैं, पर उनमें ज्यादती अच्छी नहीं। उच्च चरित्रके बिना बड़े २ प्रतिभा शालियोंका भी जीवन निकम्मा और निर्बल हो जाता है। कठिनाइयोंका पहाड़ मनुष्यको मनुष्य बनाता है। समझ सफलतासे नहीं विफलतासे आती है। समयकी प्रतिकूलता हमारी छुपी हुई शक्ति-

योंको हमारे सामने खोलकर रख देती है और पुरुषार्थको सम्मुख बुला देती है। आत्मसुधारके कार्यमें हद दर्जेकी निर्धनता भी आड़े नहीं आ सकती। दृढनिश्चय, कष्ट सहिष्णुता और परिश्रमशीलता भर होनी चाहिये। परिश्रमी पुरुषोंने वृद्धापनमें भी विद्याएँ प्राप्त करके संसारको चकित किया है। मन्दबुद्धि भी परिश्रम और उद्योगसे तीक्ष्णबुद्धि हो सकते हैं। इत्यादि बातें यूरोपादि देशोंके नामी २ विद्वानोंके उदाहरण देकर विस्तारके साथ लिखी हैं। आत्मसुधारकी इच्छा रखनेवाले प्रत्येक पुरुषको इस पुस्तकका स्वाध्याय करना चाहिये।

उक्त तीनों पुस्तकें भारतमित्र प्रेस, मुक्ताराम बाबू ष्ट्रीट कलकत्तामें मिल सकती हैं। गतवर्षके उपहारमें पांच पुस्तकें दी गई थीं उसमेंसे तीन ये हैं। शेष दो की समालोचना आगामी अंकमें की जायगी।

चित्रमय जगत (दिल्लीदरबारका अंक)—हिन्दीके भाग्य कुछ अच्छे जान पड़ते हैं। हिन्दीकी सर्व श्रेष्ठ मासिक पत्रिका सरस्वतीके प्रकाशक जिस तरह एक बंगाली सज्जन हैं, उसी प्रकार सुविपुल और सुन्दर चित्र प्रकाशित करनेवाले इस पत्रके स्वामी एक दक्षिणी हैं। इससे यह स्पष्ट होता है कि हिन्दी भाषा-भाषियोंके सोते रहने पर भी हिन्दीकी उन्नति अवश्यंभावी है। पूनेके चित्रशाला प्रेससे यह मासिकपत्र प्रकाशित होता है। इसके सम्पादक हिन्दीके सुप्रसिद्ध लेखक पं० लक्ष्मीधरजी वाजपेयी हैं। मूल्य साधारण संस्करणका ३।) और उत्तम संस्करणका ९॥) है। इस पत्रमें यद्यपि चित्रोंकी प्रधानता है, तो भी लेख और कविताएँ भी अच्छी २ रहती हैं। इस अंकमें सब मिलाकर लगभग ७० चित्र हैं। शाही खान्दानका

रंगीन चित्र तो बहुत ही मनोमोहक है। दरबारसम्बन्धी लेख बहुत महत्त्वके हैं। बाजी प्रभु देशपांडेका लेख पढ़कर स्वदेश भक्ति जागृत हो उठती है। बाबू मैथिलीशरणजीकी युगदृश्य नामक कविताके पाठसे हर्ष और शोक दोनों एक साथ उद्भूत हो उठते हैं।

सृष्टिकर्तृत्व मीमांसा और भूगोल मीमांसा—जैनतत्त्व प्रकाशिनी सभा. इटावाके ये १२ और १३ नम्बरके ट्रेक्ट हैं। पहिलेका मूल्य एक आना है और दूसरेका आधा आना। ये दोनों ही लेख जैनमित्रसे उद्धृत किये गये हैं। दूसरे ट्रेक्टमें कुछ थोड़ासा परिवर्तन किया गया है। पहिले ट्रेक्टमें ईश्वर सृष्टि कर्ता है या नहीं, इसका विचार किया गया है। इसके पहिलेके ५-६ पृष्ठोंकी भाषा जैसी सरल है। यदि वैसी आगेकी भी होती, तो सर्व साधारणको इससे बहुत लाभ होता। आगेकी भाषा बहुत ही क्लिष्ट है। पंडितोंके सिवाय उसे शायद ही कोई समझ सके। दूसरे ट्रेक्टमें पृथ्वीकी गुलाई और गतिका न्यायकी पद्धतिसे खंडन किया गया है। दोनों ट्रेक्ट उक्त सभाके मंत्री बाबू चन्द्रसेनजी वैद्यके पाससे मिलेंगे।

जैन तिथि दर्पण—यह सुन्दर क्यालेन्डर स्याद्वाद महाविद्यालय काशीके छात्रोंद्वारा स्वर्गीय बाबू देवकुमारजीके स्मरणार्थ प्रकाशित किया गया है। इसमें उक्त बाबू साहबका सुन्दर चित्र है। और पंचमी अष्टमी तथा चतुर्दशीका तिथिपत्र है। प्रत्येक जैनीभाईको इससे अपने बैठकखानेकी शोभा बढ़ानी चाहिये और समय २ पर बाबू साहबके गुणोंका स्मरण करके उनके समान धर्मसेवा करना सीखना चाहिये। मूल्य लिखा नहीं। स्याद्वाद महाविद्यालयके मैनेजरको पत्र लिखकर मंगाना चाहिये।

ॐनमः सिद्धेभ्यः

दक्षिण महाराष्ट्र जैनसभाके चौदहवें वार्षिकोत्सवके सभापति स्याद्वाद वारिधि पं० गोपालदासजीका व्याख्यान.

मंगलाचरण ।

दोहा—वन्दौं [illegible] मिथ्या तम[illegible] ॥
जिहसेवतवेवत[illegible] पद भव संताप निवार ॥ १ ॥
[illegible]क वीर जिन दोषावरण विहीन ॥
ज्ञायक लोकालो[illegible]प्रभु करहु अमङ्गलछीन ॥ २ ॥

सबसे पहले मैं महाराज पंचम जार्जको धन्यवाद देता हूं कि, जिनके निष्कंटक राज्यमें हम स्वतन्त्रंता पूर्वक धार्मिक तथा सामाजिक उन्नतिका प्रयत्न कर इसलोक और परलोक संबंधी आत्महित साधन कर सकते हैं।

आज बड़े सौभाग्यका दिन है कि, आप महानुभावोंने मुझ तुच्छ व्यक्तिको ऐसे महान् पदका सन्मान देकर मेरा गौरव बढ़ाया है। ऐसी महती सभाके सभापतित्वका भार उठानेका मेरे जीवनमें यह पहिला ही मौका है। इसलिये सम्भव है कि, इस कार्यके सम्पादनमें अनेक त्रुटियां रह जांय। परन्तु मैं आशा करता हूं कि, आप सरीखे उदार महाशय मेरी त्रुटियोंकी उपेक्षा कर जैसे हंस नीरको त्याग क्षीरका ही ग्रहण करता है, उस ही प्रकार आप भी मेरे इस तुच्छ व्याख्यानको सुनकर प्रसन्न होंगे।

आकाशके बहु मध्यभागमें संस्थित द्रव्यादेशसे अनादि निधन और पर्यायापेक्षासे प्रतिक्षण परिणामी जीवादिक द्रव्योंके समुदायात्मक सात राजूके घनस्वरूप ऊर्ध्वाधो मध्य संज्ञक तीन विभागोंमें विभक्त इस लोकमें अपने ही अपराधसे अनादि सन्तानबद्ध दर्शन मोहादिक द्रव्यकर्म तथा रागादिक भावकर्मोंके वशीभूत घटीयंत्रकी तरह पुद्गलादि पंच परावर्तनोंको पूरा करता हुआ यह जीव अनादिकालसे घोर दुःखात्मक चतुर्गतिमें परिभ्रमण कर रहा है। नरक और तिर्यंच इन दो गतियोंमें प्रायः दुःखसे और देवगतिमें इन्द्रियजनित सुख किन्तु पारमार्थिक दुःखसे अपने हिताहित विचार करनेको छुटकारा ही नहीं मिलता। तथा मनुष्यगतिमें भी बहुभाग तो दिनरात जठराग्निको शमन करनेकी चिन्तासे व्याकुलित चित्त हुए अपनी मौतके दिन पूरे करते हैं। और शेष एक भागोंमेंसे बहुभाग पूर्वबद्ध पुण्यके उदयसे प्राप्त इष्ट विषयाग्निमें भोगतृष्णासे प्रेरित निरन्तर आत्माहुति किया करते हैं। बाकी कुछ इने गिने जिनके काललब्धिके निमित्तसे कर्मभार कुछ हलका होगया है, आत्महितकी खोजमें उद्यमशील दृष्टिगोचर होते हैं। परन्तु उनमें भी अनेक महाशय सदुपदेशके अभावसे मृग-तृष्णामें जलसंकल्पभ्रान्त मृगोंकी तरह इतस्ततः भटकते हुए अभीष्ट फलसे वंचित रहते हैं। आज इस लेखमें हमको इस ही विषयका विवेचन करना है कि, इस जीवका वास्तविक हित क्या है और उस हित साधनकी साक्षात् तथा परम्परा प्रणाली किस प्रकार है।

आत्महित।

जीवके आल्हादात्म गुणविशेषको सुख कहते हैं। यह सुख गुण अनादिकालसे ज्ञानावरणादिक अष्टकर्मोंके निमित्तसे वैभाविक परिणतिरूप हो रहा है। सुख गुणकी इस वैभाविक परिणतिको ही दुःख कहते हैं। इस आकुलतात्मक दुःखके दो भेद हैं—एक साता और दूसरा असाता। संसारमें अनेक प्रकारके पदार्थ हैं जो प्रति समय यथायोग्य

निमित्त मिलनेपर स्वाभाविक तथा वैभाविक पर्यायरूप परिणमन करते रहते हैं। यदि परमार्थ दृष्टिसे देखा जाय तो कोई भी पदार्थ न इष्ट है और न अनिष्ट है। यदि पदार्थोंमें ही इष्टानिष्टता होती तो एक पदार्थ जो एक मनुष्यको इष्ट है वह सबहीको इष्ट होता और जो एकको अनिष्ट है। वह सबहीको अनिष्ट होता। परन्तु संसारमें इससे विपरीत देखा जाता है इससे सिद्ध होता है कि, पदार्थोंमें इष्टानिष्टता नहीं है। किन्तु जीवोंने भ्रम-वश किसी पदार्थको इष्ट और किसीको अनिष्ट मान रक्खा है। मोहनीय-कर्मके उदयसे दुरभिनिवेशपूर्वक इष्टानिष्ट पदार्थोंमें यह जीव रागद्वेषको प्राप्त होता है जिससे निरन्तर ज्ञानावरणादिक कर्मोंका बन्ध करके इस संसा-रमें भ्रमण करता हुआ इष्टानिष्ट संयोग वियोगमें अपनेको सुखी दुखी मानता है। भ्रमवश इस जीवने जिसको सुख मान रक्खा है वह वास्तवमें आकु-लतात्मक होनेसे दुःख ही है। ये सांसारिक आकुलतात्मक सुख दुःख आत्माके स्वाभाविक सुख गुणका कर्मजन्य विकृत परिणाम है। कर्मोंसे मुक्त होनेपर उक्त गुणकी स्वाभाविक पर्यायको ही यथार्थ सुख अर्थात् वास्तविक आत्महित कहते हैं।

आत्महितका साक्षात् साधन—

मुनिधर्म है। आत्माके सुख गुणको विकृत करनेवाले ज्ञानावरणादिक अष्टकर्म हैं। इस कारण जब तक ये कर्म आत्मासे जुदे न होंगे तब तक इस जीवको यथार्थ सुख नहीं मिल सकता। न्यायका यह सिद्धान्त है कि जिस कारणसे जिस कार्यकी उत्पत्ति होती है उस कारणके अभावसे उस कार्यकी उत्पत्तिका भी अभाव हो जाता है। उक्त न्यायके अनुसार यह बात सुतरां सिद्ध है कि, जिन कारणोंसे कर्मका सम्बन्ध होता है। उन कारणोंके अभावसे कर्मका वियोग अवश्य हो जायगा। मिथ्याज्ञानपूर्वक रागद्वेषसे कर्मका बन्ध होता है अतः सम्यग्ज्ञानपूर्वक रागद्वेषकी निवृत्तिसे यह जीव कर्मोंसे मुक्त हो सकता है। एकदेश ज्ञानकी प्राप्ति तथा रागद्वेषकी निवृत्ति यद्यपि गृहस्थाश्रममें भी होसकती है परन्तु पूर्णतया ज्ञानकी प्राप्ति तथा रागद्वे-

षकी निवृत्ति मुनि अवस्थामें ही होती है इसलिये आत्महितका साक्षात् साधन मुनि धर्म ही है। परन्तु जो महाशय सिंहवृत्तिरूप मुनिधर्मको धारण करनेमें असमर्थ हैं वे—

आत्महितका परम्परा साधन

सागारधर्मका आराधन कर अपनी कर्तव्यताका पालन करते हैं जो महानुभाव पूर्वभवके संस्कारसे दीक्षोचित उत्तम कुलमें जन्म लेकर गर्भाधानादि संस्कार विधिसे संस्कृत होते हैं उक्त धर्मको धारण करनेके वे ही उचित पात्र हैं। यह सागारधर्म तीन विभागोंमें विभाजित है। उन तीनं विभागोंमेंसे प्रथम भाग—

ब्रह्मचर्याश्रम—

है। गर्भसे अष्टम वर्षमें ब्राह्मण क्षत्रिय तथा वैश्य पुत्र जिनमंदिरमें जाकर अर्हत्पूजनपूर्वक शिरोमुंडन मौंजीबंधन और सात लड़का यज्ञोपवीत धारणकर स्थूलहिंसादिक पापोंको त्याग गुरुकी साक्षीसे ब्रह्मचर्यव्रतको धारण करे। यह ब्रह्मचारी शिखा तथा श्वेत अथवा रक्त वस्त्र (अन्तरीय और उत्तरीय) धारण करै। तथा अपने आचरणके योग्य जिनदासादिक दीक्षित नामको धारण करै। शृङ्गारादिक क्रियाओंसे सदा उपेक्षित रहै। और राजपुत्रके सिवाय अन्य समस्त ब्रह्मचारी भिक्षावृत्तिसे निर्वाह करैं। इस प्रकार वेष धारणकर यावज्जीव विद्या तथा धर्मके आराधन करनेवालेको नैष्ठिक ब्रह्मचारी कहते हैं। यहां इतना विशेष है कि जो महाशय इस उपनयन संस्कारके पश्चात् केवल यज्ञोपवीत धारणकर विद्याभ्यासके अनन्तर किसी उचित कन्याके साथ पाणिग्रहण कर लेते हैं वे उपनय ब्रह्मचारी कहलाते हैं। जो क्षुल्लक रूपसे विद्याभ्यास समाप्तकर गृहस्थाश्रममें प्रवेश करते हैं वे अवलम्ब ब्रह्मचारी कहलाते हैं। जो विना किसी वेषके विद्याध्ययनकर विवाह करलेते हैं वे अदीक्षा ब्रह्मचारी कहलाते हैं। और जो नग्नवेषसे विद्या

भ्यासकर राजा तथा कुटुम्बियोंके आग्रहसे गृहस्थाश्रमको अवलम्बन करते हैं वे गूढब्रह्मचारी कहलाते हैं। तथा जो महाशय गृहस्थाश्रमको त्याग विषयभोगोंसे विरक्त होकर यावज्जीव ब्रह्मचर्यव्रतका धारण करते हैं वे भी नैष्ठिक ब्रह्मचारी हैं। इस ब्रह्मचर्याश्रममें पांचो ही प्रकारके ब्रह्मचारी यद्यपि ब्रह्मचर्यव्रतके पालन और भिक्षावृत्तिसे निर्वाह इन दोनों क्रियाओमें समान हैं तथापि चारित्रके अन्य भेदोंकी अपेक्षासे इनमें तारतम्य है। अर्थात् पाक्षिक अवस्थासे लगाकर नवमी प्रतिमातक ब्रह्मचर्याश्रममें चारित्र पाया जाता है। इस ब्रह्मचर्याश्रममें विद्यासाधनकी प्रधानता है। प्राचीन कालमें इन ब्रह्मचारियोंमेंसे कितने ही ब्रह्मचारी तो गृहस्थाचार्यके समीप विद्याध्ययन करते थे। तथा कितने ही ब्रह्मचारी मुनि तथा विद्वान् ब्रह्मचारीयोंके साथ देशाटन करते हुए विद्यादेवीकी उपासना करते थे। परन्तु खेदके साथ कहना पड़ता है कि आज न तो वे गृहस्थाचार्य ही हैं और न वे विद्वान् ब्रह्मचारी और मुनि ही हैं कि, जिनके निमित्तसे हमारी सन्तान स्वतंत्रतापूर्वक किसी प्रकारके द्रव्यव्ययके विना विद्या संपादन कर सके। आज हमको इस विद्यासाधनके निमित्तभूत पाठशाला, विद्यालय, कालेज, स्कूल, बोर्डिंग आदिक बनानेके लिये घर घर भिक्षा मांगनी पड़ती है और फिर भी यथेष्ट सफलता प्राप्त नहीं होती। परंतु लाचार होकर हमको प्राप्तोनिर्वाह्यतेऽधुना की नीतिका अवलम्बन करके वर्तमान देशकालानुरूप रीति नीतिके अनुसार प्रयत्नशील होकर उसमें यथा संभव सुधार करते हुए विद्योन्नतिके कार्यमें तनमनधनसे उद्योग करना चाहिये। विद्याविषय शिक्षाप्रणाली और संस्था प्रबन्ध इस प्रकार दो विभागोंमें विभक्त हो सकता है। इन दो विभागोंमेंसे पहिले—

शिक्षाप्रणाली—

पर विवेचन किया जाता है। संसारके समस्त प्राणियोंकी यह इच्छा रहती है कि, हमको सुखकी प्राप्ति हो और सदाकाल ऐसा ही उपाय

करते रहते हैं। परन्तु सुख तथा सुखके साधनका यथार्थ स्वरूप न जाननेके कारण अभीष्ट फलको प्राप्त नहीं होते। यथार्थ सुख मोक्षमें है इसलिये पुरुषका असली प्रयोजन अर्थात् परमपुरुषार्थ मोक्ष है। मोक्षका साधन धर्म है। इसलिये दूसरा पुरुषार्थ धर्म है। इस धर्मपुरुषार्थका पूर्णतया साधन यत्याश्रममें ही हो सकता है। और इस यत्याश्रमको वे ही महानुभाव धारण कर सकते हैं कि, जो शारीरिक तथा मानसिक शक्तिशाली होनेपर विषयभोगोंसे नितान्तविरक्त होगये हैं। जो महाशय विषयभोगोंसे विरक्त होनेपर भी शारीरिक तथा मानसिक शक्तिकी हीनताके कारण मुनिपदको धारण नहीं कर सकते। वे दशमी तथा ग्यारवीं प्रतिमास्वरूप वानप्रस्थ आश्रमको स्वीकार करके धर्मपुरुषार्थका एकदेश साधन करते हैं। तथा जिन महाशयोंकी विषयाकांक्षा भी पूर्णतया नहीं घटी है देवद्विजाग्नि साक्षीपूर्वक योग्य कन्यासे पाणिग्रहण करके न्यायरूप भोगोंको भोगते हुए कामपुरुषार्थ तथा उसके साधनभूत धनार्जनरूप अर्थपुरुषार्थ और यथाशक्ति धर्मपुरुषार्थ इसप्रकार धर्म अर्थ और कामस्वरूप त्रिवर्गका साधन करते हुए गृहस्थाश्रमका पालन करते हैं। उक्त चारों पुरुषार्थोंमें मोक्ष और काम ये दो पुरुषार्थ साध्यरूप हैं तथा धर्म और अर्थ ये दो पुरुषार्थ साधनरूप हैं। किसी पुरुषार्थका साधन तद्विषयिक विद्या प्राप्ति किये विना अत्यन्त दुःसाध्य है और गृहस्थाश्रममें प्रवेश करनेपर चित्त अनेक चिन्ताओंसे व्याकुलित हो जाता है। इसलिये इतर तीन आश्रमोंकी साधनभूत विद्याओंकी आराधनाके लिये अनेक चिन्ताओंसे अलिप्त कुमार अवस्थामें ब्रह्मचर्य आश्रमका विधान है। इस ब्रह्मचर्य आश्रममें किन २ विद्याओंके अभ्यास करनेकी आवश्यकता है आगे इस ही विषयपर विवेचन किया जाता है। नीतिकारोंने कहा है कि—

दोहा—कला बहत्तरि पुरुषकी तामें दो सरदार ॥
एक जीवकी जीविका एक जीव उद्धार ॥ १ ॥

काव्य—अनन्तपारं किलशब्द शास्त्रं ।
स्वल्पं तदायुर्बहवश्च विघ्नाः ॥
सारं ततोग्राह्यमपास्य फल्गु ।
हंसो यथा क्षीरमिवाम्बुमध्यात् ॥ २ ॥

भावार्थ धर्म पुरुषार्थ और अर्थ पुरुषार्थ इन दो पुरुषार्थोंकी कारणभूत धार्मिक और औद्योगिक इन दो प्रकारकी विद्याओंका अभ्यास करना परमावश्यक है। किसी भी विद्याकी प्राप्ति उस भाषाके परिज्ञानके विना नहीं हो सकती। जिस भाषामें ग्रन्थकारोंने उक्त विद्याओंका निरूपण किया है। हमारे प्राचीन ऋषियोंने संस्कृत भाषामें प्रायः समस्त विषयोंकी रचना की थी। परन्तु हमारे दुर्भाग्यवश कुछ जालिमोंद्वारा और कुछ हमारी उपेक्षासे हमारा संस्कृत साहित्य प्रायः नष्ट भ्रष्ट होगया, इसलिये संस्कृत भाषामें हमको समस्त आवश्यक विषय नहीं मिलते हैं। इसलिये औद्योगिक विद्याकेलिये हमको अंग्रेजी साहित्यका भी आश्रय लेना पड़ता है। इन सबका खुलासा यह हुआ कि, विद्याओंकी प्राप्तिकेलिये हमको संस्कृत और अंगरेजी भाषाका परिज्ञान करनेकी आवश्यकता है। भाषाओंके दो भेद हैं। मातृभाषा और इतरभाषा। मातृभाषाके लिखने पढ़ने और सीखनेमें जितने परिश्रमकी आवश्यकता है इतर भाषाओंके लिखने पढ़ने और सीखनेमें उससे कई गुणा परिश्रमकी आवश्यकता होती है। संस्कृत और अंगरेजी हमारी मातृभाषा नहीं है इसलिये मातृभाषाकी अपेक्षा इतर विद्याओंके अभ्यास करनेमें बहुत अधिक काल लगता है। योरुप, अमेरिका, जापान आदि देशोंने आशातीत उन्नति की है वह इस ही नीतिके अवलम्बनसे ही की है। परन्तु हमारे भोले भारतवासी लकीरके फकीर विना विद्याभ्यासके भाषाओंके परिज्ञान प्राप्त करनेहीमें अपना समय खोकर विद्याशून्य निकम्मे रह अपने अमूल्य जीवनको व्यर्थ खो रहे हैं। प्रत्येक भाषामें यह एक अपूर्व चमत्कार है कि किसी भी

लेखमें लेखकके अभिप्रायोंका प्रतिबिम्ब पड़ता है। इसलिये किसी मूल पुस्तकके अभ्यास करनेसे प्रकृत भाषाका मर्मज्ञ चतुर पाठक मूल ग्रन्थकर्ताके असली अभिप्रायतक पहुंच सकता है। परन्तु उक्त मूल ग्रन्थके इतर भाषामें अनुवादको पढ़नेसे मूल ग्रन्थकर्ताके अभिप्राय ज्ञात नहीं हो सकते। किन्तु उस अनुवादके पढ़नेसे पाठक अनुवादके केवल उन अभिप्रायोंतक पहुंच सकता है कि, जो अनुवादकने मूल ग्रन्थके अभ्याससे समझे हैं। सम्भव है कि, अनुवादक मूल ग्रन्थकर्ताके असली अभिप्रायोंको न पहुंचा हो तथा प्रत्येकभाषामें प्रत्येक विषयके आभिभावक शब्द न मिलनेकी भी संभावना है। इसलिये अनुवादित ग्रन्थोंका अभ्यास करनेसे मूलग्रन्थोंके अभ्यासकी अपेक्षा त्रुटि रहजानेकी संभावना है। परन्तु यह त्रुटि उस त्रुटिके सामने बहुत ही थोड़ी है कि, जो अमातृक भाषाओंका अभ्यास करते मूल विद्याओंसे वंचित रहनेसे होती है। इसलिये सर्व साधारणकेलिये राजमार्ग यही हो सकता है। कि, इष्ट विद्याओंका अभ्यास उन ग्रन्थोंका मातृभाषामें अनुवाद कराकर कराया जावै। आजकल इस भारतवर्षमें अंगरेज महाशयोंका राज्य है इसलिये राजविद्या अंगरेजी है। राजविद्याका अभ्यास किये विना आज कल मनुष्य मूर्ख समझा जाता है। व्यापारमें राजविद्याका आजकल इतना अधिकार वढ़ चढ़ रहा है। कि, उसके विना व्यापारके असली तत्वसे वंचित रहना पड़ता है इसलिये अंगरेजी भाषाका परिज्ञान प्राप्तकरना हमारा प्रधान कर्तव्य है। शिक्षाप्रणाली चार विभागोंमें विभाजित होसकती है। अर्थात् १ प्राथमिक शिक्षालय (Primary School), २ प्रवेशिका विद्यालय (Anglo--Vernacular High school) ३, भाषा महाविद्यालय (Vernacular College) और ४ संस्कृत महाविद्यालय (Sanskrit College) भाषा महाविद्यालयके अन्ततक अंगरेजी भाषाका उतना ज्ञान करा देना चाहिये कि, जितना आजकल अंगरेजी हाईस्कूलोंमें

मेट्रिक्यूलेशनतक कराया जाता है। तथा मातृभाषाके साहित्यके साथ २ मातृभाषामें ही उन समस्त विद्याओंका अभ्यास करा देना चाहिये जिनका कि, अभ्यास वर्तमानदेशकालानुसार आवश्यक है। तथा इतना संस्कृत भाषाका भी ज्ञान करा दिया जावे कि, जिससे विद्यार्थी सुगम संस्कृत ग्रन्थोंको समझ सके तथा संस्कृत विद्यालयमें अभ्यास करने योग्य हो जावे। इसके पश्चात् जिन महाशयोंको गृहस्थाश्रम संबन्धी चिन्ताओंने नहीं सताया है, तथा जो महाशय उत्साहपूर्वक आगे भी विद्याभ्यास करना चाहते हैं, उनकेलिये आगे विद्याभ्यास करनेके दो मार्ग हैं। जो महाशय पाश्चिमात्य विद्वानोंके मूल ग्रन्थोंका अभ्यास करके सरकारी डिग्रियां प्राप्त करना चाहते हैं। उनको चाहिये कि वे सरकारी कालेजोंमें प्रवेश करके अपनी इच्छा पूर्ण करें और जो महाशय प्राचीन ऋषियोंकृत मूल न्याय धर्म अध्यात्म शास्त्रोंका अभ्यास करनेके अभिलाषी हैं उनकेलिये संस्कृतविद्यालय स्थापन करनेकी आवश्यकता है। शिक्षाप्रणालीका क्रम निरूपण करनेसे पहिले इस बातका विवेचन किया जाता है कि, शिक्षाप्रणालीमें हमको किन २ विद्याओंका समावेश इष्ट है। समस्त विद्या तीन विभागोंमें विभक्त हो सकती है अर्थात् भाषा १. मूल विद्या २, और सहकारिणी विद्या ३, भाषा भी तीन भागोंमें विभक्त है। अर्थात—

भाषाविभाग।

१ मातृभाषासाहित्य. (Vernacular Literature.)

२ अंगरेजीसाहित्य. (English Literature.)

३ संस्कृतसाहित्य. (Sanskrit Literature.)

मूलविद्याविभाग

१ धार्मिकविद्या.

२ औद्योगिकविद्या.

धर्मविद्याविभाग।

१ प्रथमानुयोग (इतिहास) (History).

२ चरणानुयोग.

३ करणानुयोग (Geography & Astronomy).

४ द्रव्यानुयोग (पदार्थविज्ञान) (Science & Philosophy).

औद्योगिकविद्याविभाग।

१ शस्त्रविद्या.

२ कृषिविद्या (स्थल, जल, भूगर्भ, खनि) (Agriculture Mineral &c).

३ मसिविद्या (Book Keeping).

४ वाणिज्यविद्या (Trade).

५ शिल्पविद्या (चित्रस्थपितादि) (Technical Engineering &c.)

६ इतर विद्या (संगीतादिक).

सहकारिणीविद्याविभाग।

१ गणितविद्या—

१ अंकगणित (Arithmatic).

२ रेखागणित (Euclid).

३ बीजगणित (Algebra).

४ क्षेत्रगणित (Mensuration).

२ नीतिविद्या.

१ सामान्यनीति.

२ राजनीति (Political knowledge).

३ वैद्यकविद्या (Physical Knowledge).

४ न्यायविद्या (Logic).

अब आगे शिक्षाप्रणालीका क्रम लिखा जाता है।

प्राथमिक शिक्षाक्रम।

खण्ड.	काल.	धर्मशास्त्र.	भाषा.	गणित.	मौखिक शिक्षा*	जागरफी.
१	६ मास	बालबोध जैनधर्म प्रथमभाग.	प्रथम पुस्तक.	पहाड़े २० तक.	प्रथमभाग.	दिशाओंका ज्ञान.
२	,,	द्वितीयभाग.	द्वितीय पुस्तक.	पहाड़े पूर्ण.	द्वितीयभाग.	जिला जागरफी.
३	१ वर्ष	तृतीयभाग.	तृतीय पुस्तक. भाषाव्याकरण पूर्वार्द्ध	साधारण जोड़, बाकी, गुणा और भाग.	तृतीयभाग.	प्रान्त जागरफी.
४	१ वर्ष	चतुर्थभाग.	चतुर्थ पुस्तक. भाषाव्याकरण पूर्ण.	मिश्र जोड़, बाकी, गुणा, भाग, त्रैराशिक, जिन्सोंकी फैलावट गुरुओंसे	चतुर्थभाग.	भारत जागरफी.

* इस विषयकी शिक्षाके लिये अध्यापक पशु, पक्षी, फल, फूल, अन्न आदि पदार्थोंके रंग, रूप, प्रकार, उपयोग आदिका ज्ञान करावें, और ज्ञान कराते समय संभवतः उन पदार्थोंको सन्मुख रक्खे।

प्रवेशिका शिक्षाक्रम.

खंड.	काल.	धर्मशास्त्र.	भाषा साहित्य.	गणित.	इंगलिश.	इतिहास जागरफी व पदार्थ विज्ञान.
१	एकवर्ष.	पार्श्वपुराण.	जैनपद्यसंग्रह, भाषासारसंग्रह.	भिन्न, दशमलव व मनीमी.	Primer. and I Reader.	जैन जागरफी व भारतका इतिहास.
२	,,	श्रावकाचार छहढालासार्थ,	छन्दप्रभाकर. उपमिति भवप्रपञ्चा कथा	अंकगणित पूर्ण	II Reader.	इंग्लेडका इतिहास पदार्थ विज्ञान.
३	,,	मोक्षमार्ग-प्रकाशक.	चरित्र गठन प्रबोध चन्द्रिका	रेखागणित १ भाग बीज गणित जोड़ बाकी गुणा भाग	III Reader & Grammer (Etymology)	इतिहास (फ्रांस) पदार्थ विज्ञान रसायन (महेशचरण कृत)
४	,,	जैनसिद्धान्त प्रवेशिका, चर्चाशतक.	मुद्राराक्षस. हरिश्चन्द्र नाटक. सुशीला उपन्यास.	रेखागणित ४ भाग, बीज गणित, क्षेत्र गणित,	IV Reader & Grammer.	इतिहास (जर्मन) रसायन और नैपोलियन बोनापार्ट.

हिन्दीकालेज ।

खंड.	काल.	धर्मशास्त्र.	संस्कृत साहित्य.	न्याय.	इंग्लिश.	औद्योगिक.
१	१ वर्ष	जैनसिद्धान्तदर्पण.	संस्कृत शिक्षिका.	प्रमाणनय-दीपिका.	Matric course.	स्वाधीनता.
२	,,	समयसारनाटक. प्रवचनसारकेपद्य.	क्षत्रचूडामणि. हितोपदेश.	फिलोसोफी.	Do.	सम्पत्तिशास्त्र.

संस्कृत कालेज ।

उपाध्याय परीक्षा ।

खण्ड.	काल.	धर्मशास्त्र.	न्याय.	साहित्य.	व्याकरण.
१	१ वर्ष	सागार धर्मामृत त्रैवर्णिकाचार (ब्रह्मसूरिकृत)	न्यायदीपिका परीक्षामुख मूलसूत्र.	चन्द्रप्रभकाव्य.	जैनेन्द्र वा शाकटायन स्त्री प्रत्यान्त.
२	,,	सर्वार्थसिद्धि	प्रमेयरत्नमाला आप्तमीमांसामूल.	अलंकारचिन्तामणि. पार्श्वनाथ काव्य.	पूर्वार्द्ध.

विशारद परीक्षा।

खण्ड.	काल.	धर्मशास्त्र.	न्याय.	साहित्य.	व्याकरण.
१	१ वर्ष.	गोमटसारजीवकाण्ड पञ्चाध्यायी १ अध्याय.	आप्त परीक्षा सप्तभंगीतरंगिणी	धर्मशर्माभ्युदय जीवंधर चम्पू,	तिङन्त
२	१ वर्ष	गोमटसारकर्मकाण्ड, पञ्चाध्यायी पूर्ण.	प्रमेयकमल मार्तण्ड	द्विसंधानकाव्य, विक्रान्त कौरवीय नाटक.	पूर्ण.

आचार्य परीक्षा।

खण्ड.	काल.	धर्मशास्त्र.	न्याय.	साहित्य.	व्याकरण.
१	१ वर्ष.	लब्धिसार. राजवार्त्तिक.	अष्टसहस्री.	गद्यचिन्तामणि काव्यानुशासन (हेमचन्द्र)	जैनेन्द्र महावृत्ति अथवा अमोघवृत्ति. दो अध्याय.
२	,,	नाटकत्रयी.	श्लोक वार्त्तिक.	यशस्तिलक. आदिपुराण.	पूर्ण.

१५

कन्या शिक्षा.

प्राथमिक शिक्षा.

१ धर्मविषय. २ भाषाविषय. ३ गणित. सीनापीरोना

प्रवेशिका.

१ धर्मविषय. पाकशास्त्र. अंकगणित.

हिन्दीकालेज.

१ धर्मविषय.

उपर्युक्त पठनक्रममें प्रायः जैनियोंकी बनाई हुई पुस्तकें रक्खी गई हैं। तथा कितनी ही पुस्तकें अन्यमतावलम्बियोंकी बनाई हुई रक्खी हैं। और कुछ पुस्तकें उपलब्ध न होनेके कारण विषयके नामसे ही अंकित की गई हैं। जो पुस्तकें अन्यमतावलम्बीकृत रक्खी हैं, उनका विषय प्रायः जिनमतसे अविरुद्ध है और यदि किसी पुस्तकमें जिनमतसे विरुद्ध विषय हो तो जैन विद्वानोंका कर्तव्य है कि वे उक्त पुस्तकोंके सदृश विषयवाली जैनमतसे अविरुद्ध पुस्तकोंकी रचना करें और उसमें विरुद्ध विषयोंकी युक्तिपूर्वक समालोचना करके यथार्थ स्वरूपका निरूपण करें। तथा अनुपलब्ध पुस्तकोंकी रचना करके पठनक्रमकी त्रुटियोंको पूर्ण करें। बाकी पुस्तकोंकी रचना करनेके लिये अनुभवी विद्वानोंकी एक कमेटी बनाई जावे। और उस कमेटीसे पास कराके पुस्तक प्रचारमें लाई जावें। आनरेबल मिस्टर गोखलेके बिलका समर्थन करते हुए हम सरकारसे भी प्रार्थना करते हैं कि, प्राथमिक शिक्षाका प्रचार मुफ्त और बलपूर्वक किया जावे।

गृहस्थाश्रमरूपी गाड़ीको चलानेवाले पुरुष और स्त्री ये दो पहिये हैं। इसलिये गृहस्थाश्रमके योग्य पात्र बनानेके लिये जैसे बालकोंको शिक्षाकी आवश्यकता है। उस ही प्रकार योग्य गृहिणी बनानेकेलिये कन्याओंको भी शिक्षा देनेकी आवश्यकता है। जिस

घरमें शिक्षिता स्त्री नहीं है। वहां वर्णाश्रम धर्मका यथोचित पालन नहीं हो सकता। बाल्यावस्थामें सन्तानको उचित शिक्षासे भूषित करना माताका ही कर्तव्य है। अनेक महाशयोंका कथन है कि शिक्षासे स्त्रियां दुश्चरित्रा हो जाती हैं यह उनका भ्रम है। पुराण और इतिहासोंसे यह बात सुतरां सिद्ध है। कि सीता, द्रौपदी, अंजना, मनोरमादिक अनुकरणीय सर्व ही सती शिक्षिता थीं। स्त्रियोंको दुश्चरित्रा बनानेका कारण दूषित शिक्षा है। असभ्य और अश्लील पुस्तकोंके अभ्याससे स्त्रियोंके चरित्रमें धब्बा लग जाता है। इसलिये स्त्रियोंकी शिक्षाकी उत्तमतापर पूर्ण ध्यान रखना चाहिये। स्त्रियोंको धार्मिक तथा गृह सम्बन्धी पाकादिककी और घरका हिसाब रखने योग्य गणितकी शिक्षा तो अवश्य ही देनी चाहिये। शिक्षा प्रचारके लिये—

संस्थाओंके प्रबन्ध—

की आवश्यकता है। प्रत्येक ग्राममें जहां जैनियोंकी वस्ती कमसेकम दश घरकी भी हो वहां एक २ पाठशाला स्थापन की जावे। जिसमें प्राथमिक शिक्षा दी जावे। प्रत्येक नगरमें जहां जैनियोंकी वस्ती कमसेकम सौ घरकी हो वहां प्राथमिक और प्रवेशिका पाठशाला खोली जावे। जिसमें प्राथमिक और प्रवेशिकाकी शिक्षा दी जावे। भाषाओंके हिसाबसे भारतवर्षको चार विभागोंमें विभाजित करना चाहिये। अर्थात्

१ हिन्दीविभाग. **३ गुजरातविभाग.**
२ दक्षिण विभाग. **४ कर्नाटकविभाग.**

प्रत्येक विभागमें अपनी २ मातृभाषामें शिक्षा दी जावे। सब विभागोंमें कमसेकम एक भाषामहाविद्यालय खोला जावे, जिसमें प्रवेशिका और भाषामहाविद्यालयकी शिक्षा दी जावे। भारतवर्षमें कमसेकम एक संस्कृतमहाविद्यालय खोला जावे, जिसमें संस्कृत भाषामें न्याय व्याकरण साहित्य और धर्मशास्त्रकी शिक्षा दी जावे। भारतवर्षकी समस्तशिक्षा-

सम्बन्धी संस्थाओंका प्रबन्ध करनेके लिये विद्वानोंकी एक सभा बनाई जावे, जिसमें संस्कृतके पंडित और ग्रेज्युएट शामिल किये जावें। इस विद्वज्जन महासभाके अन्तर्गत चार प्रान्तिकसभा नियत की जावें, जो उपर्युक्त प्रत्येक विभागका प्रबन्ध करें। प्रत्येक विभागके लिये कमसे-कम एक एक निरीक्षक नियत किया जावे तथा परीक्षाकेलिये एक परीक्षालय खोला जावे, जो भारतवर्षके समस्त विद्यार्थियोंकी परीक्षा लिया करे। असमर्थ विद्यार्थी स्थानीय श्रावकोंके घर मधुकरी वृत्तिसे भोजनकर विद्याभ्यास करे। जहांतक हो ये संस्थाएं ब्रह्मचर्याश्रमके स्वरूपमें नियत की जावें। इन शिक्षालयोंके साथ एक एक बोर्डिंगहाउस भी रहे जिसमें समर्थ अथवा छात्रवृत्ति प्राप्त विद्यार्थियोंके भोजन तथा समस्त विद्यार्थियोंके निवासका प्रबन्ध किया जावे। शिक्षालय तथा बोर्डिंगोंमें शिक्षक अध्यक्ष सुपरिटेन्डेंट पदपर अनुभवी सदाचारी महाशय नियत किये जावें विद्यार्थियोंके शारीरिक स्वास्थ्य तथा सदाचारपर पूरा पूरा ध्यान दिया जावे। विद्यार्थियोंको स्वार्थत्यागकी भी शिक्षा दी जावे कि जिसमें कुछ विद्यार्थी विद्या प्राप्त करके नैष्ठिक ब्रह्मचारी अथवा वानप्रस्थ तथा यत्याश्रमी बनकर देश देशान्तरमें देशाटन कर जैनधर्मकी विजयपताका फहराकर जैनधर्मको सार्वजनिक धर्म बना समस्त संसारका हित साधन करे। इस प्रकार संक्षेपसे ब्रह्मचर्याश्रमका कथन करके अब आगे गृहस्थाश्रमपर कुछ विवेचन किया जाता है।

गृहस्थाश्रम।

ब्रह्मचर्याश्रमको समाप्त करके गुरुकी आज्ञासे जो महानुभाव गृहस्थाश्रममें प्रवेश करते हैं, उनको धर्म अर्थ और काम इन तीन पुरुषार्थोंके साथ साथ सामाजिक नियमोंका भी पालन करना पड़ता है। इसलिये गृहस्थाश्रमके कर्तव्य धर्म अर्थ काम और समाज इन चार विभागोंमें विभक्त हो सकते हैं। विषयभोगोंकी वासना इस जीवके अनादिकालसे लग रही

है और इस ही वासनाके निमित्तसे यह जीव इस संसारमें नाना प्रकारके दुःख भोग रहा है। इसलिये काम पुरुषार्थके निरूपण करनेकी कुछ आवश्यकता न समझकर धार्मिक आर्थिक और सामाजिक कर्तव्योंपर ही संक्षेपसे विवेचन किया जाता है। उक्त तीन विषयोंमेंसे पहिले धार्मिक विषयका निरूपण करते हैं।

गृहस्थधर्म।

अनादिकालसे घोर दुःखसंतप्त प्राणियोंको दुःखसे निकाल मोक्षके उत्तम सुखमें पहुंचावे उसे धर्म कहते हैं। जीवद्रव्यका सम्यक्त्वगुण अनादिकालसे दर्शनमोहनीयकर्मके निमित्तसे विकृत भावको प्राप्त हो रहा है। सम्यक्त्वके इस विकृत भावको ही मिथ्यात्व कहते हैं। मिथ्यात्वके सम्बन्धसे ही ज्ञानावरणकर्मके क्षयोपशमसे प्रकाशमान ज्ञान भी मिथ्याज्ञान कहलाता है तथा चारित्रमोहनीयकर्मके निमित्तसे आत्माके चारित्र गुणका भी विकृत परिणाम हो रहा है। मोहनीयकर्मका क्षय होनेसे जीवके सम्यक्त्व और चारित्र गुण स्वाभाविक अवस्थाको प्राप्त हो जाते हैं। तथा मोहनीयकर्मका क्षय होनेसे कुछ ही पीछे ज्ञानदर्शनावरण और अंतरायके क्षयसे पूर्णज्ञानको प्राप्त हो जाता है। कुछ कालके बाद योगोंका भी अभावकर सम्यक्त्व ज्ञान और चारित्र इन तीन गुणोंकी पूर्णता हो जाती है। इन तीनों गुणोंकी पूर्णताको ही धर्म कहते हैं और यही धर्म मोक्षका सच्चा उपाय है। इन तीनों गुणोंमें सम्यक्त्व गुण प्रधान है। जब तक सम्यक्त्व गुणकी प्राप्ति नहीं होती तबतक ज्ञान और चारित्र सम्यग् व्यपदेशको प्राप्त नहीं होते। चारित्रगुणके दो भेद हैं। देशचारित्र और सकलचारित्र। सकलचारित्र मुनि अवस्थामें होता है। जो महाशय सकलचारित्रका पालन करनेमें असमर्थ होते हैं वे देशचारित्रको ग्रहणकर गृहस्थधर्मका पालन करते हैं। पदार्थोंके यथार्थ श्रद्धानको सम्यक्त्व, यथार्थ जाननेको सम्यग्ज्ञान कहते हैं।

हिंसा असत्य चौर्य मैथुन और परिग्रह इन पांच पापोंकी पूर्णतया निवृत्तिको सकलचारित्र और एकदेशनिवृत्तिको देशचारित्र कहते हैं। सम्यक्त्व सहित देशचारित्रके पालनकरनेको ही गृहस्थधर्म कहते हैं। इस गृहस्थधर्मको श्रावकधर्म और उसके पालनेवालेको श्रावक कहते हैं। श्रावकके तीन भेद हैं पाक्षिक १, नैष्ठिक २, और साधक ३, जो सम्यक्त्व और अष्ट मूल गुणोंका निरतिचार पालन नहीं कर सकता अर्थात् सदोष पालन करे उसको पाक्षिक श्रावक कहते हैं। अष्ट मूलगुण इस प्रकार हैं। मद्यत्याग १, मांसत्याग २, मधुत्याग ३, रात्रिभोजनत्याग ४, पंचोदुम्बरत्याग ५, पंचपरमेष्ठीकास्तवन ६ जीवदया ७, और जलगालन ८, सम्यक्त्व और मूलगुण तथा उत्तरगुणोंके सांगोपांग प्रतिमारूप निर्वाह करनेवालेको नैष्ठिक श्रावक कहते हैं। नैष्ठिक श्रावकके ११ भेद हैं जिनका संक्षेप स्वरूप इस प्रकार है। १ सम्यक्त्व और मूलगुणके निर्दोष पालनेको दर्शन प्रतिमा कहते हैं। २ अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और परिग्रह, प्रमाण संज्ञक पंच अणुव्रत, दिग्व्रत, देशव्रत, और अनर्थदण्ड संज्ञक तीन गुणव्रत, तथा भोगोपभोग परिमाण प्रोषधोपवास सामायिक और अतिथि संविभाग संज्ञक चार शिक्षाव्रत, इस प्रकार १२ उत्तरगुणोंके निर्दोष पालनेको व्रतप्रतिमा कहते हैं। ३ त्रिकाल सामायिक करनेको सामायिक प्रतिमा कहते हैं। ४ पर्वदिनोंमें प्रोषधोपवास व्रत करनेको प्रोषधप्रतिमा कहते हैं। ५ सजीव पदार्थके भक्षणके त्यागको सचित्तत्यागप्रतिमा कहते हैं। ६ दिनमें मैथुन त्यागको दिवामैथुनत्यागप्रतिमा कहते हैं। ७ स्त्रीमात्रके संसर्ग त्यागको ब्रह्मचर्यप्रतिमा कहते हैं। ८ कृष्यादिक हिंसाके हेतुभूत आरंभके त्यागको आरंभत्यागप्रतिमा कहते हैं। ९ धनधान्यादिक परिग्रहके त्यागको परिग्रहत्यागप्रतिमा कहते हैं १० आरम्भादिकमें अनुमतिके त्यागको अनुमतित्यागप्रतिमा कहते हैं। ११ उद्दिष्टभोजनके त्यागको उद्दिष्ट-

त्यागप्रतिमा कहते हैं। मरणसमय स्वरूपकी सावधानता रखनेवालेको साधक श्रावक कहते हैं। इस प्रकार गृहस्थधर्मका यहां नाम मात्र कथन किया है। इसका सविस्तर स्वरूप श्रावकचारोंसे जानना। जब तक धर्मके स्वरूपको नहीं जानोगे तब तक धर्ममें प्रीति कदापि नहीं हो सकती। नीति कारोंका भी वाक्य है कि—

काव्य—न वेत्ति यो यस्य गुणप्रकर्षं,
स तं सदा निन्दति नात्रचित्रम्।
यथा किरातीकरिकुम्भलब्धां
मुक्तां परित्यज्य विभर्तिगुञ्जाम्॥ १॥

धर्मका महत्त्व न जानकर ही भोले भाईयोंके हृदयमें धर्मसे ग्लानि हो रही है। इसलिये जो महाशय अपनेको सच्चा सुखी बनाना चाहते हैं उनका प्रधान कर्तव्य धर्म शास्त्रोंका स्वाध्याय करना है। धर्म साधनके अनेक अंगोंमें स्वाध्याय प्रधान अंग है। इस स्वाध्यायको शास्त्रकारोंने अन्तरङ्गतपोंमें वर्णन किया है। स्वाध्याय करनेमें मन, वचन, काय, तीनों कारण सांसारिक विषयोंसे हटकर स्वाध्यायमें लग जाते हैं। इसलिये जितने कालतक यह जीव स्वाध्याय करता है, उतने कालतक परम निर्जरा होती है। स्वाध्यायकी सिद्धिके वास्ते पुस्तकोंकी प्राप्तिकी बहुत भारी आवश्यकता है। हमारे धर्म शास्त्र प्रायः संस्कृत और प्राकृत भाषाओंमें हैं। और आजकल इन दोनों ही भाषाओंका प्रचार बहुत ही कम हो गया है। इसलिये विद्वानोंका कर्तव्य है कि धर्मशास्त्रोंका देशभाषामें अनुवाद कर दें। और धनाढ्योंका कर्तव्य है कि उनको छपाकर बिना मूल्य अथवा अल्पमूल्यमें देकर सर्वसाधारणमें पुस्तकोंका प्रचार कर दें। छापेमें सरेसका बेलन तथा लेथोंमें अशुद्ध स्याही लगती है और कहीं २ अस्पृश्य शूद्रोंके हाथसे सब काम लिया जाता है इसलिये हमारा

कर्तव्य है कि, परमपवित्र जिनवाणीको छपानेके लिये एक स्वतन्त्र प्रेस बनावें। जिसमें रबरका पवित्र बेलन और शुद्ध स्याही काममें लाई-जावे तथा कर्मचारी म्लेच्छ अथवा अस्पृश्य शूद्र न रक्खे जावें। जब-तक इस प्रकारका प्रेस तय्यार न होवे तब तक जिनको हस्तलिखित शुद्ध ग्रन्थोंकी सुगमतासे प्राप्ति नहीं है वे उपलब्ध मुद्रित ग्रन्थोंका ही स्वाध्याय करें। स्वाध्याय न करनेकी अपेक्षा उपलब्ध ग्रन्थोंसे स्वाध्याय करना कहीं बढ़कर है। सुलभतासे पुस्तक प्राप्तिका सबसे बढ़कर साधन प्रत्येक नगर और ग्रामोंमें **सरस्वती भवनका**—स्थापन करना है। हमारे जिन पूर्वाचार्योंने अपने मुख्य धर्म, तप और ध्यानको गौणकरके हमारे उपकारके लिये अनेक ग्रन्थोंकी रचना की। आज उनकी सन्तानमें हम ऐसे अभागे उत्पन्न हुए कि, उन अमूल्य ग्रन्थोंको भंडारोंमें जीर्णशीर्ण देखते हुए अज्ञान और प्रमादके वशमें कभी उनको धूप भी नहीं दिखलाते। हमारी इस असावधानतासे हजारों ग्रन्थ दीमकोंकी जठराग्निको शमनकरके हमसे हमेशाके लिये बिदा हो गये। किसी भी मतकी चिरस्थितिका यदि कोई उपाय है सो उस मतके साहित्यकी रक्षा करना ही है। इसलिये यदि आप इस जिनधर्मको कुछ कालतक कायम रखना चाहते हो तो जगह २ पर सरस्वतीभवन नियतकरके जिनवाणीकी रक्षा और उसका घर घर प्रचार करो। यद्यपि सरस्वतीभवनकेलिये बाबू देवकुमारजीका प्रयत्न प्रशंसा योग्य है। परन्तु ऐसी योग्यताका सर्वत्र मिलना दुःसाध्य है। इसलिये सरस्वतीभवनकेलिये सर्वत्र भिन्नस्थान बनानेकी कोई आवश्यकता नहीं है। जैनमंदिर अथवा मठोंके ही किसी कमरेमें सरस्वतीभवनका कार्य बहुत अच्छी तरह चल सकता है। और यही रीति हमारे यहां प्राचीन कालसे चली आ रही है। प्रत्येक मंदिरोंमें सर्वत्र शास्त्र भंडार पाये जाते हैं। यह सब कुछ

है। परन्तु जब मठ व मंदिरोंकी व्यवस्थापर विचार किया जाता है तो, हृदय कांपने लग जाता है मंदिर तथा मठोंके प्रबन्धकर्ता प्रायः पुराने ढर्रेके आलसी महात्मा हैं। मंदिरभंडारोंके हिसाब किताबका कुछ भी पता नहीं है। जिन लक्ष्मीके लालोंके मंदिरभंडारका रुपया जमा हुआ तो मानौं वह उनकी मौरूसी पूंजी हो गई। अगर किसीने हिसाब मांगा तो उसकी कम्बख्ती आ गई। इस प्रकार मंदिर व मठोंकी दुर्व्यवस्था होनेसे मंदिरोंकी आमदनी घट गई और हमारे धर्म साधनमें बड़ी हानि पहुंच रही है। इसलिये मठ मंदिर तीर्थक्षेत्रादिकोंका संतोष-जनक प्रबन्ध होनेकी बड़ी भारी आवश्यकता है। यद्यपि इस सभाके तथा बंबई प्रांतिकसभाके प्रयत्नसे अनेक तीर्थक्षेत्रोंका संतोपजनक प्रबन्ध हो गया है परन्तु अभी अनेक तीर्थक्षेत्रोंके प्रबन्धकी आवश्यकता है। मंदिरादिकका प्रबन्ध करनेकेलिये स्थानीय गृहस्थोंकी नियमानुसार सभाएं स्थापित होकर हिसाब किताब तथा अन्य सब कार्यवाहीकी प्रतिवर्ष रिपोर्ट छपकर प्रकाशित होनी चाहिये। जिसप्रकार मंदिरोंकी दुर्व्यवस्था हो रही है उस ही प्रकार व्यापारियोंके धर्मादायकी भी बुरी हालत है। जिन महाशयोंके धर्मादायका रुपया जमा है उसको उन्होंने अपना निज द्रव्य समझ रक्खा है। बहुत महाशयोंका तो काम ही इस फंडसे चल रहा है। यदि धर्मादायके द्रव्यकी सुव्यवस्था की जावे तो उस द्रव्यसे कई संस्थाओंका काम अच्छी तरहसे चल सकता है। प्रत्येक व्यापारीको इस बातकी प्रतिज्ञा कर लेनी चाहिये कि वर्षके अन्तमें उक्त खातेका रुपया किसी संस्थाको भेजकर उक्त खातेको बराबर कर दें।

कर्मभूमिकी आदिमें ऋषभदेवस्वामीने क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इस प्रकार तीन वर्णोंकी स्थापना की थी। पीछे भरतचक्रवर्तीने क्षत्रिय वर्णमेंसे धर्मात्माओंको छांटकर ब्राह्मणवर्णकी स्थापना की। ये ब्राह्मण-निरन्तर आत्मकल्याण करते हुए अपनी विद्यासे इतर तीन वर्णोंका

अनेक प्रकारसे उपकार करते थे। उन ही ब्राह्मणोंकी सन्तानमें हमारे दक्षिणवासी उपाध्याय हैं। आजकल हमारे उपाध्याय महाशय विद्याविहीन और निर्माल्योपजीवी होकर अत्यन्त हीन अवस्थाको प्राप्त होगये। यदि ये महाशय निर्माल्यभक्षणको छोड़कर अपनेको विद्यासे भूषित करें और उचित अवस्थामें वानप्रस्थ तथा मुनिपदको ग्रहण करके अनेक देशोंमें देशाटन करते हुए धर्मोपदेश करें तो यह जैनधर्म शीघ्र ही राष्ट्रधर्मका गौरव प्राप्तकर संसारके समस्त जीवोंका यथार्थ कल्याण करे। आज यह कहते हमको बड़ा हर्ष होता है कि जबसे बीसवीं शताद्वीका प्रारम्भ हुआ है तबसे लोगोंके हृदयमेंसे पक्षपातका पचड़ा निकल गया है अब वे बाबावाक्यको प्रमाण माननेके लिये तैयार नहीं हैं। आज अनेक महाशय सत्यकी खोजमें लग चुके हैं। ऐसे समयमें यदि जैनधर्मके सत्य और अटल सिद्धान्त पबलिकके सम्मुख रक्खे जांय तो आशा है कि, जैनधर्मके सिद्धान्तोंको सत्यान्वेषी महाशय सच्चे उत्साहसे स्वीकार करेंगे। विस्तारके भयसे इस समय जैन सिद्धान्तविषयपर कुछ कहकर आपका समय लेना नहीं चाहता। यदि कुछ समय मिला तो फिर किसी दिन आपको उक्त विषयपर कुछ सुनाऊंगा अब अन्तमें जातिके अगुआ विद्वानोंसे प्रार्थना है कि वे गृहस्थाश्रमसे उपेक्षित होकर ब्रह्मचारी बन देशदेशान्तरोंमें देशाटन करते हुए सारे संसारमें जैनधर्मके अटल सिद्धान्त **अहिंसापरमोधर्मकी** विजयपताका फहराकर अतुल पुण्यका उपार्जन करें। इसप्रकार गृहस्थाश्रमके धार्मिकविषयको समाप्त करके आगे सामाजिक विषयपर विवेचन किया जाता है।

सामाजिक व्यवस्था।

श्लोकः—द्वौ हि धर्मौ गृहस्थानां लौकिकःपारलौकिकः।
लोकाश्रयाभवेदाद्यः परस्यादागमाश्रयः॥ १॥

सर्वमेव हि जैनानां प्रमाणंलौकिकोविधिः ।
यत्रसम्यक्त्वहानिर्न यत्रनोव्रतदूषणम् ॥ २ ॥

(उपर्युक्त श्लोकोंका भावार्थ इस प्रकार है कि, गृहस्थके दो धर्म हैं। एक लौकिक (सामाजिक) और दूसरा पारलौकिक (धार्मिक) लौकिक धर्म सामाजिक नियमोंके आश्रयसे चलता है । और पारलौकिक धर्म धर्मशास्त्रोंके नियमोंके अनुसार चलता है। किन्तु जो सामाजिक नियम सम्यक्त्व और चारित्रमें दोषोत्पादक हों वे सामाजिक नियम उपादेय नहीं हैं। अर्थात् धर्मशास्त्रोंसे अविरुद्ध ही सामाजिक नियम होने चाहिये) संसारमें जीवोंके मोहनीयकर्मकी तीव्र मंद उदयादिक अवस्थाके निमित्तसे श्रद्धान और आचरणमें अनेक भेद हो गये हैं। श्रद्धानके भेदसे धर्मभेद और आचरणके भेदसे समाज भेदकी उत्पत्ति होती है। किसी समाजमें धर्म और आचरण सदृश हैं और किसीमें आचरणकी समानता होनेपर भी धर्मकी सदृशता नहीं हैं। जिन मनुष्योंका परस्परमें पंक्तिभोजन और विवाह सम्बन्ध होता है। उनका ही एक समाज बन जाता है। और जिनका पंक्तिभोजन और विवाहसम्बन्ध परस्पर नहीं होता उनका समाज भी भिन्न होता है। समाजके मूलभेद दो हैं। एक आर्य और दूसरे म्लेच्छ। जो मनुष्य मांसोपजीवी हैं वे म्लेच्छ कहलाते हैं। और जो मांसोपजीवी नहीं है वे आर्य कहलाते हैं। किन्तु जो मनुष्य स्वयं तो मांसोपजीवी नहीं हैं परन्तु मांसोपजीवियोंके साथ उनका पंक्तिभोजन और विवाहसम्बन्ध है वे भी म्लेच्छ ही है। आर्य चार भागोंमें विभाजित हैं। अर्थात् जो शस्त्रोपजीवी हैं वे क्षत्रिय कहलाते हैं। जो मसिकृषिवाणिज्यसे आजीविका करते हैं उनको वैश्य कहते हैं। जो शिल्प और विद्योपजीवी हैं वे शूद्र कहलाते हैं। और जो आजीविकाका कुछभी उपाय न करके धर्म साधनपूर्वक स्वपरोपकार करते हुए इतर वर्णद्वारा भक्तिपूर्वक प्राप्तद्रव्यसे संतोषपूर्वक अपना जीवन निर्वाह करते हैं वे ब्राह्मण कहलाते हैं।

ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य ये तीन वर्णवाले उच्चकुली और मोक्षके पात्र हैं। शूद्र तथा म्लेच्छ नीचकुली मोक्षजानेके योग्य नहीं है। इस ही प्रकार मुनिलिंगको उच्चकुली ही धारण कर सकते हैं। उच्चकुली नीचकुलीके हाथका भोजन भी ग्रहण नहीं करते हैं। सन्तानक्रमसे जिनके उच्चाचरण चला आया है वे उच्चगोत्री और जिनके नीचाचरण चला आया है वे नीचगोत्री कहलाते हैं। तदुक्तं गोम्मट्टसारे।

गाथा—सन्ताणकमेणागय जीवायरणस्सगोद मिदिसण्णा।
उच्चंणीचंचरणं उच्चंणीचं हवेगोदम्॥ १३॥

हिंसादिक बाह्य तथा रागद्वेषादिक अभ्यन्तर क्रियाविशेषके त्यागको निश्चय चारित्र कहते हैं और अशुभ कार्योंसे निवृत्त हो शुभकार्योंमें प्रवृत्तिको व्यवहार चारित्र कहते हैं। गोत्रके लक्षणमें आचरण शब्दसे व्यवहार चारित्र ही अभिप्रेत है। अर्थात् शुभप्रवृत्तिको उच्चाचरण और अशुभ प्रवृत्तिको नीचाचरण कहते हैं। दुष्ट तथा परचक्रसे प्रजाकी रक्षाकर उसकी एवजमें भूमिकरादिक वसूल कर आजीविका करनेको असिकर्म कहते हैं। राजा तथा व्यापारीका लेनदेनका हिसाब लिखकर आजीविका करनेको मसिकर्म कहते हैं। भोगोपभोगकी सामग्रीको पृथ्वीमेंसे उत्पन्न करके आजीविका करनेको कृषिकर्म कहते हैं। भोगोपभोगकी कच्ची सामग्रीको स्वयं तैयार करके अथवा अन्यसे तैयार कराकर तथा तैयार की हुई पक्की सामग्रीका क्रय विक्रयकर आजीविका करनेको वाणिज्यकर्म कहते हैं। ये चारों ही कर्म शुभकर्म हैं। इसलिये इनसे आजीविका करनेवाले भी उच्चकुली हैं। यद्यपि मसिकर्ममें स्वामी सेवककी रूढि प्रसिद्ध है। परन्तु वास्तवमें स्वामित्व तथा सेवकत्व नहीं है। राज्य तथा व्यापारका कार्य अत्यन्त महत्त्वका है इसलिये उसको एक मनुष्य पूर्णरूपसे करनेमें असमर्थ है, अतएव अपने रिश्तेदार भाईबन्धु तथा जातीय सज्जनोंकी सहायतासे उसको पूरा करता है। और उनको परिश्रमका

फलस्वरूप कुछ देकर उनसे अपनी बराबरीका व्यवहार रखता है। भोगोपभोगकी सामग्रीको शारीरिक परिश्रमसे तैयार करके उसके प्रतिफलमें इनामके स्वरूपमें अथवा ठहराकर द्रव्य लेकर आजीविका करनेको शिल्पकर्म कहते हैं। तथा संगीतादिक नानाप्रकारकी विद्याओंसे दूसरेके चित्तको प्रसन्नकरके उनसे इनामके स्वरूपमें अथवा ठहराकर कुछ द्रव्यलेकर आजीविका करनेको विद्याकर्म कहते हैं। यह दोनों ही कर्म अशुभ हैं। क्योंकि इन कर्मोंमें अपनेसे दूसरेको उच्च मानकर गूढरूपसे याचनाका प्रयोग करना पड़ता है। और इस ही कारणसे इन कर्मोंसे आजीविका करनेवाले नीचकुली हैं। परन्तु जो महाशय निरपेक्षवृत्तिसे अपनी विद्याओंद्वारा परका उपकार करते हैं और उपकार्य महाशय भक्तिपूर्वक उपकारकी भेटके स्वरूपमें कुछ अर्पण करते हैं, ऐसी भेटको ग्रहण करना नीचकर्म नहीं है। अब यहांपर यह शंका उठ सकती है कि, जब उच्चता और नीचता आचरणके निमित्तसे है तो, यदि कोई चंडाल नीचकर्म छोड़कर उच्चकर्म करने लगे तो उच्चकर्मका प्रारम्भ करते ही उच्चकुली हो सकता है या नहीं? इस शंकाका समाधान इस प्रकार है। यह जीव अनादि सन्तानबद्धकर्मके उदयसे प्रतिक्षण कर्म नोकर्म वर्गणाओंका ग्रहण करता रहता है। जिस प्रकार कर्म वर्गणा शुभाशुभ अनेक प्रकार हैं उस ही तरह नोकर्म वर्गणा भी अनेक भेदरूप है। जिस समय जीवके शुभाचरणरूप परिणाम होते हैं, उस समय शुभ नोकर्मका बन्ध होता है, और जब अशुभ परिणाम होते हैं तब अशुभ नोकर्मका बन्ध होता है। जिस प्रकार कर्ममें स्थिति बन्ध होता है उस ही प्रकार नोकर्ममें भी स्थितिबन्ध होता है। इसलिये जो जीव चिरकालसे अशुभाचरण कर रहा है, उस जीवके अशुभनोकर्मका सत्त्व अधिक है। यद्यपि भूतभवका नोकर्म वर्तमानभवमें जीवके साथ नहीं आता है। तथापि मातापिताके रजवीर्यसे जो इसका शरीर बनता है

उसमें अनेक अशुभाचरणी पूर्वजोंके अशुभ नोकर्मकी सन्तान आती है। इस प्रकार अशुभाचरणी पुरुषका शरीर नोकर्म वर्गणाओंके अशुभ परमाणुओंसे बना हुआ है। यदि किसी जीवने अशुभाचरण छोड़ दिया तो उसके अशुभ परमाणुओंके बन्धका तो उस ही समय अभाव हो जाता है। परन्तु सत्तामें जो अशुभपरमाणु मौजूद हैं वे तो बन्धाभावमें निर्जराको प्राप्त नहीं होते, किन्तु उनकी निर्जरा अपनी२ स्थिति पूरी होनेपर होगी। इससे सिद्ध होता है कि नीचकुली अशुभाचरणके छोड़नेपर भी तत्काल शुद्ध नहीं हो जाता। किन्तु उसके शुद्ध होनेके लिये कुछ कालकी आवश्यकता होती है।/ जो कालशुद्धिको नहीं मानते उनके सूतक तथा सब बाह्यादिक प्रायश्चित्तकी शुद्धि नहीं हो सकती। बहुतसे महाशयोंका ऐसा कथन है कि जो अशुद्ध है वह हमेशा अशुद्ध ही रहेगा कभी भी शुद्ध नहीं होगा उनका कहना प्रमाणबाधित है। क्योंकि जो अशुभाचरणी अशुभाचरणको छोड़कर शुभाचरणकी तरफ लग जाते हैं उनके अशुभपरमाणुओंके बन्धका अभाव हो जाता है और पूर्वबद्ध परिमाणुओंकी कालक्रमसे निर्जरा हो जाती है, ऐसा न माननेसे या तो शुभाचरणियोंके भी अशुभ नोकर्मका बन्ध मानना पड़ेगा, या पूर्वबद्ध नोकर्मकी स्थिति पूरी होनेपर भी निर्जराका अभाव मानना पड़ेगा और ये दोनों ही बातें सिद्धान्तसे विरुद्ध हैं, तथा अवसर्पिणीके छठे और उत्सर्पिणीके प्रथम और द्वितीय कालवर्ती अशुद्धाचरणियोंकी सन्तान स्वरूप परम विशुद्ध तीर्थंकरोंमें भी अशुद्धताका प्रसंग आवेगा। गोत्रके लक्षण निरूपक गाथासूत्रमें जो आचरणका विशेषण सन्तानक्रमेण गत पड़ा हुआ है उसका भी उपर्युक्त युक्तियोंसे अविरुद्ध यही अभिप्राय है कि शुद्धि होनेकेलिये कुछकालकी आवश्यकता है।

जैन धर्मको राष्ट्रधर्म बनानेकी बात सुनकर हमारे बहुतसे भाई विचलित चित्त हुए हैं। उन्होंने समझ रक्खा है कि जैसे आर्यसमाजी मुसलमानोंको आर्य बनाकर तत्काल उनके हाथका भोजन खाने लगते हैं,

उस ही प्रकार जैन धर्मको राष्ट्रधर्म बनानेवाले भी नीचकुलियोंको जैनी बनाकर उनके हाथका भोजन खाने लगेंगे। सो ऐसा समझना उनका भ्रम है। सार्वधर्म परिषदका उद्देश्य जीवमात्रका जैनधर्मके द्वारा कल्याण करना है। सामाजिक व्यवस्थामें वह बिलकुल हस्तक्षेप नहीं करेगी। त्रैवर्णिचारादिक ग्रन्थोंसे यह बात पाई जाती है कि, उच्चवर्णका मनुष्य समवर्ण अथवा अपनेसे नीचवर्णकी कन्याके साथ विवाह कर सकता है। परन्तु अपनेसे उच्चवर्णकी कन्याके साथ विवाह नहीं कर सकता। समानवर्णके मनुष्य और स्त्रीसे जो सन्तान पैदा होगी उस सन्तानका वर्ण वही होगा जोकि उसके मातापिताका है और जो भिन्नवर्णवाले मातापितासे सन्तान उत्पन्न होगी वह सन्तान मिश्रवर्ण कहलावेगी, ये मिश्रवर्ण जातियां भी कालक्रमसे अपने २ पिताके वर्णको प्राप्त हो जाती हैं। मनुष्यसमाजमें उत्पत्तिकी अपेक्षासे दो भेद हैं। एक शुद्धकुलोद्भव और दूसरा अपध्वंसज। जो शील व्रतधारी मातापितासे उत्पन्न होते हैं वे शुद्धकुलोद्भव कहलाते हैं और जो व्यभिचारसे उत्पन्न होते हैं वे अपध्वंसज कहलाते हैं। एक गर्भाशयमें अनेक वीर्योंके मिलनेको व्यभिचार कहते हैं। एक पुरुषके अक्षतयोनि अनेक स्त्रियोंसे संभोग करनेपर व्यभिचार नहीं होता। किन्तु एक स्त्रीके दो पुरुषोंके साथ संभोग करनेपर ही व्यभिचार दोष होता है। इसलिये पुरुष अनेक विवाह करनेपर भी व्यभिचारी नहीं है किन्तु स्त्री दूसरा विवाह करते ही व्यभिचारिणी हो जाती है। (वीर्य ऐसा सचिक्कण पदार्थ है कि एक बार गर्भाशयमें पहुंचनेपर यदि वीर्य वहांसे निकल भी जाय तोभी गर्भाशयमें वीर्यके सूक्ष्मांश रह जानेकी अधिक संभावना है। कालान्तरमें उस ही गर्भाशयमें दूसरे मनुष्यका वीर्य पहुंचनेसे वीर्य संकर हो जाता है और उस मिश्रित वीर्यसे जो सन्तान उत्पन्न होती है वह उत्तम सन्तान नहीं होती, किन्तु अधम सन्तान होती है। ऐसी सन्तान मोक्षकी अधिकारिणी नहीं है। इसलिये व्यभिचारसे

उत्पन्न मनुष्योंकी मोक्षके पात्र न होनेसे शूद्र संज्ञा है / त्रैवर्णिचारमें कहा है "शूद्राणांतु सधर्माणः सर्वेऽपध्वंसजाः स्मृताः। उत्तम वर्णवालोंमेंसे यदि कोई इस प्रकारसे अपध्वंसज उत्पन्न हो जाते हैं तो वे जातिसे बहिष्कृत कर दिये जाते हैं और ऐसे अनेक मनुष्योंकी मिलकर दस्सा जाति हो जाती है। जिन दस्सोंमें उपर्युक्त व्यभिचारका प्रचार रहता है वे दस्से अशुद्ध ही समझे जाते हैं। परन्तु जो दस्से इस अधम कार्यका परित्याग करके अपने आचरणको सुधार लेते हैं उनकी सन्तान कई पुस्तमें जाकर शुद्ध हो जाती है। त्रैर्णिकाचारमें इसकेलिये इस प्रकार कहा है—

श्लोक—जात्युत्कर्षो युगेज्ञेयः सप्तमे पंचमेऽपिवा।
कर्मणांव्यत्ययेपिस्यात्पूर्ववच्चाधरोत्तरे॥ १॥

अर्थात् आचरणके सुधारनेसे नीच वर्ण पांच छह और सात पुस्तमें यथाक्रम उच्चवर्ण होजाता है और उच्चवर्ण आचरणके बिगाड़नेसे पांच छह और सात पुस्तमें यथाक्रम नीचवर्ण हो जाता है। इसलिये जिन दस्सोंको शुद्धाचरणरूप प्रवर्तते हुए उपर्युक्त प्रमाण काल व्यतीत होगया है वे दस्से अब बीसोंके समान होगये हैं और उनके साथ पंक्ति-भोजन और विवाह संबन्ध करनेमें कुछ दोष नहीं है।

मर्दुमशुमारीकी रिपोर्टसे ज्ञात होता है कि जैनियोंकी संख्या पाहिलेकी अपेक्षा घट गई है। इस घटीका प्रथम कारण स्वास्थ्य रक्षाकी असावधानता प्रतीत होती है। स्वास्थ्यकी रक्षा ठीक २ न होनेसे जन्मसंख्याकी अपेक्षा मृत्युसंख्या अधिक होती है। घटीका दूसरा कारण अनेक पुरुषोंका विना विवाह किये ही जीवन समाप्तकर मरजाना है। अनेक पुरुषोंके अविवाहित रहजानेका कारण यह है कि जैन समाज अनेक जातियोंमें विभक्त हो गया है, इसलिये प्रत्येक जातिकी संख्या बहुत न्यून होगई है और थोड़े पुरुषोंमें अनेक रिस्तेदारियां होनेके सबबसे गोत्र टालकर वर मिलना कठिन होगया है ऐसी अवस्थामें अनेक पुरुष

अविवाहित रहजाते हैं। घटीका तीसरा कारण बालविवाह है बालविवाहके होनेसे कच्ची उमरमें कच्चा वीर्य स्खलित होता है, जिससे प्रथम तो सन्तानोत्पत्तिही नहीं होती, कदाचित् सन्तान उत्पन्न भी हुई तो शीघ्र ही मरजाती है, कदाचित् अधिक कालतक भी जीवित रही तो बिलकुल निर्बल और विद्यादिक सद्गुणोंको धारण करनेके अयोग्य होती है। घटीका चौथा कारण वृद्धविवाह है। धनके लोभी मातापिता धनतृष्णासे अन्धे होकर अपनी प्रिय पुत्रियां योग्य वरको न देकर पुरुषार्थहीन वृद्ध नपुंसकोंके हवाले कर उनको जन्मभरके लिये घोर दुःखमें पटक देते हैं। वृद्धोंके संसर्गसे सन्तानकी उत्पत्ति भी नहीं होती और वे दुःखिनी बाला व्यभिचारका शरण लेकर उभय कुलको कलंकित करती हैं। घटीका पांचवां कारण अविद्या है अर्थात् बहुतसे महाशय जैन कुलमें उत्पन्न होकर भी अज्ञानवश यह भी नहीं जानते कि हम किस धर्मको अवलम्बन करनेवाले हैं और मर्दुमशुमारीके समय अपनेको हिन्दू लिखा देते हैं इसलिये संख्याकी वृद्धिके वास्ते हमारा कर्तव्य है कि, बालविवाह, वृद्धविवाह और अविद्याका जैनसमाजमेंसे काला मुंह कर दें और स्वास्थ्यकी रक्षाकी तरफ पूरा २ ध्यान दें। तथा उत्तम कुलियोंकी अपने २ वर्णमें भी जो पंक्तिभोजन और विवाहसम्बन्धकी संकीर्णता हो रही है उसको दूरकरके उदारताका परिचय दें। अब विधवाओंके कर्तव्यपर विवेचन किया जाता है।

एक पुरुष अनेक कन्याओंके साथ जिस प्रकार विवाह करलेता है उस ही प्रकार एक स्त्री भी अपने पूर्व पतिके मरण होनेपर दूसरे पुरुषके साथ विवाह करलेवें तो उसमें कुछ हानि नहीं है। ऐसे विचारवाले भोले महाशय विधवाओंका पुनर्विवाह करनेकी सम्मति प्रदान करते हैं। परन्तु उनका ऐसा विचार अविचारित रम्य है। स्त्री और पुरुषमें मनुष्यत्वकी अपेक्षा समानता होनेपर भी अनेक विशेषोंकी अपेक्षासे महान् अन्तर है। प्रथम तो स्त्री और पुरुषमें

भोज्य भोजक सम्बन्ध है। भोजनसे भरे हुए ऐसे अनेक थालोंमें जिनमेंसे किसी भी पुरुषने भोजन नहीं किया है एक पुरुष भोजन कर सकता है, परन्तु यदि एक थालमें किसी एक पुरुषने भोजन कर लिया है तो उस थालमें दूसरा पुरुष कदापि भोजन नहीं करता है। क्योंकि वह भोजन उच्छिष्ट होजाता है। उस ही प्रकार एक पुरुष अनेक अभुक्त स्त्रियोंका भोग कर सकता है, परन्तु भुक्त स्त्रीको उच्छिष्ट होनेसे कोई भी सत्पुरुष नहीं भोगता। विवाहका प्रयोजन हमारे बहुतसे भोलेभाइयोंने काम वासनाकी तृप्ति ही समझ रक्खा है। यदि कामवासनाकी तृप्ति ही विवाहका प्रयोजन होता तो विवाहबन्धनकी कुछ भी आवश्यकता न थी। विवाह-बन्धनके बिना भी पशुओंकी तरह कामवासना तृप्त हो सकती थी। विवाह-बन्धनका मुख्य प्रयोजन उत्तम सन्तानकी उत्पत्ति करना है। जैसा कि, पहिले कहा जा चुका है (उत्तम सन्तानकी उत्पत्ति एक पुरुषके अनेक अभुक्त स्त्री संभोग करनेसे हो सकती है किन्तु एक स्त्रीके अनेक पुरुषोंके साथ संभोग करनेपर उत्तम सन्तानकी उत्पत्ति कदापि नहीं होसकती)। विधवाओंको वैराग्यका उपदेश देकर विषयभोगोंसे विरक्त करा कर आर्यिकाकी दीक्षा दिलानी चाहिये और जो असमर्थ होनेके कारण आर्यिका नहीं हो सकती हैं उनको चाहिये कि वे वैधव्य दीक्षा धारण करके स्त्रीसमाजमें विद्या और धर्मका प्रचार करें। उत्तरदेशकी अपेक्षा दक्षिणदेशमें विद्या और धर्मका प्रचार कुछ न्यून होरहा है, इसकारण सभाका प्रधान कर्तव्य यह है कि अपने देशके स्त्रीसमाज तथा पुरुषसमाजमें विद्या और धर्मका प्रचार करनेमें तन मन धनसे प्रयत्न करें।

आजकल भारतवर्षका और इतर विदेशोंका लौकिक विद्या और वाणिज्यके सम्बन्धमें ऐसा घनिष्ट सम्बन्ध होगया है कि बिना विदेश गये लौकिक विद्या और वाणिज्यकी यथेष्ट उन्नति नहीं होसक्ती। परन्तु जब विदेशमें आचार निर्वाहपर विचार किया जाता है तो प्रतीत होता है कि

विदेशमें आचरण निर्वाह बहुत ही कष्ट साध्य है और इस ही कारणसे विदेश जानेवाले महाशय समाजसे बहिष्कृत किये जाते है, यद्यपि विदेशमें आचरण निर्वाह कष्ट साध्य है, तथापि असंभव नहीं है । इसलिये जो महाशय अपने आचरण निर्वाहकी पूर्ण सामग्रीका प्रबन्ध करके विदेशको जाते है उनको समाजसे बहिष्कृत करना अनुचित प्रतीत होता है । परन्तु जो महाशय उत्तम खाद्य तथा अनुचित स्पर्शसे अलित आचरण निर्वाहकी सामग्री एकत्र किये बिना ही विदेश चले जाते हैं वे अनुचित स्पर्शादि दोषोंसे अलिप्त नहीं रह सकते, इसलिये ऐसी अवस्थामें विदेश जानेवाले महाशय अवश्य ही प्रायश्चित्तके पात्र हैं । किन्तु जिन देशोंमें आचरण निर्वाहकी उत्तम सामग्रीके मिलनेका सुभीता हो उन देशोंमें जानेवाले महाशयोंको बहिष्कृत करना समुचित नहीं दिखता ।

आजकल हमलोगोंमें परस्परका ईर्षा द्वेष यहांतक बढ़गया है कि, एक २ जातिमें कई धड़े होगये हैं और धीरे धीरे होते जाते हैं । एक दूसरेकी बुराई करनेमें बिलकुल नहीं हिचकता, पंचायती नियमोंकी कोई परवाह नहीं करता और पंचायती दंडोंका कोई पालन नहीं करता । पंचायत स्थापन करनेका मुख्य उद्देश समाजमें शान्ति स्थापन था । परन्तु उस उद्देशको पैरोंसे कुचलकर अदालतोंमें मुकद्दमेबाजी करके बड़े २ धनाढ्य लंगोटी लगाकर फकीर बन गये । अदालतमें जाकर भी दूसरोंका ही कहना मंजूर करना पड़ता है । अगर समाजमें से ही कुछ सज्जनोंको परस्परके झगड़े तय करनेका अधिकार दे दिया जाता तो अदालतोंमें अपनी कठिन कमाईका द्रव्य व्यर्थ नहीं खोना पड़ता । परन्तु 'गई सो गई अब राखि रहीको' के अनुसार हमारा कर्तव्य है कि, जातीय पंचायतोंका गठन इस खूबीके साथ करें कि, जिससे हमारी सामाजिक व्यवस्थाभी ठीक होजाय और परस्परके दीवानी और फौजदारी झगड़े भी पंचायतसे फैसिल होजाया करें ।

आर्थिक व्यवस्था ।

जो महाशय विषयभोगोंको सर्वथा त्यागनेमें असमर्थ हैं और सिंह-वृत्ति मुनिधर्मको जो धारण नहीं कर सकते हैं वे अन्यायरूप भोगोंका त्यागकरके न्यायरूप भोगोंका सेवन करते हुए गृहस्थाश्रमका निर्वाह करते हैं। इस आश्रमके निर्वाहकेलिये धनकी बड़ी भारी आवश्यकता है। इस लिये जिन गृहस्थोंके पास धन नहीं है उनकेलिये यह गृहस्थाश्रम जीवन बड़ा ही दुःखमय है। निर्धन पुरुष सदा विह्वल चित्त रहते हैं और उनका प्रायः सर्वत्र निरादर ही होता है। मित्र पुत्र स्त्री आदिक सदा रुष्ट रहते हैं। इसलिये गृहस्थका प्रधान कर्तव्य धन उपार्जन करना है। (मनुष्य समाज आजीविकाके भेदसे चार वर्णोंमें विभक्त है। अर्थात् क्षत्रियोंकी आजीविका असिकर्म वैश्योंकी कृषि मसि वाणिज्य और शूद्रोंकी शिल्प और विद्या है। ब्राह्मण वर्णकी कोई खास आजीविका नहीं है। किन्तु इतर तीन वर्णोंके दिये हुए भक्तिपूर्वक दानसे सन्तोषपूर्वक अपना निर्वाह करते हुए धर्मसेवन करते हैं) किसी समयमें यह भारतवर्ष धन और विद्यामें संसारके समस्त देशोंका शिरोमणि गिना जाता था—समस्त देशोंने इस भारतके धन और विद्यासे अपनेको विभवशाली बनाया है। परन्तु खेदके साथ कहना पड़ता है कि, जो भारत एक दिन सबका गुरु था आज वह उनका शिष्य हो गया है। जो भारत एक दिन धनकुबेर समझा जाता था आज हमारी ही असावधानतासे वह एक दरिद्र भिखरी बन गया है। आज वह अपनी जठराग्नि शमन करनेके लिये दूसरोंके मुंहकी ओर ताक रहा है। क्या आप कभी इसका बिचार करते हैं कि, हम ऐसे क्यों होगये। प्यारे भाइयो इसका कारण और कुछ नहीं है किन्तु हम अपने ही प्रमाद अविद्या व परस्परकी ईर्षा आदिक दोषोंसे इस अवस्थाको पहुंच गये हैं।

बड़े हर्षका विषय है कि, भारतके कुछ शुभचिन्तकोंकी कृपा और प्रयत्नसे मुर्दोंसे बाजी लगाकर सोनेवाला भारत जागृत हुआ है। जगह २ सभा सुसाइटीये होने लगी हैं। अनेक पाठशाला स्कूल ब्रह्मचर्याश्रम और गुरुकुल खुलगये हैं और खुल रहे हैं। ऐसे शुभ चिह्नोंसे आशा होती है कि अब भारतके कुछ अच्छे दिन आने वाले हैं। इस समयमें हमारा कर्तव्य है कि, जिन प्रमाद, अविद्या, विलासप्रियता, निर्बलता, जन्मभूमिवत्सलता, सन्तोष, भयभीतता, फूट और ईर्षादिक दोषोंसे हमारी यह अवनत अवस्था हुई है उनको बहिष्कृत करके उद्योग, साहस, धैर्य, बल, बुद्धि, पराक्रम, स्वदेशप्रेम, एकता और सत्यप्रियता आदिक गुणोंसे अपनेको विभूषित करके पुनः इस भारतको उन्नतिके शिखरपर पहुंचा देवें। किसी देशको समृद्धिशाली बनानेका प्रधान उपाय उस देशके कृषि शिल्प और वाणिज्यकी उन्नति है। जिन २ देशवासियोंने कृषि शिल्प और वाणिज्यकी उन्नति की है वे आज धन कुबेर बनरहे हैं और जिन्होंने कृषि शिल्प वाणिज्यको निरादर और प्रमादसे पद दलित किया है वे स्वयं पद दलित हो रहे हैं। जो पदार्थ हमारे देशमें उत्पन्न नहीं होते किन्तु दूसरे देशोंसे आते हैं, हमारा कर्तव्य है कि उन पदार्थोंको हम अपने देशमें ही उत्पन्न करें जिससे कि हमको दूसरे देशोंका मोहताज न रहना पड़े। तथा कृषिके सम्बन्धमें विदेशियोंने जो नये २ आविष्कार किये हैं हमारा कर्तव्य है कि उनको अमलमें लाकर उससे लाभ उठावें। नवीन आविष्कारोंके प्रयोगसे पुराने प्रयोगोंकी अपेक्षा कई गुणा अधिक लाभ हो सकता है। जिस प्रकार पाश्चिमात्य विद्वानोंने कृषि आदिक के सम्बन्धमें नवीन २ आविष्कार किये हैं। उस ही प्रकार हमारा भी कर्तव्य है कि नवीन २ आविष्कार करें। भारतवर्षकी बहुतसी भूमि बंजर पड़ी हुई है। जो हमारे बहुतसे भाई आलस्यका आश्रय लेकर निकम्मे बैठे रहते हैं, हमारे नेताओंका कर्तव्य है कि उन निकम्मोंका आलस्य छुड़ा-

कर ऊसर भूमिको आबाद कर भारतकी श्री वृद्धि करें। हमारा कर्तव्य है कि भारतवसुंधरासे अपनी तथा विदेशियोंकी जरूरतके पदार्थ उत्पन्न करके भारतके धनको विदेश जानेसे रोकें और विदेशका धन भारतमें लाकर इस दरिद्रभारतको पुनः पहलासा संपत्तिशाली बना दें। भारतके शिल्पकी जैसी अधोदशा हुई है उसका चिन्तवन करनेसे भी कलेजा थर्राने लगता है। आज अगर विदेशी लोग भारतसे अपना हाथ खींच लें तो हमारे सब काम बंद हो जायं। और बातोंकी कथा तो दूर रही हम दियाबत्ती तथा चूल्हेमें आग जलाना भी विदेशियोंकी कृपाभूत दियासलाईके बिना नहीं कर सकते। हमारे यहांकी कच्ची सामग्री रुई वगैरह एक रुपयेकी तीन सेर यहांसे सात समुद्र पार जाती है और उस ही सामग्रीके कपड़े आदि तीन रुपयेके एक सेरके भावमें हमें ही बेचे जाते हैं। हमारे प्रमाद और अविद्यासे हमारे हिस्सेकी रोटी दूसरोंके पेटमें जाती और हम भूखके मारे तड़फड़ा और चिल्ला रहे हैं। हमारी मूर्खतासे हमारा ही करोड़ों और अर्बों रुपया तीन तथा चार आने सैंकड़ेके सूदपर विदेशियोंके पास जमा है। जिससे कि वे सैंकड़ों कारखाने खोलकर लाखों रुपये पैदाकर अपने देशको समृद्धिशाली बना रहे हैं और हम निरा व्याजमें संतोष करते हुए तोंद फुलाकर तकियेके सहारे लेटे लेटे अपने जीवनको कृतकृत्य समझ रहे हैं। हमारे भारतवासी शिल्पकार विद्याके बिना विदेशी शिल्पकारोंसे परास्त होकर अपने रोजगारको छोड़ बैठे हैं और थोड़ी बहुत अंग्रेजी सीखकर विदेशियोंकी सेवा करके अपना निर्वाह कर रहे हैं। परन्तु खेद है कि इस भेड़ा चालसे आजकल महात्माओंकी इतनी बहुतायत हो गई है कि, अब उन बिचारोंको नौकरी भी नहीं मिलती और अपना मौरूसी रोजगार करनेमें अब बाबूसाहब अपनी हतक समझने लगे हैं। इस प्रकार यह दीन हीन भारत दिनपर दिन रसातलको चला जा रहा है। हम लोग लैक्-

चरबाजी तो बहुत कुछ करते हैं, परन्तु अमली कारवाई की ओर हमारा बिलकुल ध्यान नहीं है, मिश्री २ कहनेसे मुंह कभी मीठा नहीं होगा। प्यारे भाइयो हमारा कर्तव्य है कि, जगह २ पर कृषि और शिल्प विद्यालय खोलकर नये आविष्कारोंके अनुसार अपनी सन्तानको शिक्षित बनावें तथा आप स्वयं अमली कारवाई करके कृषि और शिल्पकी यथेष्ट उन्नति करें। धन उपार्जन करनेके समस्त उपायोंमें वाणिज्यका नम्बर सबसे ऊंचा है। इतर उपायोंसे द्रव्यकी परिमित आय होती है किन्तु वाणिज्यसे अपरिमित द्रव्यकी आय होती है। जो भारत एक दिन वाणिज्य विषयमें सबका दादा गुरु गिना जाता था, आज उस भारतका वाणिज्य पद दलित हो रहा है। वाणिज्यका मक्खन आज विदेशी व्यापारी उड़ा रहे हैं और हमारे भारतवासी आढ़त दलाली और व्याजरूपी छाछमें सन्तोष करके अपने जीवनको कृतकृत्य समझ रहे हैं। आजकल वाणिज्यका घनिष्ट सम्बन्ध विदेशोंसे है, इसलिये जब तक हम जन्मभूमिका झूटा ममत्व छोड़कर विदेशोंमें वाणिज्यके अड्डे नहीं जमावेंगे तथा जबतक हम भारतवासी मिलकर अनेक कंपनियां खोलकर नेशनल बैंक और कारखाने जारी नहीं करेंगे और देश प्रेमसे हम स्वदेशी वस्तु ही व्यवहार करनेकी प्रतिज्ञा धारण नहीं करेंगे तबतक हम वाणिज्यकी यथेष्ट उन्नति करनेमें कदापि समर्थ नहीं होंगे। यह विषय बहुत ही गम्भीर है और मेरे लिये समय थोड़ा है इस कारण इस विषयको मैं संक्षेपमें ही कहकर समाप्त करता हूं।

धन उपार्जन करके भी जो महाशय धनका उपयोग करना नहीं जानते वे संसारमें कदापि सुखी नहीं हो सकते हैं। धन उपयोगका मूलतत्त्व आमदनीसे कम खर्च करना है। जो आमदनी कम खर्च करते हैं वे सदा सुखी रहते हैं। प्रत्येक मनुष्यका कर्तव्य है कि, अपनी आमदनीका कुछ भाग तो आपत्ति कालके लिये अलग निकाल-

कर रक्खें औ कुछ भाग धर्म कार्यमें लगावें और शेषको खर्चमें लगावें। प्रमद और अविद्याके निमित्तसे हमारे अनेक भाइयोंकी आमद इतनी कमती होगई है कि धर्म और विपत्तिकालके लिये अलग निकालनेकी बात तोअलग रहो। वे उस आमदनीसे अपना निर्वाह भी नहीं कर सकते हैं औ ऐसी अवस्थामें वे ऋणके चक्करमें पड़कर जन्मभरके लिये दुःखी हो जाते हैं। बहुतसे महाशय वस्त्रादिककी बाहरी चकाचकीके झूठे शौकमें फंसकर अपनी आमदनीसे अधिक खर्चकी पूर्ति करनेके लिये ऋणका आश्रय लेते हैं और जब ऋण चुकानेमें असमर्थ होते हैं तब नाना प्रकारके अन्यायोंमें प्रवृत्त होकर अपने जीवनको नष्ट भ्रष्ट करदेते हैं। तथा ऋण न चुकानेके कारण कुरकी कारागार आदिक अनेक भयानक घटनाओंका सामना करना पड़ता है एक बार खाकर तथा एक पैसेके चनोंसे पेट भर कर अथवा भूखे ही सोजाना अच्छा है परन्तु ऋणका भार सिरपर लेना कदापि श्रेयस्कर नहीं है। हमारे बहुतसे भाई अपनी आमदनीमें जिसतिस प्रकार भोजन वस्त्रका तो निर्वाह करलेते हैं परन्तु जब उनकी सन्तानके विवाहका मौका आता है तब उनका धैर्य विदा हो जाता है—विवेक उनसे कोसों दूर भाग जाता है। और ईर्षा अभिमान उनपर पूरा २ अधिकार जमा लेता है। "अमुक पुरुषने अपने विवाहमें दो मिठाई बनाई थी मैं जबतक पांच मिठाई नहीं बनाऊं तो मेरी बात बिल्कुल फीकी पड़ जायगी। हमारे बापदादोंने किसी भी विवाहमें दो हजारसे कम नहीं लगाये। अब जो हमने वैसा विवाह नहीं किया तो हमारी नाक कट जायगी" इस प्रकार मिथ्या अभिमान और झूटी ईर्षाके चक्करमें पड़कर अपने पास धनके न होनेपर भी मकान तथा जेवर गिरवीं रखकर अथवा मकान जेवरके अभावमें ऋण लेकर झूटी तारीफ लूट सदाके लिये

अपनेको आपत्तिमें डाल देते हैं। बहुतसे भाई इस झूठी तरीकके लूटनेके लिये अपनी बेटीतकको बेचनेमें नहीं शरमाते। बहुतसे भाइयोंको जातिके पंचोंकी उदरज्वाला बुझानेके लिये ही अपनी कन्याका विक्रय करना पड़ता है। धिक्कार है उन कन्याविक्रय करनेवालोंको और कोटिशः धिक्कार है उन पंचोंको जो कन्याविक्रयके धनसे बने हुए लड्डू उड़ाकर मूछों-पर ताव देते है। पंचोंका कर्तव्य है कि जो महाशय कन्या विक्रय करें उनके विवाह भोजनमें कदापि शामिल न हों और जो उनके विवाह क्रियाओंमें शामिल होना चाहें वे महाशय अपने घर भोजन करके शामिल होवें। धर्मके अंगोंमें भी धन खर्च करनेकी उपयोगितापर हमें अवश्य विचार रखना चाहिये। धर्मके प्रतिष्ठादिक अंगोंमें आजकल धन खर्च करनेकी उतनी आवश्यकता नहीं है जितनी कि विद्यावृद्धि विषयमें खर्च करनेकी आवश्यकता है। इसलिये समयानुकूल विचार करके आवश्यक अंगोंमें ही धन खर्च करना ही धनकी सच्ची उपयोगिता है। धनकी उपयोगिताकी तरह समयकी उपयोगिताकी भी बड़ी आवश्यकता है। जो समयकी कदर नहीं करते समय उनकी भी कदर नहीं करता। और जो समयकी कदर करते हैं आज उनकी दुनियांभरमें खूब कदर हो रही है। हम लोगोंने निकम्मे बैठकर समयके दुरुपयोग करनेको ही सुख समझ रक्खा है। हमारे बहुतसे भाइयोंके पास लाखों और करोंडोंका धन है। वे ओफिसका सब काम गुमाश्ताके भरोसे छोड़कर सोने और गप्प उड़ानेमें ही समय बिताकर अपने मनुष्य जन्मको सफल मानते हैं। परन्तु प्यारे भाइयो मनुष्य जन्म पानेकी यह सच्ची सफलता नहीं है। आपको अपने युवराजसे जो कि जहाजोंमें खलासीका काम करके अनुभव प्राप्त कर रहे हैं, कुछ शिक्षा प्राप्त करनी चाहिये। इस प्रकार गृहस्थाश्रमका संक्षिप्त स्वरूप कहकर अब वानप्रस्थ और यत्याश्रम विषयपर अति संक्षेपसे विवेचन करके मैं अपने व्याख्यानको समाप्त करूंगा।

वानप्रस्थ और यत्याश्रम।

गृहस्थ धर्मके प्रतिमाओंकी अपेक्षासे जो ग्यारह भेद किये थे। उनमेंसे दसवीं और ग्यारहवीं प्रतिमाके चारित्र निर्वाहको वानप्रस्थ-आश्रम कहते हैं। इन प्रतिमाओंका विस्तृत स्वरूप श्रावकाचारसे जानना। जो महाशय दिगम्बर रूप धारण करके अट्ठाईस मूलगुणका तथा चौरासी लाख उत्तरगुणका पालन करते हैं वे यति कहलाते है और इन यतिओंके चारित्र निर्वाहको यत्याश्रम कहते हैं। यतिओंके चारित्रका सविस्तर कथन चरणानुयोगके ग्रन्थोंसे जानना।

आज खेदके साथ कहना पड़ता है कि चतुर्थकालम जो जगह २ पर मुनियोंके संघोंका विहार होता था और जिससे जैनधर्मकी सच्ची प्रभावना होती थी। आज उन सिंहवृत्तिधारी ऋषियोंके दर्शन भी दुर्लभ होगये हैं। उन प्राचीन ऋषियोंकी पद परंपरामें आज जो भट्टारक महाशय हमारे सम्मुख उपस्थित हैं वे आरंभ परिग्रहयुक्त होकर आगमानुसार मुनिपदसे च्युत होगये हैं। इन महाशयोंसे हमारी सविनय प्रार्थना है कि वे आरंभ परिग्रहका त्याग करके प्रायश्चित्त पूर्वक पुनर्दीक्षित होकर सूत्रानुसार अट्ठाईस मूलगुणका पालन कर समाजकी दृष्टिमें पुनः यथार्थ गौरवके पात्र बने। पूर्वाचार्योंकी स्पष्ट आज्ञा यही है कि किसी व्रतको धारण करनेके पहले इस बातका अच्छी तरह विवेचन कर लेना चाहिये कि, मैं इस व्रतका निर्वाह कर सकूंगा या नहीं और विचारपूर्वक ग्रहण किये हुए व्रतका प्रयत्नपूर्वक निर्वाह करना चाहिये। कदाचित प्रमादसे गृहीत व्रतमें कुछ दोष लग जाय तो प्रायश्चित लेकर पुनः दृढतापूर्वक व्रतका पालन करना ही कर्त्तव्य है।

जिस प्रकार प्रजाके शासनकेलिये न्यायनिष्ठ राजाकी आवश्यकता है। अथवा जिस प्रकार मुनि समाजके शासनके लिये धर्माचार्यकी जरूरत है, उस ही प्रकार गार्हस्थ्य समाजके शासनकेलिये गृहस्थाचार्यकी आवश्य-

कता है। यद्यपि स्वतन्त्रता एक महत्त्वपूर्ण गुण है और जो इस गुणके पात्र हैं वे इससे नानाप्रकारके लाभ उठा सकते हैं। परन्तु अपात्रके पल्ले पड़कर इस गुणसे लाभके बदले हानि ही होती है। नीतिकारनेभी ऐसाही कहा है कि—

गुणागुणज्ञेषु गुणा भवन्ती इत्यादि।

भावार्थ—अज्ञानी मनुष्य गृहस्थाचार्यके विना मदोन्मत्त स्वच्छन्द हस्तीकी तरह गृहस्थाश्रमरूपी वागको विध्वन्स करडालते हैं। इसलिये हमारा कर्त्तव्य है कि अपने समाजमेंसे किसी विद्वान धर्मात्माको गृहस्थाचार्यके पदपर नियुक्त करके समाजकी दीक्षा शिक्षाका भार उसके सुपुर्द करें। अपनी कठिन कमाईके द्रव्यमें से उचित दान देकर अनेक विद्यालय, औषधालय, अनाथालय, अन्नसत्रादिक उपयोगी संस्था स्थापन करके उक्त गृहस्थाचार्यको उसका प्रबन्धकर्त्ता बनावें। इन गृहस्थाचार्यके निर्वाहके लिये हमारा कर्तव्य है कि हम भक्तिपूर्वक अपनी शक्त्यनुसार उनकी हरतरहसे सहायता करें और वे सन्तोषपूर्वक अपना निर्वाह करते हुए हरतरह समाजका उपकार करें। संस्थाओंके संचालनके लिये हमको चाहिये कि उचित नियम बना दें। जो गृहस्थाचार्य अपने कर्त्तव्यसे च्युत होकर अन्यायमें प्रवर्तने लग जाय तो हमारा कर्त्तव्य है कि उसको गृहस्थाचार्यके पदसे च्युत करके उस पदपर किसी अन्य योग्य महाशयका आयोजन करें। इस प्रकार संक्षेपसे आवश्यक विषयोंका विवेचन करके मैं अपने व्याख्यानको समाप्त करताहूं। मेरे इस व्याख्यानमें संभव है कि, अज्ञान और प्रमादसे अनेक त्रुटियां रहगई हों जिनके लिये मैं आशा करताहूं कि आपसरीखे उदारचित्त महाशय क्षमा प्रदान करेंगे। अब मैं सबजैक्ट कमेटीके चुनेजानेकी प्रार्थना करके मैं अपना आसन ग्रहण करताहूं

मूल संशोधन।

पिछले तीसरे चौथे अंकमें प्रकाशित—**अपराजिता** प्रवासीमें प्रकाशित चारु बाबूकी एक **गल्पका** अनुवाद है। मूलसे लेखके नीचे यह बात छपनेमें रह गई।

जैनमित्र कमेटीका देशोपकार।

उक्त कमेटीने श्रीमान् राजराजेश्वर भारत सम्राट्के राज्याभिषेकके उपलक्षमें प्रस्ताव स्वीकृत किया है कि निम्नलिखित तीनों दवाईयें सर्वसाधारणको मुफत वितीर्ण की जावें। अतएव जिन महाशयोंको जरूरत हो पोस्टखर्चके लिये एक आनेका टिकिट भेजकर दवा मुफत मंगवा लें॥

नं० १ बालहितकारी बटिका

नं० २ नेत्रांजन बटी

नं० ३ गोली दद्रुदाहनी

पता—मैनेजर **जैनमित्र कमेटी** कार्यालय,

पो० करहल जिला मैनपुरी।

पुरुषार्थसिद्ध्युपाय।

श्रीअमृतचन्द्रसूरिकृत मूल श्लोक, और नाथूरामप्रेमीकृत अन्वयार्थ भावार्थ सहित। यह ग्रन्थ एक बार छपकर बिक गया था, कई वर्षोंसे यह ग्रन्थ नहीं मिलता था। इस कारण फिरसे संशोधन कराकर छपाया गया है। यह ग्रन्थ जैनतत्त्वोंका भाण्डार है। इसकी प्रशंसा लिखकर ग्रन्थका महत्त्व घटाना है। कागज छपाई साईज पसन्द है। न्यो० एक रुपिया।

बालबोध जैनधर्म।

तीसरा भाग

इसके दो भाग पहिले छप चुके हैं। स्कूलोंमें तथा बालकोंको धार्मिक शिक्षाके लिये अत्यन्त उपयोगी पुस्तक है। मूल्य दो आना।

मिलनेका पता—**श्रीजैनग्रन्थरत्नाकर कार्यालय,**

हीराबाग, पो० गिरगांव—**बम्बई**

DAYANANDA KA SACHCHA SHASTRARTHA

OR

KASHI SHASTRARTHA

BY

VIDYA VARIDHI SAHITYOPADHYAYA

PANDITBARA

MATHURA PRASAD DIKSHIT.

Price 4 annas.

॥ श्रीः ॥

काशी के विद्वानों और दयानन्दजी का

सच्चा-काशी शास्त्रार्थ।

जिसको।

साहित्योपाध्याय विद्यावारिधि भगवन्ननगर जि० हर्दोई निवासी पण्डित वर मथुराप्रसाद दीक्षितजी ने रचना कर प्रकाशित किया।

बी. एल. पावगी द्वारा।
हितचिन्तक प्रेस, रामघाट बनारस
सिटी में मुद्रित हुआ।

प्रथमवार) सन् १९१६ (मूल्य ।)

भूमिका

मैं काशी क्वीन्सकालेज में मध्यमादि परीक्षा देकर जब आचार्य परीक्षा दे रहा था उस समय अपने एक मित्र से सुना कि दयानन्दियों का सिद्धान्त है कि प्रतिमापूजा सनातनधर्मियों में जैन संप्रदाय से आई है, और सनातनधर्म में प्रतिमापूजा का प्रचार हुए दो हजार वर्ष हुए हैं, यह बात सुनकर मैं जैन (आर्हत) ग्रन्थ देखने लगा, उस समय काशी में प्रह्लादघाट पर अभिधान राजेन्द्र नामक एक कोष (डिक्सनरी) बनता था, मैं उस के निर्माण में नियुक्त हुआ, मैं उक्त कोश का संग्रह, प्रकाशन (छपाना) और संशोधन का कार्य दशवर्ष तक किया, और समस्त जैन ग्रन्थ आद्यन्त मेरे देखने में आए, परंतु मुझे कहीं पर यह लेशमात्र भी मालूम न हुआ कि प्रतिमापूजा जैनियों ने ही चलाई है और न यही मालूम हुआ कि दो हजार वर्ष से चली है, प्रत्युत कई जगह जैन ग्रन्थों में लिखा है कि अनादि काल से प्रतिमा पूजा चली आती है, सच पूछो तो स्वामीदयानन्द जी ने, जैन संप्रदाय में एक ढुंढक संप्रदाय है उस का अनुकरण किया है, ढुंढक संप्रदायी जैनी मूर्ति नहीं मानते हैं, स्वामीजी का भी यही सिद्धान्त है, ढुंढक संपूर्ण जैन ग्रन्थों को नहीं मानते हैं, अर्थात् सूत्र भाष्य, नियुक्ति, चूर्णि, टीका, यह पञ्चाङ्गी कहाती है इस को ढुंढकों के अतिरिक्त सभी जैनी प्रमाण मानते हैं, ढुंढक केवल सूत्रों को ही प्रमाण मानते हैं, उक्त स्वामीजी भी केवल वेदही को प्रमाण मानते हैं, ढुंढक सब उपनिषद पुराण इतिहास को प्रमाण नहीं मानते हैं । सम्पूर्ण सूत्रों को भी प्रमाण नहीं मानते हैं, अर्थात् पैतालीस सूत्र (ग्रन्थ) हैं, उन में केवल बत्तीस ग्रन्थ प्रमाण मानते हैं, और तेरह ग्रन्थ अप्रमाण मानते हैं, यदि बत्तीस ग्रन्थों के ही मध्य में पैतालिस ग्रन्थों के नाम प्रमाण मानने में आजांय तो उस पाठ को प्रक्षिप्त कहकर छुटकारा कर देते हैं. स्वामीजी भी सब वेदों को प्रमाण नहीं मानते हैं, केवल संहिता भाग को ही प्रमाण मानते हैं, और संहिता भाग में भी जब अवतार, श्राद्ध, तीर्थ, प्रतिमादिकों के प्रमाण मिलते

है तब उसका अयुक्त अर्थ करने लगते हैं और यदि उस से भी छुटकारा न हुआ तो ढूंढकों की युक्ति तयार रखते हैं, ढूंढक भी तीर्थ नहीं मानते हैं, स्वामी, जी भी तीर्थ नहीं मानते हैं अब सामाजिक भाइयों ! सोचो कि दयानन्दजी ने अपना संप्रदाय ठीक जैन ढूंढकों को देखकर चलाया है या नहीं, क्या कुछ भी ढूंढकों की बात छोड़ी है, जब आप के सामने ढूंढक संप्रदाय विद्यमान (मौजूद) है, और आप संशोधक हैं, तो देखिये कि यह नया ढंग नवीन जैन ढूंढक संप्रदाय को देखकर मनमाना अपना संप्रदाय (मजहब) स्वामीजी ने चलाया है या नहीं, (ढूंढक संप्रदाय करीबन तीन सौ वर्ष से चला है यह संप्रदाय-मीमांसा, में मैं लिखूंगा) और सनातन वैदिक संप्रदाय को नवीन कहकर लोगों को भ्रान्त करना चाहते हैं, जब यह मुझे निश्चय रूप से मालूम हुआ, तब मैंने गुजरात में बढमार गणदेवी इत्यादि गावों में सामाजिक विद्वानों से शास्त्रार्थ कर के बहुत से निराग्रही सामाजिकों का सत्य सनातनधर्म में लाया अस्तु कुछ काल के अनन्तर मैं इस अभिधान राजेन्द्र कोश के कार्य से, जो कि बनारस में रतलाम मालवा में आ गया है, वहां से लाहौर चीफ्स (राजकुमार) कालेज में आया हूं मुझे यहां आए चार वर्ष हुए, यहां कतिपय लोगों ने मुझ से जिज्ञासा की, कि दयानन्दजी का काशी में जो शास्त्रार्थ हुआ था उस में किस का जय हुआ था ? मैंने उन लोगों से कहा कि दयानन्दजी निरुत्तर हो गए थे। यह मुझे विलक्षण रूप से मालूम है, परंतु इतने से उन लोगों को संतोष न हुआ क्यों कि यहां सामाजिकों ने अपने तरफ से मनमाना (कपोल कल्पित) काशी का शास्त्रार्थ छपाकर प्रसिद्ध कर रक्खा है, जो जो प्रमाण के लिये पाठ दिये गये थे, उन पाठों को नहीं दिखाया है पाठ के देखने से साफ जय पराजय का निश्चय हो जायगा, महाशयो देखो पुराण प्रमाण के लिये जो पाठ दिया गया है, उस के अर्थ करने में अथवा अर्थ बदल ने में यदि सब दयानन्दी मिलजांय तब भी अर्थ नहीं बदल सकता, लेकिन आश्चर्य यह है कि कपोल कल्पित काशीशास्त्रार्थ में पाठ न दिखा कर जो कह दिया गया कि 'पुराण विद्या' यह पाठ माधवाचारी जी ने दिया है यह कितना अन्याय है, असल

पाठ को छिपाकर लोगों को जो अन्धकार में डालते हैं, उन को इस घृणित निन्दनीय कार्य को छोड़कर सच्चा पाठ दिखा देना चाहिये शुक्ल यजुर्वेदीय शतपथ का पाठ जो कि उस समय माधवाचारी जी ने दिखाया था वही यहां दिखाया गया है, जिस से स्पष्ट मालूम होता है, कि अश्वमेध प्रकरण में "अष्टमेऽहन्" के प्रकरण में "इतिहासो वेदः" है "और नवमेऽहन्" के प्रसङ्ग में "पुराणं वेदः" है, जो कि पूरा पाठ दिखाया गया है और जिस को बहुत कालतक दयानन्द-जी पत्रा लौट पौट कर देखते रहे और अन्त में पत्रों को रखकर चुप होकर नीचा शिरकर करके बैठ गये थे, देखो और विचारो यह पाठ स्वामीजी को नीचा दिखा सकता है या नहीं ? इस सच्चे काशी शास्त्रार्थ में जो मनुष्य जो कुछ बोला है वही लिखा गया है यहां तक कि भाषा में भी अनुकरण किया गया है, यह विषय उस समय संस्कृत में प्रत्नकम्प्र नन्दिनी नामक जो मासिक पत्रिका निकलती थी उसी से उद्धृत किया गया है । मुझे उक्त पत्रिका गवर्नमेन्ट लाईब्रेरियन् पं० विन्ध्येश्वरी प्रसाद जी की सहायता से उपलब्ध हुई थी । हम आशा करते हैं कि इस सत्य काशीशास्त्रार्थ को देखकर सामाजिक भाई आग्रह को छोड़कर दयानन्दजी का पराजय मानकर कल्पित (जैन ढूंढकों का अनुकरण करनेवाले) आर्य समाज को छोड़कर सत्य वैदिक सनातनधर्म को स्वीकार करेंगे ।

अलंबहुना—पं० मथुराप्रसाद दीक्षितः ।

॥ श्रीः ॥

दयानन्दका-सच्चा शास्त्रार्थ।

काशीस्थराजसभायां प्रतिमापूजनविचारः।

यथाक्रममिममवगन्तुमनेके कुतूहला इति वचसा पत्रादिना च विज्ञापयिह यत्ननोऽवतार्यते ।

कश्चिद्दयानन्दो नाम साधुः सद्धर्माविर्भावेना-सद्धर्मपरिलोपनेऽहंकृतसंकल्प इति घोषयन्नकस्मा-दावेदयत्काशीनरेशं श्रीमदीश्वरीप्रसादनारायण-सिंहमशास्त्रीयत्वात्प्रतिमापूजनमवैधमिति विचा-

नोट—गुर्जर निवासी व्याकरणाद्यंकु सामवेदे च कृतश्रमः किन्त्वनधीतन्यायदर्शनकर्ता दर्शनविहीनो मथुरायां निवसतिस्म, कश्चिदन्योऽनेक पण्डितमनोविरुद्धः प्रतिमापूजनादीनामवैधत्ववादी तस्य शिष्यश्च [illegible] सुदीर्घकायः पुष्टावलवांश्चलक्ष्यते।

महाराज बनारस की सभा में प्रतिमापूजन विषयक शास्त्रार्थ—

इस शास्त्रार्थ के यथार्थ ठीक २ स्वरूप (हाल) जानने के लिये बहुत लोगों ने मुझसे अपनी उत्कण्ठा प्रकाशित(जाहिर) की और मेरे पास अनेक पत्र आये इस से मैं यहां पर (इस पुस्तक में) इस शास्त्रार्थ को प्रकाशित करता हूं।

कोई दयानन्द नामक एक साधु था जो कि लोगों में अपनी इस प्रसिद्धि को जाहिर करता था कि मैं यथार्थ धर्मका स्थापन, और पाखण्ड का लोप करना चाहता हूं, वह एक रोज (अकस्मात्) विना सूचना के ही महाराज काशीनरेश श्रीमान् ईश्वरी

रेण स्थिरीकर्तुमहमत्रागत इति विदित्वा च महीपालस्तदीयात्मभावं ससमादरं कृत्वा विचाराय सम्मतिमपालयद्धर्मपालकार्यम्। ततो भोग्यमात्य-वरवर्योऽपि च त्यक्तभोगः सर्वशास्त्रसारसारोऽसा-रीकृतसंसारः सीतारामीयः श्रीहरिहरप्रसादशर्मा विचारस्य दिनस्थिराय मध्यस्थनिर्णयाय च प्रयतमानो वादिनमजिज्ञपत्. ज्ञापितश्च सः, अहमुदासीनः, सर्वदैवावसरो मम, किञ्चात्र न मयाकोऽपिमध्यस्थः स्वीक्रियते सर्वेषामेव मिथ्याचारित्वदर्शनादित्यवो-चद्वचः। श्रुत्वैतद्राजकीयकोविदा लिखितविचार रेऽभवन् कृतप्रयत्नाः, परं तत्रापि वाद्यसम्मतेर्न ते

प्रसाद नारायणसिंहजी की सभा में पहुंचा और यह कहने लगा कि प्रतिमापूजन शास्त्रों से सिद्ध नहीं है यह प्रतिमापूजन पाखण्ड है। मेरा यही निश्चय है, मैं यहां शास्त्रार्थ करने को आया हूं, यह सुनकर महाराज काशीनरेशजी ने वही कार्य किया जो कि महाराजाओं को ऐसे अवसर पर करना चाहिये, उस साधु दयानन्दजी का आदर पूर्वक अतिथि सत्कार करने के बाद श्रीमान् हरिहरप्रसादजी ने शास्त्रार्थ का प्रस्ताव छेड़ कर स्वामीजी से यह कहा कि आप दिन का निश्चय कीजिये, और मध्यस्थ किसको मानेंगे? उसके उत्तर में स्वामीजी ने कहा कि मैं साधु हूं, मुझे सदा ही अवसर है, और मध्यस्थ मैं मैं किसी को नहीं मानता हूं, क्योंकि सभी लोग अवैदिक कार्य करनेवाले हैं, यह बात सुन कर राजकीय पण्डितों ने लेख शास्त्रार्थ के लिये कहा, लेकिन महाशय दयानन्दजी के पैर इस (लेख शास्त्रार्थ

पूर्णमनोरथाः। ततो महाराजसदसियोऽग्रवरः पण्डितः श्रीताराचरणो नाम तार्किकः स एकदा वलावलपरीक्षणाय प्रच्छन्नवेशो वादिनमुपगत्यासौ नाधीतविद्योऽपि तु साहसिकः सहसा विचारोपहसने प्रवृत्त इति बुद्ध्वाऽबोधयत्तदेवान्यान् सभासदः काशीस्थानन्यांश्च संख्यावतः। इत्थमभवत्सर्वैरुपेक्षणीयः स साधुः समान्तात्। अथ पूर्वकीर्तिताह्नि श्रीताराभीयेण विचारितम्, वायसौ पण्डितो वा धूर्तो वा भवतु परमेतर्हि काशीराज-

की) सर्त पर भी न जमे, अस्तु उस रोज की सभा, जिस तरह से आप शास्त्रार्थ करेंगे वही (आपके कथनानुसार) नियम स्वीकार किया जायगा यह कह कर विसर्जित हुइ। तदनन्तर एक रोज श्रीमान् पण्डित ताराचरण तार्किक जो कि महाराज काशीनरेश जी के यहां मुख्य पण्डित थे और समस्त पृथ्वी मण्डल में उनके समान न्याय शास्त्र में दूसरा कोई नहीं था इन्होंने नदिया शान्तिपुर में पूर्ण विद्याभ्यास किया था, वह प्रच्छन्नवेश (साधारण पण्डित के वेश) से स्वामीजी की विद्वत्ताकी परीक्षा करने को भेजे गए, कि " स्वामीजी कुछ पढ़े लिखे हैं या योंही आडम्बर करते हैं " अस्तु परीक्षा करने के अनन्तर पण्डित ताराचरणजी ने सब सभासदों से यह आकर कहा कि यह स्वामी दर्शन शास्त्रों का या तर्क का लेश मात्र भी नहीं जानता है यह बड़ा ही ढीठ अपने को प्रसिद्ध करने के लिये शास्त्रार्थ करना चाहता है, यह बड़ा ही मसखरी करने में तेज है, वह अकारण मसखरी करदेता है, यह सुनकर लोगोंकी उपेक्षा हो गई और

सभामुपगतो विचाराय कश्चिदिति भूतः प्रवादो दुर्निवार्यः, अतो लोकप्रबोधनाय तु विचारायोजनम-वश्यं कार्यमिति, तथा च बहुभिः पण्डितैर्विचारसमयं निर्धार्य ज्ञापितः स वादी । अनन्तरमुपस्थिते तत्समये (१) राजाज्ञयाहूतैरत्रत्यैर्विविधशास्त्रविशारदैरन्यू नशतकोविदैः समालङ्कृते काश्यांदुर्गाकुण्डसमीपे

(वैक्रमीय १९२६ वर्षे तत्परदिनापराह्णे सौराग्रहायणस्य द्वितीयदिवसीये चान्द्रकार्तिक त्रयोदशीयुत मङ्गलवासरीये)

काशीस्थ विद्वानों ने भी यह जानकर स्वामी दयानन्द को बड़ी गिरी निगाह से देखा, इस तरह सर्वत्र स्वामीजी लोगोंकी निगाह से गिर गये । लेकिन हरिहरप्रसादजी (जिनका वर्णन पहिले आचुका है उन्हों ने) इस बात पर जोर दिया कि वादी पण्डित हो, या मूर्ख । परन्तु महाराज की सभा में विचार के लिये कोई गया था और उसके साथ किसीने भी शास्त्रार्थ नहीं किया इस लोकापवाद की निवृत्ति के लिये शास्त्रार्थ कराना जरूरी है, इस (साधु) की पोल जब तक खुल नहीं जायगी तब तक लोगों को सन्तोष नहीं होगा, इससे "शास्त्रार्थ होना जरूरी है" इस निश्चय के अनन्तर महाराज काशीनरेशजीने अनेक पण्डितों के साथ शास्त्रार्थ का समय निर्धारित (निश्चित) करके उक्त स्वामी जी को सूचना दी, कि अमुक समय में आनन्द बाग में शास्त्रार्थ होगा अनन्तर निर्धारित समय में चान्द्रमास (कार्तिक) शुक्ल त्रयोदशी सौरमास मार्गशीर्ष (अगहन) २ बजे अनेक पण्डितों के, बड़े बड़े रईस साहूकारों के, अपने मन्त्री के और युव-राज श्रीमान् प्रभुनारायणसिंह जी के साथ अमेठी राजा माधव

आनन्दबागाख्योपवने सदानन्दः श्रीमानानन्दकाने-नेशो महाराजः श्रीमता यौवराज्याभिषिक्तेन प्रभुनारायणसिंहशर्मणा राजकुमारेण अन्यैश्चात्रत्यैः कतिपयैः सुप्रसिद्धधनिभिः स्वामात्यवर्गैश्च सानन्दं समागत्योक्तनाम तर्करत्नमादिशत्, क्रियतां तावत् शास्त्रार्थ इति अहमपि वादिप्रतिवादिवचःसारानुवदने नियुक्तोऽग्रसरःपक्षपातशून्यो विचारदत्तकर्णः संयतोऽस्मि।

सिंह के आनन्द बाग में जो कि काशी जी में दुर्गाजी के पास दुर्गाकुण्ड के ऊपर पूर्व तरफ है " वहां उपस्थित हुए वहीं स्वामी दयानन्दजी ठहरे थे, सभासद यथास्थान बैठगए। स्वामी दयानन्द जीके सामने पण्डित ताराचरण जी, जो कि महाराज की सभा के प्रधान पण्डित थे वे बैठे उनके पास श्रीस्वामी विशुद्धानन्दजी और बालशास्त्री और दैया कणर केसरी सब्बा रामभट्ट भट्ट जी प्रभृत्ति भी बैठे,। महाराज, काशीनरेशजी ने ताराचरणजी से कहा कि आप लोग शास्त्रार्थ करें मैं भी शास्त्रार्थ को पूरा ध्यान देकर सुनता हूं, मैं पक्षपात को छोड़ कर मतलब के तरफ ध्यान दूंगा, और जिसका प्रबल पक्ष होगा मैं उसी को अच्छा समझूंगा अस्तु महाराज काशीनरेश जी तथा समस्त कर्मचारी और सेठ साहूकार सभी उसी पक्ष को मानने को उद्यत मालुम देते थे जो पक्ष दोनों के शास्त्रार्थ में उत्तम ठहरे, पाठकगण स्मरण करें, कि यही दशा उज्जैन में जब श्रीस्वामी शङ्कराचार्य्य जी से और बौद्धों से शास्त्रार्थ हुआ था तब हुई थी भेद इतना ही था कि उस समय राजसत्ता दूसरे प्रकार की थी इस समय

ताराचरणः वक्तुमुद्यतः

दयानन्दः (एक एव वदेन्नान्य इति ब्रुवन्) प्रतिमापूजनं वेदे क्व लिखितमिति कथ्यताम् ?

ता०-एतन्मात्रं प्रमाणं नान्यदत्र किं प्रमाणम् ?

द०-वेदे यन्न दृश्यते तदप्रमाणमेव ।

धर्म में आजादी है जिसके मनमें जैसा आता है वह वैसाही मानता है, इसीसे उस समय बौद्धों के पराजय होते ही, बौद्धों का अभाव सा हो गया था और समस्त हिन्दुस्तान में सनातन-धर्म की पताका फहरा गई थी, और बौद्धों के पराजय हो जाने से कोई भी बुद्ध मजहब मान नहीं सकता था हमारे गवर्नमेन्ट के राज्य में धर्म मानने को कोई मजबूर नहीं किया जाता है, इसी से स्वामी दयानन्द जी के पराजय होने पर भी हजारों मनुष्य धर्मबन्धन को यथार्थ समझते हुए भी आजादी के लोभ से सामाजिक हो रहे हैं अस्तु प्रकृति के तरफ ध्यान दी जाय। महाराज काशीनरेश जी की आज्ञा पाकर ताराचरण जी कुछ कहना चाहते थे कि स्वामी दयानन्द जी ने प्रश्न किया कि-

द०-प्रतिमा पूजन वेद में कहां लिखा है ? यह कहिये। "और एक ही आदमी को बोलना चाहिए दूसरा न बोले" (समीक्षक) ठीक भी ऐसा ही होना है, वादी प्रतिवादी के अतिरिक्त केवल दूसरा मध्यस्थरूप से बोल सकता है, अनेक मनुष्यों के युगपत् बोलने से कुछ भी सारांश का निर्णय नहीं होता है ।

ता०-केवल वेद ही प्रमाण है और कुछ (स्मृति इतिहास पुराण इत्यादिक) प्रमाण नहीं है इसमें क्या प्रमाण है ?

द०-जो वेद में नहीं मिलता है, वह प्रमाण नहीं है ।

ता०-कथम् ?

द०-वेदविरुद्धानां नास्ति प्रामाण्यम् ।

ता०-अत्र किं प्रमाणम् ?

द०-श्रुतिर्मनुस्मृतिश्च प्रमाणम् ।

ता०-तदेवोद्भावय ?

ता०-कैसे, अर्थात् जो वेद में न मिले, और स्मृति पुराण इत्यादिक में मिले वह प्रमाण क्यों न माना जाय ? यह प्रतिवादी स्वामीजी को स्मृति इतिहास पुराणादिकों को प्रमाण मनाने के लिये निग्रह स्थान में खींच रहा है ।

द० वेद से विरुद्ध वस्तु " अर्थात् प्रतिमा पूजन करना इत्यादिक प्रमाण नहीं है ।

ता० इस में क्या प्रमाण है. " अर्थात् वेद विरुद्ध वस्तु सदाचार कुलधर्म प्रतिमा पूजन इत्यादिक प्रमाण नहीं हैं " ? इस आप के प्रतिज्ञा वाक्य में क्या प्रमाण है, तात्पर्य यह है कि यदि कोई अनुमिति रूप से आप कहते हैं तो हेतु कहिये, शब्द प्रमाण से कहते हैं तो उस ग्रन्थ का नाम लीजिये ।

द० श्रुति (वेद) और मनुस्मृति प्रमाण है ।

ता० उसी को कहिये, अर्थात् जो वेद का मन्त्र " वेदातिरिक्त स्मृति पुराण इतिहास सदाचार इत्यादिकों के प्रामाण्य का निषेधक है " उसको कहिये अथवा मनु महर्षिजी के वचन को कहिये, कि कहां पर मनुमें लिखा है ? (समीक्षक) मेरी समझ से यहीं पर जय पराजय का अन्तिम निश्चय (फैसला) है, यदि स्वामीजी कोई वेद मन्त्र अथवा मनुवचन ऐसा दिखा दें कि जिस से यह सिद्ध हो जाय कि केवल वेदोक्त ही

द० प्रामाण्यविचारो भविष्यति पश्चात् पूर्वं वेदविचारः कर्तव्यः।

ता०–वेदविचारः कीदृशः कर्तव्यः वेदस्य नित्यानित्यत्वविचारः प्रामाण्याप्रामाण्यविचारो वा?

प्रमाण है, तब तो पं० तारावरणजी को वेद के मन्त्र से प्रतिमा पूजन सिद्ध करना चाहिये, और यदि स्वामीजी कोई वेद मन्त्र या मनुका बचन न दिखा सके तो स्वामिजी हार गये, दुसरी बात यह कि प्रतिज्ञा हानि, जो कि पूर्णरूप से पराजय को सिद्ध करती है स्वामीजी केवल वेद ही प्रमाण मानते थे लेकिन प्रतिवादी ने मनुको भी आप से आप स्वामीजी को प्रमाण मना दिया, लेकिन वहां भी जब कोई वचन वेदातिरिक्त प्रमाण का निषेधक न मिला तब स्वामीजी को खब सूझी देखिये पाठक गण जिससे दूसरे समझें कि उत्तर दे रहे हैं, और वस्तु गत्या साफ निरुत्तर हैं, यह स्वामीजी का प्रथम डबल पराजय हुआ।

द० प्रामाण्य (क्या प्रमाण है और क्या नहीं प्रमाण है यह) विचार पीछे होगा पहिले वेद विचार करना चाहिये, (समीक्षक) वेद विचार को जब प्रतिवादी प्रामाण्य विचार के अधीन ही मानता है तब प्रथम प्रामाण्य विचार ही आवश्यक था, वस्तु गत्या प्रमाण न देने से स्वामीजी का पराजय तो होगया और शास्त्रार्थ भी प्रायः समाप्त समझना चाहिये, लेकिन प्रतिवादी पं० तारावरणजी स्वामी जीको सर्वथा मौन कराने के लिये फिर उत्तर देते हुए निग्रह स्थान में लाते हैं।

ता० कैसा वेद विचार करना चाहते हो क्या वेद नित्य या अनित्य यह। अथवा वेद पौरुषेय है या अपौरुषेय, अर्थात् वेद पुरुष प्रणीत है या स्वतः अनादिकाल से परंपरा प्राप्त है। यह?

द०-पाषाणादिप्रतिमापूजनं वेदोक्तं नवा इति ?

ता०-अस्माकं यथा वेदस्य प्रामाण्यं तथा सर्वेषाम्।

द० वेदातिरिक्तानां न प्रामाण्यम् ।

ता० वेदे क्व लिखितम् अन्येषां नास्ति प्रामाण्यम् ?

द० वेद विरुद्धस्य, नास्ति प्रामाण्यम् ।

द० पाषाणादि प्रतिमा पूजन वेद में लिखा है या नहीं यह विचार करना चाहते हैं ?

ता० हम लोगों को जैसे वेद प्रमाण है वैसे ही स्मृति इतिहास पुराण इत्यादिक भी प्रमाण है पुराणादि कों में प्रतिमा पूजन का विशेष रूप से वर्णन है, और जब हम लोगों को पुराणादिक वेद के समान (बराबर) प्रमाण है तब प्रतिमा पूजन सिद्ध होगया।

द० वेद से अतिरिक्त प्रमाण नहीं हैं, अर्थात् केवल वेद ही प्रमाण हैं, स्मृति, इतिहास, पुराणादिक कुछ भी प्रमाण नहीं हैं।

ता० वेद में कहां पर लिखा है कि स्मृति, इतिहास, और पुरादिकों को प्रमाण नहीं मानना (समीक्षक) पं० ताराचरणजी स्वामीजी को फिर निग्रह स्थान में ले आये, यदि स्वामीजी वेद का कोई मन्त्र नहीं दिखा सके तो फिर दुबारा पराजय होगा अस्तु स्वामीजी कहां से दिखावे, जब वेद में इस आशय का कोई मन्त्र नहीं है तो क्या करें अब अपनी दूसरी दफ की हार को छिपाते हुए फिर स्वामीजी बोले।

द० वेद विरुद्ध प्रमाण नहीं है।

ता० वेद विरुद्धः कः ?

द० यो वेदे नास्ति।

ता० इदं किं वेदोक्तं, अथवा भवत्कथितम् ?

द० त्वत्प्रश्नोत्तरं पश्चाद्दास्यामः प्रतिमापूजनं वेदे लिखितं नवेत्येका वक्तव्या ?

ता० वेद विरुद्ध क्या है ? अर्थात् स्मृति, इतिहास, पुराणादिक तो वेद विरुद्ध हैं ही नहीं फिर तुम वेद विरुद्ध किस को कहते हो ?

द० जो वेद में नहीं है। (समीक्षक क्या स्वामीजी, वेद से अतिरिक्त और वेद विरुद्ध और वेद में नहीं ' तीनों न अर्थों को एक ही समझते हैं, जो कि एक साधारण लड़का भी समझता है कि नहीं अभाव रूप से और विरुद्ध शब्दार्थ से बड़ा ही भेद है अस्तु धर्मी विद्वानों की सभा में स्वामीजी के ऐसे वाक्य लोगों को आश्चर्य से मालूम देते होंगे, अस्तु प्रकृत को देखिये।

ता० क्या यह (जो वेद में नहीं है, वह प्रमाण नहीं है) यह आप का प्रतिज्ञा वाक्य है, अथवा वेद में लिखा है ? अर्थात् यदि प्रतिज्ञा वाक्य है तो हेतु इस प्रतिज्ञा के लिये कहिये और यदि वेद में लिखा है तो मन्त्र बोलिये।

द० तुम्हारे प्रश्न का उत्तर पीछे देंगे पहिले यह कहिये कि प्रतिमा पूजन वेद में लिखा है या नहीं ? (समीक्षक) जब प्रतिवादी स्मृति पुराण इत्यादि कों को वेद के बराबर ही प्रमाण मानता है और वादी स्वामीजी खुद पुराणों में प्रतिमा पूजन मानते हैं तो प्रतिमा पूजन करना सिद्ध होगया, और स्वामीजी को पुराणों के प्रमाण न मानने का कोई हेतु देना चाहिये था। उसके लिये

वालशास्त्री—(स्वस्वरूपं प्रकाशयितुमिच्छन्) वेदानुक्तत्वेनाप्रामाण्यमुक्तं तत्र को हेतुः स एव आदौ विचार्यः।

द०—(वेदे) प्रतिमापूजनं (न) भवेत् अन्यत्र विचारः अतोवेदे अस्ति नास्ति वा इति विचारः पुरस्तात् कर्तव्यः श्रुतिस्मृतिप्रभृतीनां सर्वेषामेव मूलं वेदः।

ता० सर्वेषां वेदमूलकत्वे प्रामाण्योद्भावनं कर्तव्यम् !

स्वामीजी कहते हैं कि इसका उत्तर पीछे देंगे, तो सोचना चाहिये कि प्रतिवादी (पं० ताराचरणजी) जब प्रतिमा पूजन करना पुराणों के प्रमाण मानने से सिद्ध करचुके, और स्वामीजी को पुराण न मानने का प्रमाण देना गले आपतित हो गया तब स्वामीजी "पश्चाद्दास्यामः" कहने लगे, परन्तु वहां पर साक्षी-रूप से बैठे परम विद्वान् बालशास्त्रीजी से स्वामीजी के बारंबार पश्चाद्दास्यामः ? यह प्रतिज्ञा वाक्य सुनकर न रहा गया और बोले।

बालशास्त्री०— जो वेद में नहीं कहा गया है वह प्रमाण नहीं है इस का क्या हेतु ? इसी का प्रमाण पहिले आप को देना चाहिये।

द० वेद के मुताबिक प्रतिमा पूजन सही है या नहीं (जायज या नाजायज) ? यह दूसरी बात है प्रथम आप यह कहिये कि प्रतिमा पूजन वेद में लिखा है या नहीं क्योंकि श्रुतिस्मृति इत्यादिक सभी का, मूल वेद है।

ता० सभी का वेद मूल है इसमें प्रमाण कहिये ? (समीक्षक) दयानन्दस्वामीजी समझते थे कि जैसे व्याख्यान (लेक्चर) में

द०मनुकात्यायनमहाभारतादिकमेव प्रमाणम् ।

ना० तत्र तत्रैवान्येषामप्यस्ति प्रामाण्यम् ।

द० किं वृथा वाग्वितण्डया यथा मन्त्रादीनां मीमांसावेदान्तादिसूत्राणां च सर्वेषामस्ति मूलं वेदः तथा प्रतिमापूजनस्यापि मूलं वेदो दर्शनीयः ?

विशुद्धानन्दस्वामी०--अहो किं वारंवारमेवं ब्रूषे वेदान्तादिसूत्राणां सर्वेषामस्ति मूलं वेदः

जो कुछ मन में आया वह कह देते थे वैसे ही यहां विद्वानों की की सभा में भी हमारी चल जायगी लेकिन यहां तो बिना प्रमाण के ये विद्वान् लोग बोलने नहीं देते, यह सोच समझकर स्वामीजी जब श्रुति प्रमाण से वेद मूलक श्रुतिस्मृत्यादिकों को सिद्ध न कर सके तब मनु कात्यायन महाभारत की शरण ली,

द० मनुस्मृति कात्यायन ऋषि के वचन, और महाभारत अर्थात् व्यासजी के वचन " सब का मूल वेद है " इनमें प्रमाण है, (समीक्षक) जब व्यासजी के वचनों (महाभारत) को प्रमाण मान लिया, और पुराण व्यासजी के बनाए हुए हैं तब पुराणों के मानने में क्या सन्देह रहा ? यह स्वामीजी का चौथा पराजय है,

ना० उन्ही २ जगहों पर, औरों का भी, अर्थात् प्रतिमापूजन श्राद्ध, तर्पण सदाचारादिकों का भी प्रमाण है ।

द० व्यर्थ वितण्डावाद के क्या फायदा, जैसे, मन्त्र, मीमांसा, वेदान्तादिकसूत्रों का मूल (बुनियाद) वेद है उसीतरह प्रतिमा पूजन का भी कोई मूली भूत (बुनियाद स्वरूप) वेद कहिये ।

विशुद्धानन्दस्वामी०," क्या बार बार कहते हो कि" वेदान्त

"रचनानुपपत्तेश्च नानुमानं प्रमाणम्" इत्यस्य मूलीभूतः को वेद इति वक्तव्यम् ?

द० कोऽपि वदिष्यति अस्याक्षरस्य प्रमाणं देयम् तत्र किम् ?

वा० सर्वेषामेव देयम् अथैव प्रतिज्ञानात् ।

द० सर्वे वेदा नहि मे कण्ठस्थाः (सभ्या हसन्ति)

सूत्रों का मूल वेद है" २ 'रचनानुपपत्तेश्चनानुमानं प्रमाणम्' इसका मूल क्या वेद है कहिये ? (समीक्षक) इसका भी उत्तर दयानन्दजी न दे सके यह पांचवाँ पराजय हुआ । अब स्वामीजी घबड़ाकर अपने ऊपर से उत्तर देने की बला को टालने के लिये कहते हैं ।

द० कोई आकर कहे कि इस अक्षर का प्रमाण दो तो क्या मैं क्या उसका भी प्रमाण दूंगा ?

वा० आप सभी को कहते हैं कि "इसका प्रमाण देंगे" २ लेकिन किसी का भी तो प्रमाण दीजिये ! या सभी प्रमाणों के लिये "दास्यामि" २ (देंगे २) कह कर ही टाल रहे हैं, (समीक्षक) बालशास्त्रीजी की यह झाड़ स्वामीजी से न सही गई तब ठीक अपनी हार को अपने मुँह से कबूल करते हुए बोले ।

द० मुझे सब वेद याद नहीं है (समीक्षक) कहिये क्या अब भी स्वामीजी के पराजय होने में कुछ कसर बांकी है, यह छठा 'पराजय' जैसे मल्लयुद्ध (कुस्ती) में चारो चित्त गिरै और पीठ लगै वैसाही हुआ, क्योंकि स्वामीजी ने मानलिया कि मुझे वेद याद नहीं हैं ।

वि० (संतुष्टः गर्जन्) तत्किमेवमभिलपसे ।

द० (क्रुद्धः विशु० सम्मुखं प्रत्युपविश्य) तवास्ति किं सर्वमुपस्थितम् ? धर्मस्य किं लक्षणम् ? वद ।

वि० चोदनालक्षणोऽर्थोधर्मः इत्यादि सविस्तरम् ।

द० (वारयन्निव) लक्षणम् एकं बहु वा ।

वि० लक्षणम् एकम्, प्रमाणानि बहूनि ।

द० (हसति) हो हो लक्षणम् एकम्, दश लक्षणानि " धृतिः क्षमादमोऽस्तेयः, शौचमिन्द्रियनिग्रहः। धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम् "

वि० (बड़े खुश गर्जते हुए बोले) तब क्या इसी तरह शास्त्रार्थ करना चाहते हो, अर्थात् जब तुमको कुछ याद है ही नहीं तो फिर क्या शास्त्रार्थ करोगे ?

द० (क्रोध में आकर विशुद्धानन्द स्वामीजी के सामने बैठकर बोले) क्या तुमको सब याद है ? धर्म का लक्षण कहो ? अर्थात् धर्म किसको कहते हैं कहिये ?

वि० वेदविहित स्वर्गादि फलसाधक कर्म का नाम धर्म है, अर्थात् स्वर्गादि प्राप्ति के लिये जिन कामों के लिये वेद इजाजत देता है, उन कामों को धर्म कहते हैं। इसकी व्याख्या विशु० जी ने बीसमिनट तक करी ।

द० (रोकने के इरादे से) धर्म का लक्षण एक, या बहुत ?

वि० लक्षण एक है प्रमाण बहुत से हैं ।

द० (हँसकर) देखो आप एक ही लक्षण कहते हैं, "धृतिःक्षमा०" श्लोक पढकर कहा कि धर्म के दश लक्षण हैं ।।

ता० एतेतु तु अनुमापकहेतवः नतु लक्षणानि।

द० (ता० सम्मुखं प्रत्युपविश्य) किमनर्थं गर्जसे अधर्मस्य लक्षणं वद !

ता० दुरदृष्टजनकत्वमधर्मत्वम्।

द० (अग्राह्यभावेन) किं त्वया कोलाहलेन (विशु० सम्मुखं प्रत्युपविश्य) त्वं वद स्वामिन् धर्मे का श्रुतिः ?

ता० ये धर्म के अनुमान कराने वाले हैं, लक्षण नहीं हैं, अर्थात्, धैर्य से इतना मालुम हो सकता है कि यह धर्म करने लायक है, (समीक्षक) दयानन्दजी के प्रश्न का उत्तर स्वामी विशुद्धानन्दजी ने खूब विस्तार पूर्वक और बहुत ही ठीक दिया सब सभासद समझ गए होंगे कि यह दयानन्दजी का 'सातवां पराजय' हुआ, अब स्वामीजी समझ गए कि हम विशुद्धानन्दजी के सामने नहीं बोल सकते हैं, इस से फिर ताराचरणजी के सामने होकर बोले

द० अधर्म का क्या लक्षण है ? कहो।

ता० जो दुरदृष्ट (नरकादिक दुःखों) का पैदा करने वाला, वह अधर्म कहलाता है, इस उत्तर से दयानन्दजी घबड़ा गये क्योंकि जिस से प्रश्न करते हैं वह ऐसा उत्तर देता है कि जरा भी कोटि कल्पना नहीं चलती है, अब इस 'आठवें पराजय' के बाद ' ताराच० जी से घबडा कर बोले।

द० तुमारे साथ कोलाहल (हल्ला) करने से क्या ! (विशु० के सामने बैठ कर) स्वामीजी ! आप कहिये कि धर्म के मानने में क्या वेद है अर्थात् किस श्रुति के आधार पर धर्म को मानते हैं ?

वि० अग्निहोत्रं जुहोति इत्येवमादिः।

द० (उपसंहरन्निव) किं प्रयोजनमप्रकृतविचारेण वेदे क्वापि प्रतिमाशब्दो नास्ति यत्र चैकत्र-सामवेदेऽस्ति सपरं दिवमन्वावर्तते यथा "यदा-स्यायुक्तानि यानानि प्रवर्तन्ते। देवतायतनानि

सामवेदीषड्विंशब्राह्मणस्य पञ्चम प्रपाठकगतदशमः खण्डः।

वि० "अग्नि होत्रं जुहोति" इस श्रुति को कह कर इसकी व्याख्या बहुत देर तक की, (समीक्षक) अब दयानन्द जी को मालुम हो गया होगा कि हमे लोग क्या कहेंगे क्योंकि जो कुछ हम पूछते हैं उस का उत्तर तो ये लोग तुरत और विस्तार पूर्वक देते हैं, पर हम, पुराणों के प्रमाण न होने मे अभी तक कुछ भी उत्तर न दिया, और, प्रतिमा पूजन के लिये ये लोग कोई वेद का प्रमाण तो नहीं देंगे क्योंकि पुराणों को प्रमाण इन लोगों ने मुझे मनादिया है पुराणों में प्रतिमा पूजन सैकड़ों जगह है, और पुराणों के न मानने के लिये न तो कोई युक्ति है और न कोई मन्त्र ही है, यह सोच कर खुदही प्रतिमापूजन के प्रमाण के लिये सामदेव के २६ वें ब्राह्मण का पञ्चम प्रपाठक के दशम खण्ड का मन्त्र को स्मरण दिला कर वोले।

द० अप्रकृत विचार से क्या प्रयोजन, वेद में कहीं पर प्रतिमा शब्द नहीं है, और जो सामवेद में एक जगह है, वह परदिव (ब्रह्मलोक) के विषय (वावत) का है, "यदा स्यायुक्तानि" जब बिन जोती हुई अर्थात् बैलों के विना गाडी आप से आप चलने लगे अथवा देवताओं की प्रतिमा हंसती हैं रोती हैं अर्थात् प्रतिमा की आखों से आप से आप पानी आने लगे, देवताओं की

कम्पन्ते दैवतप्रतिमा हसन्ति रुदन्ति गायन्ति नृत्यन्ति स्फुटन्त्युन्मीलन्ति निमीलन्ति " इत्येवमादिः । तस्यापि ब्रह्मलोकपरता ।

प्रतिमा गाने लगें और नाचने लगे, और आंखें निकाल कर अर्थात् कड़ी निगाह से देखने लगे, या आंखें मीचने लगे तब इदं विष्णुर्विचक्रमे इस मन्त्र से खीर की आहुति दे " यह शान्ति ब्रह्मलोक के विषय की है, (समीक्षक) यह शान्ति ब्रह्मलोक के लिये है या इस लोक के लिये इस विषय को थोडी देर के लिये अलग रखिये, अब यहां यह देखना चाहिये कि आज कल के सामाजिक इस वेद वचन को जोकि स्वामी दयानन्दजीने प्रमाण के लिये खुद उपस्थित (पेश) किया उसको क्यों नहीं मानते यदि मानते हैं, तो मैं यह पूछता हूं, कि क्या विना बैल वगैरह से विना जोती हुई गाडी आपसे आप चलने लगती है ! क्या देवता की प्रतिमा जिस को सामाजिक पत्थर मान रहे हैं वह हंसने भी लगें और रोने भी लगें, क्या सामाजिक भाइजी आप के घर में चक्की सिल वगैरह भी हंसने लगती है, अस्तु क्या प्रतिमा आप से आप आंखें तरेरती है और मीच भी लेती हैं, यह आप मानते हैं ! अगर आप इस मन्त्रको सही मानते हैं, जोकि स्वामी दयानन्दजी ने खुद सही माना है तो यह मानना पडेगा कि प्रतिमा सजीव है, प्रतिमा में सर्व व्यापक परमेश्वर की शक्ति (रूप) रहती है तभी हंसना रोना वगैरह यह सब हो सकता है। हां इतना आप पूछ सकते हैं कि ये बातें प्रतिमा में क्यों होती हैं, इसका उत्तर उसी सामवेद में देखिये जब कोई घोर उपद्रव देशमें होनेवाला होता है तब ये बातें होती हैं उन्ही की शान्ति के लिये वहां पर लिखा है कि इदं विष्णुर्विचक्रमें इस मन्त्र से

आहुति देय।"

सामाजिक "आपही कहिये गाड़ी कैसे विना जोती हुई चलती है, प्रतिमा में हंसना वगैरह कैसे होता है?

(समीक्षक) सर्वव्यापक परमेश्वर की शक्तिके सामने विना जोती हुई गाड़ी का चलना साधारण बात है वह अपनी शक्ति से लोगों को सचेत करने के लिये भावी (होनेवाले) उपद्रव के जानने के लिये विना जोती हुई गाड़ी चलवाता है, और प्रतिमा के हंसने से तो खुद परमेश्वर की शक्ति भावी उपद्रव की सूचना देती है निदान हम मूर्तिको तब तक पथ्थर मानते हैं जब तक प्रतिष्ठा नहीं हुई, और वैदिक विधि से उस मूर्ति में उन वैदिक मन्त्रों से जब आवाहन किया गया तब उसमें परमेश्वर की शक्ति स्थूल रूप से आगई इसीसे उसमें पत्थर मात्र नहीं रहता है किन्तु यह परमेश्वर है यही भाव पैदा होजाता है देखो सूक्ष्मरूप से अग्नि सब जगह है लेकिन स्थूलरूप से अंगार जो कि जला सकता है उसीको बोलते हैं, क्यों जी, आग के मगाने पर कोई आदमी कपड़ा या तृण वगैरह लाकर क्यों नहीं कहता है, कि लीजिये यह आग हैं, क्योंकि सूक्ष्मरूप से अग्नि तत्व हर एक पदार्थ में है और उस कपड़े या तृण वगैरह में भी है, लेकिन स्थूल आग जो कि जला सकती है उसीको ही आग कहते हैं, ठीक इसी तरह से परमेश्वर की शक्ति को समझो कि सूक्ष्मरूप से परमेश्वर की शक्ति सब जगह है लेकिन उन वैदिक मन्त्रों के प्रभाव से स्थूलरूप से उन २ प्रतिमाओं में ही है, जैसे सूक्ष्म अग्नि से हम रसोई वगैरह नहीं बना सकते हैं, इसी तरह सूक्ष्म शक्ति की हम उपासना भी नहीं कर सकते, इस से यह निर्विवाद सिद्ध हुआ कि प्रतिमा पूजन के द्वारा (जरिये से) ही परमेश्वर की उपासना हो सकती है इस से प्रतिमा पूजन

ता० तत्र को हेतुः ?

द० (पूर्ववत् ता० सम्मुखं प्रत्युपविश्य) पश्यतु । तावत् प्रकरणम् (स्थिरः सन् दोधयति) स प्राचीं दिशमन्वावर्तते इत्यादिना स दक्षिणां दिशमन्वावर्तते इत्यादिना, स उदीचींदिशमन्वावर्तते इत्यादिना, स प्रतीचींदिशमन्वावर्तते इत्यादिना स पृथिवीमन्वावर्तते इत्यादिना च पञ्चभिः

जरूर करना चाहिये।

सामा० यह शान्ति ब्रह्मलोक विषय की है ?

(समी०) क्या ब्रह्मलोक में ही प्रतिमा पूजन है? क्या ब्रह्मलोक के लोग प्रतिमा द्वारा उपासना करें और इस लोक के नहीं इस में कुछ प्रमाण है ? जो हो यह तो अब आप मानते हैं, कि प्रतिमा पूजन वेद के प्रमाणों से सिद्ध है और उससे ही परमेश्वर की उपासना होती है और उस प्रतिमा में रोना वगैरह ये बातें हो सकती हैं, और प्रतिमा में परमेश्वर की स्थूलरूप से शक्ति रहती है (अस्तु) अब प्रकृत के तरफ देखिये। " इस मन्त्र की ब्रह्मलोक परता है इस स्वामी दयानन्दजी के वाक्य का खण्डन करने को ताराचरणजी बोले।

ता० इस मन्त्र की ब्रह्मलोक परता है इस में क्या हेतु (वजह) है ?

द० (ताराचरणजी के सामने बैठकर स्थिर भाव से बोले प्रकरण को देखो, " स प्राचीमित्यादि " वह विधि पूर्वदिशा के लिये वह दक्षिण दिशा के लिये वह उत्तर दिशा के लिये वह पश्चिमदिशा के लिये और वह पृथिवी के लिये " इत्यादिक पांच

खण्डैः पृथिव्यां यान्यद्भुतानि भवितुं युज्यन्ते तेषां शान्तिस्तत्रत्यैरेवैवं कर्तव्येति बिधाय सदिव मन्वावर्तते ” इत्यादिना द्युलोके यान्यद्भुतानि स्युस्तेषां शान्तिस्तत्रत्यैरेवं कर्तव्येति विधाय सपरं दिवमन्वावर्तते इत्यादिना तु ब्रह्मलोके यान्यद्भुतानि भव्यानि तेषां शान्तिस्तत्रत्यैरेवैवं कर्तव्येति विद्यते तथा च यथा मनुष्यलोके सन्ति मनुष्यायतनानि अस्ति च तत्कम्पनसम्भवःतथा ब्रह्मलोके

खण्डों से पृथिवी में जो अद्भुत (आश्चर्यकारी बातें) हों उनकी शान्ति पृथिवी के लोग करें. इसी तरह स्वर्गलोक के उपद्रवोंकी शान्ति स्वर्गलोक के मनुष्य करें, और ब्रह्मलोक के उपद्रवों की शान्ति ब्रह्मलोक के मनुष्य करें । जैसे यहां मनुष्यलोकमें मनुष्यों के मकान हैं. और मुमकिन है कि वे कांपने लगें, इसी तरह से ब्रह्मलोक में देवताओं के मकान हैं, और हो सकता है कि वे कांपने लगें तो उनकी शान्ति पूर्वोक्त रीति से करें, इति (समीक्षक) क्या सामाजिक भाई इस बात को मानेंगे कि केवल (सिर्फ) देवताओं के मकान कांपें और मनुष्यों के नहीं, क्या बिना जोती गाड़ी का चलना देवताओं की प्रतिमाओं का हसना, रोना, नाचना, इत्यादिक हो सकता है, अस्तु देवताओं की प्रतिमाओं का हँसना रोना इत्यादिक बातें जब इनके गुरु खुद मानते थे तब ये न मानें यह इनकी परम अज्ञता है, अब यहां केवल यह विचारना है कि क्या ब्रह्मलोक में भी उपद्रव होते हैं, और उनकी शान्ति ब्रह्मलोक में हो सकती है । जिस ब्रह्म को सत्य और ज्ञान स्वरूप मानते हैं, जहां केवल ब्रह्म के अतिरिक्त और

:न्त्येव देवतायतनानि अस्ति च तत्कम्पनसंभवः एवमेवप्रकरणमनुगृह्यते।

वा० भवदुक्तप्रकरणेन तु नहीदमागतम्, यद्ब्रह्मलोकपरतैव तस्याः श्रुतेः अपितु अन्वावर्तनं श्रूयते तस्य कोऽर्थः स्वयं व्याचष्टे अनु आवर्तनम् अनुलक्षीकृत्य आवर्तनम्, यदा ब्रह्मलोकादिषु अद्भुतानि लक्ष्यन्ते तदा तानि लक्षीकृत्य एवं शान्तिः, एवं च ब्रह्मलोकीयापि शान्तिः मर्त्यै रेवानुष्ठेया।

द० कथम सर्वज्ञा वयं जानीयाम तत्र भूतमद्भुतम् ?

वा० ग्रहादीनां गत्यादिकं यथा ज्ञायसे तथैव।

कुछ भी नहीं है वहां शान्ति करनेवाले कौन होंगे, इससे सिद्ध हुआ कि जो स्वामी दयानन्दजी ने अर्थ किया वह ठीक नहीं है, इसी अर्थासंगति को दिखाते हुये बालशास्त्रीजी बोले।

वा० आप के इस कहे हुए प्रकरण से तो यह नहीं निकलता है कि ब्रह्मलोक विषयक ही यह श्रुति है किन्तु यहां पर अन्वार्तन यह शब्द है, इसका क्या अर्थ है ? (खुद बालशास्त्रीजी व्याख्या करते हैं) " जब ब्रह्मलोक में उपद्रव हों तब उनके लिए शान्ति करना चाहिये इससे यह सिद्ध हुआ कि ब्रह्मलोक के भी उपद्रवों की शान्ति इस लोक के मनुष्य ही करें।

द० हम लोगों को कैसे मालुम होगा कि वहां (ब्रह्मलोक में) उपद्रव हुआ है ?

वा० जैसे सूर्यग्रहण, चन्द्रग्रहण को हम जानते हैं, उसी तरह

द० किमनेन कष्टकल्पनेन तत्रत्यैरेवैव कर्तव्यमित्येव सुलभम्।

वा० तत्रानुष्ठातारः के भविष्यन्ति?

द० स्वर्गादौ इन्द्रादयो देवाः सन्ति नवा!

इन होनेवाले उपद्रवों को भी जान लेंगे।

द० इस कष्ट कल्पना से क्या लाभ, इससे यही क्यों न मान ले कि ब्रह्मलोक के उपद्रवों की शान्ति ब्रह्मलोक के रहने वाले करेंगे।

वा० वहां (ब्रह्मलोक में) अनुष्ठान करनेवाले कौन होंगे!

द० स्वर्गादिक में इन्द्रादिक देवता हैं कि नहीं, अर्थात् उन देवताओं में से कोई अध्वर्यु कोई उद्गाता और कोई होता, बन जायगा और वे ही शान्ति के लिये हवन कर लेंगे (समीक्षक) अगर आप का कहा हुआ अर्थ मान लें तब भी इन्द्रादिक देवता केवल अपने ही लोक की शान्ति करेंगे न कि ब्रह्मलोक की, यही वालशास्त्रीजी का आशय है कि वहां (ब्रह्मलोक में) शान्ति करनेवाले कौन होंगे, लेकिन स्वामीदयानन्दजी तो द्युलोक (स्वर्गलोक) के शान्ति करनेवालों को कहते हैं न कि ब्रह्मलोक की शान्ति करनेवालों को; तो इस से यह स्वामीजी ने मान लिया कि ब्रह्मलोक की शान्ति मनुष्य ही करेंगे इस से यह सिद्ध हुआ कि ब्रह्मलोक कीशान्ति के लिये जो बालशास्त्रीजी ने अर्थ किया वही युक्ति संगत है, "अस्तु स्वर्गलोक की भी शान्ति मनुष्य ही करेंगे" इस प्रतिज्ञा को सिद्ध करने के लिये इन्द्रादिक देवताओं के देह नहीं होती है, किन्तु मन्त्र स्वरूप देवता होते हैं इस दृढ़ मीमांसक सिद्धान्त को सूचित करते हुये स्वामी विशुद्धानन्दजी बोले।

वि० मन्त्रमयी देवता (महाराजभ्रूकुञ्चनम्)।

द० कथमुपासना ?

वि० प्रतीकोपासना, यथा शालग्रामादौ।

द० क्व वेदे लिखितम् ?

वि० एकस्य हि सामवेदस्यैव सहस्रशाखाः भवता सर्वा एव दृष्टाः ?

द० शृणु शृणु सहस्रवर्त्मा सामवेदः, सहस्रमार्गक इति तस्यार्थः संहिता तु सर्वत्र शाखासु एका एव।

वि० मन्त्र स्वरूप देवता है, अर्थात् इन्द्रादिक देवताओं के जब देह ही नहीं है किन्तु मन्त्ररूप ही देह है तब स्वतः (आपही) मनुष्य ही शान्ति करेंगे।

द० उपासना (इन्द्रादिक देवताओं की पूजा) किस तरह से हो सकेगी ?

वि० अध्यासिक, (मानकर–अर्थात् फर्जीतौर से) उपासना होगी, जैसे शालग्रामशिला में विष्णु की उपासना।

द० वेद में कहां लिखा है, अर्थात् शालग्रामशिला में विष्णु की उपासना को प्रतीकोपासना कहते हैं यह वेद में कहाँ लिखा है ?

वि० अकेले सामवेद के ही हजार शाखा है, क्या तुमने सब देख ली ?

द० सुनो २ "सहस्रवर्त्मा सामवेदः" इसका यह अर्थ है कि सामवेद की हजार रास्ता है अर्थात् हजार तर्जसे सामवेद पढ़ा जाता है, और संहिता सब शाखाओं मे ऐक ही है।

वि० मार्ग इति चेत् कठेन प्रोक्ता कठीति कथम्?

द० तस्यतन्मार्गप्रवर्तकत्वात्।

महाराजः (अमात्यमण्डलाभिमुखः) ययूसा भी कभी होता है।

वि० वेदा अपौरुषेयास्तत्र पुनः के प्रवर्तयितारः?

द० वेदाः परमेश्वरे एव तिष्ठन्ति परमेश्वर एव

वि० यदि " सहस्रवर्त्मा सामवेदः " इसका " हजार शाखा वाला सामवेद है " अर्थात् सामवेद की हजार शाखा हैं, यह अर्थ नहीं मानोगे तो कठ ऋषि से कही गयी जो शाखा वह " कठी " कहलाती है, तुह्मारे अर्थ से कठी शाखा की प्रसिद्धि कैसे होगी ?

द० कठ ऋषि उस मार्ग के चलाने वाले हैं, इससे वह कठी शाखा कहलाती है, (समीक्षक) जब संहिता सब शाखाओं की दयानन्दजी एकही मानते हैं, तब यह कठी शाखा है, " यह कौथुमी शाखा है " इत्यादि व्यवहार पृथक् २ शाखाओं का नहीं हो सकेगा, क्योंकि पढ़ने की तर्ज से शाखा का नाम नहीं होसकता, अस्तु महाराज (काशीराज) दीवान (मन्त्री) वगैरों के तरफ देखकर बोले, यय् सा भी कभी होता है अर्थात् मार्ग के प्रवर्तक होने से उनके नाम से वेद की शाखा प्रसिद्ध हो, यह नहीं हो सकता है।

वि० वेद अपौरुषेय हैं, अर्थात् अनादि काल से संसार के साथ ही वेद विद्यमान हैं, इनका प्रवर्तक कोई नहीं है, " वेद, कर्म, और संसार " इनको मीमांसक नित्य अपौरुषेय मानते हैं " यही स्वामी विशुद्धानन्दजी का पक्ष है ?

द० वेद परमेश्वर में रहते हैं परमेश्वर ही वेदों का प्रवर्तक है

प्रवर्तकः तत ऋष्यादयः।

वि० किं लक्षणके ईश्वरे तिष्ठन्ति वेदाः? न्यायनयसिद्धे नित्यज्ञानादिविशिष्टे ईश्वरे। पातञ्जलनयसिद्धे क्लेशकर्म विपाकाशयैरपरामृष्टे पुरुषविशेषे। वेदान्तानुयायिनये सच्चिदानन्दस्वरूपे वा।

द० एवं भवन्नये ईश्वरा बहवः सन्ति।

वि० सन्त्येव मतभेदे।

द० लक्षणे भेदः ईश्वरे वा ईश्वरज्ञानमति

उसके बाद ऋष्यादिक प्रवर्तक है।

वि० कैसे परमेश्वर में वेद रहते हैं, क्या नैयायिकों के सिद्धान्तानुसार नित्य ज्ञानादि विशिष्ट परमेश्वर में, अथवा पातञ्जल (योग) दर्शन के अनुसार, दुःखादि कर्म विपाकादिकों से रहित पुरुष विशेष में, अथवा वेदान्त दर्शन के अनुसार (मुताबिक) सच्चिदानन्दस्वरूप में, वेद रहते हैं, तात्पर्य यह है कि सांख्य; और मीमांसक परमेश्वर को नहीं मानते हैं, मीमांसक कर्म ही को मुख्य मानते हैं न्याय और वैशेषिक का इसमें (परमेश्वर के विषय में) कुछ भेद नहीं है तो किस दर्शन के अनुसार कैसे परमेश्वर में वेदों की स्थिति मानते हो?

द० इससे तो यह सिद्ध होता है, कि आपके सिद्धान्त से परमेश्वर बहुत हैं।

वि० हमारे सिद्धान्त से क्या, जिस दर्शन का जो सिद्धान्त है, उस दर्शन के मुताबिक उस तरह का वे (आचार्य) परमेश्वर को मानते हैं।

द० लक्षण में भेद है, या ईश्वर में, ईश्वर का जानना बड़ा

कठिनम्।

वि॰ सुलभमिति केनोक्तम्, कस्मिन् स्वरूपे तिष्ठन्तिवेदा इति प्रकृतं वद।

द॰ सच्चिदानन्द स्वरूपे।

वि॰ तत्र न किमपि तत्र न किमपि अस्तु वा केन सम्बन्धेनेति वद।

कठिन है, (समीक्षक) दयानन्दजी को यह भी नहीं मालूम है कि लक्षण का क्या प्रयोजन, अर्थात् लक्षण में क्या सामर्थ्य है, देखो "व्यावृत्तिर्व्यवहारो वा लक्षणस्य प्रयोजनम्" जब लक्षण भिन्न है तब वस्तु स्वतः भिन्न है, जिस दर्शन (शास्त्र) कार का जो सिद्धान्त है उसके यहां उसी तरह की वस्तु और वस्तु के अनुरुप लक्षण होते हैं, जैसे वेदान्तानुसार सच्चिदानन्द स्वरूप परमेश्वर है और वही परमेश्वर को अर्थात् सर्व शक्तिमान् को सांख्य दर्शनवाले क्लेश कर्मविपाकादि रहित पुरुष विशेष मानते हैं तो लक्षण के भेद से वस्तु अवश्य भिन्न होगी। अस्तु प्रकृत को देखिये।

वि॰ परमेश्वर का जानना सुलभ है यह किसने कहा? लेकिन किस तरह के परमेश्वर में वेद रहते हैं यह कहो क्योंकि इसी का प्रकृत विचार हो रहा है।

द॰ सच्चिदानन्द स्वरूप में वेद रहते हैं।

वि॰ सच्चिदानन्द स्वरूप में कुछ भी नहीं रहता है अर्थात् सत्-चित्-आनन्द स्वरूप निराकार जब वह परमेश्वर है तब उसमें वेदों का रहना कैसे संभावित होसकता है, 'अस्तु' (खैर फर्ज़ीतौर से) मान भी लें तो कहिये किस सम्बन्ध से

द० कार्यकारणसम्बन्धेन।

वि० (उच्चैः) स सम्बन्धो न वृत्तिनियामकः अन्यथा धर्मे तिष्ठतु सुखम्।

द० तत्र न किमपि तिष्ठति कार्यकारण सम्बन्धश्चन वृत्तिनियामक इति चेत् आकाशः केन संबन्धेन क्व तिष्ठति इति वद ?

वि० स एव ईश्वरः ?

परमेश्वर मे वेद रहते हैं।

द० कार्यकारण सम्बन्ध से वेद परमेश्वर में रहते हैं।

वि० कार्यकारण सम्बन्ध इस बात को सिद्ध नहीं कर सकता है कि वेद परमेश्वर में रहते हैं, क्योंकि कार्य निश्चय से कारण में रहता है यह नियम नहीं है यदि मान लें कि "कार्य कारण सम्बन्ध वृत्तिनियामक होगा" तो धर्म में सुख ठहरैगा न कि आत्मा या मन में क्योंकि धर्मकारण है सुखकार्य है, और कारण में कार्य का ठहरना तुम मानते हो जैसे परमेश्वर कारण में वेदरूप कार्य ठहरता है वैसे ही धर्मरूप कारण में सुख रूप कार्य ठहरैगा, यह आपत्ति कार्यकारण सम्बन्ध से वेदों की उत्पत्ति मानने में पड़ैगी जो कि अनुभव विरुद्ध है और तुमको भी अभिमत नहीं हैं, (समीक्षक) इस युक्ति से स्वामी दयानन्दजी कैसे निरुत्तर हुये कि लोग देखकर चकित होगये।

द० यदि सच्चिदानन्द स्वरूप में कुछ नही रहता और कार्य कारण सम्बन्ध वृत्तिनियामक नहीं है तो किस सम्बन्ध से कहां रहता है यह कहो।

वि० क्या आकाश को ही ईश्वर मानते हो अर्थात् अप्रकृत

द० (उपहसन्) हंस-ए व ई श्वरः।

ता० अस्य मुखव्यङ्ग्यस्य कोऽर्थः ?

द० (क्रुद्धः) कोऽर्थः कोऽर्थः अर्थसंज्ञा कस्य ?

वस्तु का विचार क्यों करते हो यदि आकाश को ईश्वर मानते हो तब हम प्रकृत समझकर उत्तर दें और आकाश नित्य है उसके विषय में आक्षेप करना व्यर्थ है यही स्वामी विशुद्धानन्दजी का तात्पर्य है।

द० (मसखरी के साथ बिरायकर) "हंस ए व-ई-श्वरः" कहकर नकल की (समाजिक) आश्चर्य है कि स्वामी दयानन्द ऐसे महानुभाव, ऐसे सुयोग्य विद्वानों और महाराजाओं की सभा में यह कार्य करें, अथवा मैं समझता हूं स्वामी दयानन्दजी के आंसू पराजय के कारण आने लगे होंगे क्योंकि सर्वथा दयानन्दजी को निरुत्तर स्वामी विशुद्धानन्दजीने कर दिया, दयानन्दजी तो बड़े आडम्बर में थे कि हम काशीस्थ विद्वानों के सामने भी कुछ बोलेंगे लेकिन यहां तो जो कुछ कहना चाहते हैं उसीमें "टांय टांय फिस्" होजाते हैं, अस्तु अब अपने आंसुओं के छिपाने के लिये लोगों को नकल दिखाकर हंसाया जिसमें लोगों को मालूम हो कि हंसी के आंसू हैं पराजय के शोक के नहीं, अस्तु स्वामी दयानन्दजी अपने आंसुओं को तो छिपा लिया लेकिन मुंह के फ.के पन को कहां छिपा सकते हैं।

ता० इस मुंह के बिरावने का क्या अर्थ है ?

द० (क्रुद्ध होकर) अर्थ किसको कहते हैं अर्थात् यहां पर अर्थ किसका नाम है ?

ता० विषयमात्रस्य।

द० अलमनर्थविचारेण तत्प्रकरणं वद।

वि० (पृष्ठे दत्तवामहस्तः) अरे बाबा तूँ अभी कुछ पढ़ा नहीं काशी में कुछ दिन पढ़ (हँसकर)

ता० जो कुछ प्रकरण में हो, उसको अर्थ कहते हैं। (समीक्षक) पं० ताराचरणजी के सामने स्वामी दयानन्दजी कुछ भी नहीं बोल सकते हैं। एकही उत्तर में स्वामी जी चुप हो जाते हैं। मालुम होता है कि स्वामीजी तर्कशास्त्रका लेशमात्र भी नहीं जानते हैं। अस्तु।

द० अप्रकृत (फजूल) विचारों से कुछ फायदा नहीं, प्रकरण का विचार कीजिये।

वि० (पीठ पर बाँया हाथ रखकर) "अरे बाबा तू अभी कुछ पढ़ा नहीं कुछ दिन पढ़।" (समीक्षक) यह स्वामी विशुद्धानन्दजी ने हिन्दीमें ही कहा है। अब लोग समझ गए होंगे कि स्वामी दयानन्दजी में कितनी विद्वत्ता है। स्वामी दयानन्द जी जानते थे कि जैसे लेक्चरबाजी से हम अनभिज्ञ (मूर्ख) लोगों में अपना प्रभाव जमा लेते हैं उसी तरह विद्वानों के सामने भी काम चल जायगा। लेकिन यहां तो प्रमाण और तर्कों से स्वामीजी की बुद्धि गुम होगयी। सच पूछिये तो स्वामीजी को ऐसे धुरंधर प्रबल विद्वानों के सामने आना ही अत्यन्त अनुचित था। वस्तुगत्या स्वामीजी का भी दोष नहीं है क्योंकि "न बुध्यते इत्यपि बुद्धिसाध्यम" (यह मैं नहीं जानता हूं यह भी आदमी बुद्धि से ही जान सकता है)। स्वामीजी यह नहीं जानते थे कि मुझे क्या आता है और क्या नहीं। उसी का यह फल है कि बार-

घटं भित्वा पटं भित्वा कृत्वा गर्दभवाहनम्।
येन केन प्रकारेण प्रसिद्धः पुरुषोभवेत्॥

द०(हस्तं बलाद्दूरीकृत्य)भवता सर्वं पठितम्?

वि० (प्रहस्य) सर्वम्।

द० (पुनः प्रत्युपविश्य) व्याकरणमपि?

वि० तदपि।

द० (रक्तेक्षणः) कल्मसंज्ञा कस्य (गर्जन्) वद वद।

वा० कल्मसंज्ञा महाभाष्य एकत्र परिहासेन

वार नीचा देखना पड़ता है। लेकिन स्वामीजी को इतने पर भी संतोष नहीं हुआ। वह समझते हैं कि जब तक बिलकुल चुप न हो जावै तब तक पराजय नहीं हुआ। इसी से फिर ढिठाई के साथ, जो स्वामी विशुद्धानन्द जी ने पीठपर हाथ रक्खा था उसे अलग करके बोले।

द० क्या तुमने सब पढ़ लिया?

वि० (हँसकर) हाँ हमने सब पढ़ लिया।

द० (फिर अच्छी तरह से सम्हल कर बैठ कर) व्याकरण भी पढ़ लिया?

वि० हाँ. व्याकरण भी पढ़ लिया।

द० (लाल आँख करके) कल्मसंज्ञा किसकी है? (बड़े जोर से) कहो कहो।

वा० (जो कि साक्षी रूप से बैठे थे वे बोले) महाभाष्य में एक जगह कल्म नाम मसखरी का कहा है लेकिन वह प्रकृत

कथिता न सा प्रकृतसंज्ञा । अपिच प्रकृतविचारणे प्रवृत्तस्त्वं कथमप्रकृतं विचारयसि पुराणादीनां वेद-विरुद्धता कथं ? तदेवोद्भावय ।

द० (यथावदुपविश्य) शृणु शृणु म्लेच्छ-भाषाध्ययनादेः पुराणादौ निषेधोऽस्ति । वेदे क्वास्ति ?

वा० (सभ्यान् पश्यन् पठति) न म्लेच्छितवै नापभाषितवै " इत्यादि ।

द० मदभिमुखो वद । अन्यथा नाहं श्रोष्यामि

संज्ञा नहीं है अर्थात् व्याकरण का नाम लेकर कल्म संज्ञा पूछते हो ? व्याकरण से जो कि शब्दों की सिद्धि का बतानेवाला (ग्रामर) है: उससे और कल्म संज्ञा से क्या सम्बन्ध है ? कल्म संज्ञा से शब्द सिद्धि के लिये कुछ भी सहायता नहीं मिलती है । तुम प्रकृत विचार के लिये प्रवृत्त (करना चाहते) हो और अप्रकृत विचार क्यों करते हो । पुराणादिक वेद विरुद्ध किस तरह हैं ? इसको सिद्ध कीजिये । क्योंकि इसी का इस समय विचार होरहा है ।

द० (सम्हल के बैठ कर) म्लेच्छ भाषा (फारसी) के पढ़ने का पुराणादिकों में निषेध है और वेद में नहीं है । इस से पुराणादिक वेद के विरुद्ध प्रतिपादन करने से प्रमाण नहीं हैं ।

वा० सभासदों के तरफ देखकर वेद का प्रमाण दिया कि " न म्लेच्छितवै नापभाषितवै " अर्थात् म्लेच्छभाषा को न बोले, और अपशब्द को न कहै इत्यादि ।

द० मेरे सामने कहो नहीं तो मैं नहीं सुनूंगा । यह वेद नहीं है । (समीक्षक) क्या सचमुच स्वामीजी की बिल्कुल बुद्धि गायब

इति वदन् नाऽसौ वेदः।

वि० यद्वुह वा श्मशानं यच्छूद्रस्तस्माच्छूद्र समीपे नाध्येतव्यमित्यादि।

द० किमिदं संहिता उतब्राह्मणादिकं? दर्शय। (महाराजाभिमुखः) गतरजन्यामागतेन राजपुरुषेण

होगई, क्या "म्लेच्छितवै यह प्रयोग वैदिक नहीं है तो क्या लौकिक प्रयोगों में भी तवै प्रत्यय होती है। स्वामीजी ने व्याकरण पर भी पानी फेर दिया। देखो! छन्दसि इस सूत्र का अधिकार करके "तुमर्थे" इस सूत्र से तवै प्रत्यय होता है, और यह तवै प्रत्यय जब वेद ही के प्रयोगों में होती है तब म्लेच्छितवै यह वेद नहीं है तो क्या है।

वि० शूद्र श्मशान के सदृश है इससे वेद शूद्र के समीप नहीं पढ़ना चाहिये अर्थात् जहाँपर शूद्र हो वहां पर नहीं पढ़ना चाहिये (स०) कहिये महाशयजी! यह वेद है कि नहीं। जो वेद में कहा है वही पुराणों में है। यह दूसरी बात है कि सामवेद के थोड़े से पत्रे जो आपने देखे हैं उन में नहीं है। इससे वेद में न होना सिद्ध नहीं होता है। यदि किसी जन्मान्ध को अपने देह का रूप न देख पड़े तो वह नीरूप नहीं होता है।

द०—क्या यह संहिता भाग है, अथवा ब्राह्मण भाग है? देखाओ। (महाराज काशीराज जी के सामने होकर) कल रात्रि में जो आप का आदमी आया था उस से मैंने कह दिया था कि महाराज जी से कह दीजियेगा कि शास्त्रार्थ के समय वहां पुस्तकें रक्खें दें। (स०) क्या यह संहिता है अथवा ब्राह्मण ?" इस दयानन्दजी के प्रश्न से

महाराजः पुस्तकाय विज्ञापितः। विचारसमये पुस्त-कानि स्थाप्यानि इति ।

मालुम होता है कि स्वामीजी को ब्राह्मणभाग के प्रमाण मानने में कुछ संदेह है । आश्चर्य है स्वामीजी की बुद्धि को सहृदय सामाजिको! आग्रह छोड़कर विचार करो कि मन्त्रभाग का प्रभुत्व ब्राह्मणभाग के प्रामाण्य के अधीन है यदि ब्राह्मणभाग को प्रमाण न मानोगे तो मन्त्रभाग पंगु अन्ध के सदृश कुछ कर ही नहीं सकता जैसे हवन करने के समय में अमुक मन्त्र के बाद अमुक मन्त्र पढ़ना यह ब्राह्मण भाग से जानते हो अथवा मन्त्र भाग से ? जब मन्त्रभाग में क्रम (सिलसिला) नहीं दिखाया गया है तो फिर किस मन्त्र के बाद कौन मन्त्र पढ़ना चाहिये यह कैसे जाना जा सकता है ?

दूसरे मन्त्र पढ़कर अन्त में स्वाहा कहकर हवन करना चाहिये यह ब्राह्मणभाग ही से ज्ञान होसकता है न कि मन्त्रभाग से। अस्तु सामाजिको ! क्षणमात्र के लिये और आग्रह छोड़कर विचार करें । वेदोंका प्रयोजन यज्ञसिद्धि है । यह स्वामीजी ने भी "(दुदोह यज्ञसिद्धयर्थं) इस मनुवचन को प्रमाण देकर यज्ञ-सिद्धिही वेदों का प्रयोजन माना है तो कहिये यज्ञ करने का विधान ब्राह्मणभागमें है अथवा मन्त्रभाग में ? जब तक ब्राह्मण भाग यह आज्ञा नहीं देता है कि इस मन्त्र से अमुक काम करो; इस मन्त्र से अमुक काम करो ; इस मन्त्र से अमुक देवता के लिये हवन करो तब तक मन्त्रभाग पंगु के तरह ब्राह्मणभाग के मुख को देखता है । ब्राह्मणभाग मन्त्रभाग के ऊपर राजा है । जिस २ कार्य के लिये ब्राह्मणभाग आज्ञा देता है उस २ कार्य को मन्त्रभाग करता है। इसी से सामाजिक भी गायत्री से शिखा बांधना प्राणा-

महाराजः (नीचैः) पण्डितों का कण्ठस्थ ही है।

देवदत्तः (जनचतुष्टयव्यवहितो दण्डायमानः अत्युच्चैः) किमभिलप्यसे ! वेदानां पुस्तकानि अत्र स्थाप्यानि वेदानां पुस्तकानि अत्र स्थाप्यानि इति।

याम करना गायत्री जपना इत्यादि अनेक कार्य करते हैं, यदि ब्राह्मणभाग प्रमाण न मानोगे तो गायत्री मन्त्र में शिखा शब्द का नाम निशान भी न पाओगे, तो गायत्री से शिखा कैसे बांधोगे ? इससे सिद्ध हुआ कि ब्राह्मणभाग प्रमाण है और ब्राह्मणभाग प्रमाण के अधीन मन्त्रभाग का प्रामाण्य है मुझे विश्वास है कि निष्पक्षपात से निरीक्षण करते हुए सामाजिक ब्राह्मणभाग के प्रामाण्य मानने में अब संकोच न करेंगे, अस्तु प्रकृत को देखिए।

महा० (पुस्तक मांगने की बात सुनकर महाराज का शिर नीचा होगया महाराज सोचने लगे इस अनपढ़ और पुस्तकों के भरोसे पर शास्त्रार्थ करनेवाले को ऐसे धुरंधर विद्वानों के सामने क्यों बैठाया, अस्तु महाराज ने झट कह भी दिया कि "पण्डितों का कण्ठस्थ ही है" अर्थात् पण्डित पुस्तकों को देख २ कर शास्त्रार्थ नहीं करते हैं। (स०) अब सभी लोग समझ गये कि यह तो ढोल में पोल ही है। सब लोग स्वामीको उपेक्षा दृष्टि (गिरी निगाह) से देखने लगे, महाराज और सब राजकर्मचारियों ने तो जय पराजय का निर्णय कर ही लिया होगा, लेकिन जब तक स्पष्ट रूप से पराजय न होजाय तब तक स्वामीजी हारगये यह कहना ठीक नहीं है लेकिन शास्त्रार्थ के पर्यवसान (रिजल्ट) को देखना चाहिये, 'प्रकृतमनुसरामः।'

देवदत्तः (चार आदमियों को साथ लिये हुये एक देवदत्त

कति वेदाः ?

द० (हसन्) मनुनैवोक्तम्–" अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्मसनातनम् । दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थमृग्यजुःसामलक्षणम् "

दे० (भर्त्सयन्निव) एकशतमध्वर्युशाखाः सहस्रवर्त्मा सामवेदः एकविंशतिधाबाह्वृच्यम् नवधाऽथर्वणो वेदः वाकोवाक्यमितिहासः पुराणं वैद्यकमित्येतावान् शब्दस्य प्रयोगविषयः । तत्सर्वं पठितम् ? एकस्य सामवेदस्यैव सहस्रशाखाः तासां द्वावेवात्र अन्याः सर्वा ब्रह्मलोके । (मुखभङ्ग्या हस्तप्रसारेण च तर्जयित्वा) विचाराय आगतोऽसि ।

नाम का पण्डित जोर से बोला क्या कहते हो वेदों की पुस्तकें रखना चाहिये, कितने वेद हैं कुछ पता भी है ?

द० (हँसते हुए) मनु ने ही कहा है कि अग्नि वायु और सूर्य से यज्ञसिद्धि के लिये ऋग्वेद, यजुर्वेद सामवेद ये तीन वेद प्रकट हुये ।

दे० (धमकाने की तरह) सौ शाखा यजुर्वेद की, हजार सामवेद की, एकोस ऋग्वेद की नव अथर्ववेद की हैं, ब्राह्मणभाग, इतिहास पुराण वैद्यक इतना शब्द के प्रयोग का विषय है तो क्या सब पढ़ लिया है एक सामवेद की ही हजार शाखा हैं उन में से दो ही शाखा यहां है और सब ब्रह्मलोक में हैं, शास्त्रार्थ करने को आए हो पाषाणादिकों की प्रतिमाओं का पूजन अशास्त्रीय है

गमाणा देप्रतिमापूजनमशास्त्रीयं वाराणस्यामेवं कथयसि। न जानासि किमियं काशीपुरी। (सभ्या अनेके सहर्षा हसन्ति तं निवारयन्ति च)

द० (सभयमूर्ध्वमुखस्तन्मुखं पश्यन्) अत्र किं तव बलं वर्त्तते ?

ता० अस्ति शास्त्रे बलम्।

द० यदस्ति शास्त्रं तदवलम्ब्य वद। अप्रत्यक्षं शास्त्रं पूर्वं स्थितामिति नाहं मन्ये।

सभ्याः किं किं मन्यसे ? तदेवोच्यताम्।

द० ऋग्यजुःसामाथर्वेति चत्वारो वेदाः, आयुर्वेदो धनुर्वेदो गन्धर्ववेदोऽर्थवेद इति चत्वार उपवेदाः, शिक्षादयः षडङ्गाः, ईशादयो दश, श्वेता-

---

ऐसा कहते हो, क्या यह नहीं जानते हो कि यह काशीपुरी है, अर्थात् यहां बड़े २ दिग्विजयी विद्वान व्यास शङ्कराचार्य इत्यादिकों ने भी नीचा देखा है।

द० (भय से ऊपर को मुख करके पं० देवदत्त के तरफ देखते हुए बोले ; यहां तुमारा क्या बल है ?

ता० शास्त्र में बल है।

द० जिस शास्त्र में बल है उसी के अनुसार कहिये, पहिले अप्रत्यक्ष शास्त्र जो कुछ ये कहते थे वह मैं नहीं मानता हूं।

सभ्यलोग—क्या क्या प्रमाण मानते हो वही कहिये।

द० ऋग्वेद,यजुर्वेद, सामवेद,अथर्ववेद, ये चार वेद, आयुर्वेद, धनुर्वेद, गन्धर्ववेद, अर्थवेद,ये चार उपवेद;शिक्षा,कल्प,व्याकरण

श्वतरकैवल्ये च द्वादश उपनिषदः, व्यास जैमिनि बोधायन कात्यायनादीनि सूत्राणि, मनुस्मृतिर्महाभारतरूपमितिहासः,वाल्मीकीय रूपं रामायणं चेति।

वि० (तदभिमखं प्रत्युपविश्य) व्याख्यानानि।

द० सनातनानि तान्यपि ग्राह्याणि।

वि० (हसन) श्लोकाः

द० वेदाविरुद्धाश्चेत्तेऽपि ग्राह्याः। अपिच महाभारतादिष्वपि वेदव्याकरणशिष्टाचारविरुद्ध-

ज्योतिष, निरुक्त, और छन्द ये छ वेदाङ्ग; ईशावास्यादिक दश और श्वेताश्वतर कैवल्य ये बारह उपनिषद; व्यास जैमिनि बोधायन कात्यायनादि सूत्र; मनुस्मृति; महाभारत रूप इतिहास; और वाल्मीकीय रामायण ये मुझे प्रमाण हैं।

वि० (दयानन्दजी के सामने बैठकर) व्याख्यान भी प्रमाण है?

द० सनातन व्याख्यान भी प्रमाण है।

वि० (हँसते हुए बोले) श्लोक भी प्रमाण हैं?

द० वेद से अविरुद्ध यदि श्लोक हैं, तो वे भी प्रमाण हैं; और महाभारतादिकों में भी वेद व्याकरण शिष्टाचार विरुद्ध वस्तु प्रमाण नहीं है; अर्थात् किसी के भी वचन प्रमाण नहीं हैं। (स०) स्वामीजी का यह तात्पर्य है कि यदि महाभारत में पुराण अथवा प्रतिमा या श्राद्धादि के विषय में कुछ प्रमाण होंगे तो हमें यह कहने को अवसर है कि यह प्रमाण नहीं है। आश्चर्य की बात है कि जो महाभारत के बनानेवाले कृष्ण द्वैपायन

स्य न प्रामाण्यम्, (प्रगर्ज्य पिष्टपेषणवत्) वचनानां केषामपि न प्रामाण्यम् ।

माधवाचारी (उच्चैः) सुनिये सुनिये जरा मेरा भी तो सुनिये। तैत्तरीयशाखा में है कि "यदा गच्छत्पथिभिर्देवयानैरिष्टापूर्ते कृणुतादाविरस्मै" यहाँ पर पूर्त शब्द है। कि "वापीकूपतडागादीनां पूर्त्तत्वं पाराशरस्मृतिसम्मतम्। एवं च वाप्यादीनामुत्सर्गविधिः क्व वर्तते, वेदे पुराणे वा ?

द० (नीचैः) पूर्तशब्दार्थे एव विरोधः अतो नैरुक्तमानय।

व्यास हैं वही पुराणों के बनानेवाले हैं। महाभारत प्रमाण है और पुराण प्रमाण मानने में संदेह है। अस्तु प्रकृत को देखिये क्षणमात्र में स्वामीजी का संदेह दूर हुआ जाता है।

माधवाचारी (जोर से बोले, सुनिये पुराण प्रमाण मानने में वेद की संमति है। देखो। तैत्तरीय शाखा में लिखा है कि जब स्वर्ग के मार्ग से इष्टापूर्त में अर्थात् वापी कूप तडादिकों की प्रतिष्ठा में आना है तब उसके लिये हवन करे। यहां पर वेद मे पूर्त शब्द है और वापी कूप तड़ागादिकों की प्रतिष्ठा पद्धति को पूर्त कहते हैं। यह पाराशर स्मृति मे लिखा है तो कहिए वापी कूपादिकों की प्रतिष्ठा पद्धति कहां है वेद में या पुराण में ?

द० (धीरे से) पूर्त शब्द के अर्थ ही में विरोध है, इससे निरुक्त की पुस्तक लाइये। (स०) स्वामीजी विरोधी अर्थ देखा

मा० (समदृष्ट्या ऊर्ध्वदृष्ट्या च समन्तादव-तो सकते ही नहीं ; क्यों कि जब कुछ कण्ठ (याद) हो तब विरोधी अर्थ देखावें " पुस्तकस्था तु या विद्या परहस्तगतं धनम्। आपत्काले समापन्ने न सा विद्या न तद्धनम् " पुस्तक में रही हुई विद्या समयपर कुछ भी काम नही देती । इसी से स्वामीजी (दयानन्दजी) को बार बार नीचा देखना पड़ता है। सच पूछो तो पुस्तक रहने हुए भी स्वामीजी क्या कर सकेंगे। शब्द का अर्थ तो बदल ही नहीं सकते ? लेकिन सामाजिकों के तरफ से जो कपोलकल्पित काशी का शास्त्रार्थ छपा है उसमे तो साफ लिखा है कि वापी कूपतड़ागादि को पूर्त कहते हैं यह स्वामीजी ने मान लिया था परन्तु " वापी कूप तडागादिकों की प्रतिष्ठा पद्धति का विधान पुराणों में ही है इस उद्देश्य से वचन दिया गया था उसको मूर्ति के प्रमाण के लिये कहा गया था यह लिख मारा। जिसका कुछ भी प्रकरण न था। ऐसी धूर्तताओं से सचाई को छिपाना और सामाजकों को भ्रान्त करना इससे बढ़कर और क्या पाप हो सकता है। अवश्य ही कपोलकल्पित काशीशास्त्रार्थ जो कि समाज के तरफ से छपा है उसे देखते ही लोग समझ जाते होंगे कि यह कैसा असंबद्ध गढ़न्त है, प्रकाशक ने अपनी तरफ से मनमाना मद्दा संस्कृत लिखकर यह अमुक विद्वान ने कहा यह अमुक ने और स्वामी दयानन्दजी के बोलते ही सब चुप होगए। इस असत्यता को सिद्ध करने के लिये बड़ा ही प्रयत्न किया। परन्तु पूर्वापर प्रकरण से वह असत्यता स्पष्ट ही मालूम हो जाती है। अस्तु। प्रकरण को देखिये। पुस्तक निरुक्त की वहां नहीं थी जिसे स्वामी दयानन्दजी चाहते थे इससे माधवाचार्यजी ने निर्विवाद दूसरा प्रमाण दिया।

मा० साक्षात् भी पुराण शब्द वेद में है, पुस्तक लेकर पढ़ने

लोक्य) यह बात पांच वर्ष का लड़का भी समझता है कि श्रुतियों में पूर्त का विधान है। वापी कूपों का प्रतिष्ठापन पूर्त कहलाता है। अब वापी कूपों की प्रतिष्ठापद्धति कहाँ है वेद में या पुराणों में ! पुराण नहीं मानते तो यह पूर्त कर्म कैसे सिद्ध किया जायगा। (व्यग्रः) साक्षादपि पुराणशब्दः श्रूयते वेदे। (पुस्तकमवलम्ब्य पठति) "अजाहै ब्राह्मणानीतिहासान् पुराणानि कल्पयन् गाथा नाराशंसीमिदाहुः" इत्यादि।

द० (श्रृण्वन्नेव) अत्र पुराणानीति ब्राह्मणविशेषणम्।

वि० (पुस्तकं दापयित्वा स्वयं च तत्र दत्तदृष्टिः) कथं दूरेऽन्वयः ?

लगे) "अजाहै ब्राह्मणानि" इत्यादि, परमेश्वर से ब्राह्मण अर्थात् ब्राह्मण भाग वेद इतिहास पुराण कल्प श्लोक व्याख्यान इत्यादि उत्पन्न (प्रकट) हुए।

द० (सुनते ही) यहां पर पुराण यह ब्राह्मण का विशेषण है। अर्थात् प्राचीन ब्राह्मणभाग प्रमाण है।

वि० (पुस्तक देकर स्वयं भी पुस्तक को देखते हुए बोले, इतिहास के व्यवधान रहते ब्राह्मण का विशेषण पुराण कैसे हो सकता है, अर्थात् पद्य के बिना साधारण संस्कृत में व्यवधान से विशेषण नहीं कहा जाता है। दूसरे अब और दूसरा

द० (पुस्तकं परित्यज्य) "अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे" अत्र यथा तथैव ।

वि० (स्थिरभावेन) तत्र न व्यवधानम् । सर्वेषामेव विशेषणत्वात् ।

वा० (स्मारयन्निव)विशेषणस्य फलं वक्तव्यम् ।

द० पुराणविशेषणेन नवीनानां व्यावृत्तिःफलम् ।

(इतिहास) विशेष्य उसके व्यवधान में है तब व्यवहित का विशेषण होना असंभव है। इससे सिद्ध हुआ कि पुराण विशेष्य है विशेषण नहीं है जैसे इतिहास प्रमाण है उसी तरह पुराण भी प्रमाण है।

द० (पुस्तक को अलग फेंककर) जैसे अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते० यहां पर व्यवधान रहते भी विशेषण होता है उसी तरह यहां भी हो जायगा।

वि० (समझाकर स्थिरता से बोले " अजो नित्यः " यहां व्यवधान नहीं है क्योंकि सब विशेषण ही हैं (स०) विजातीय विशेष्य का व्यवधान रहते विशेषण नहीं होता। इससे सर्व विशेषण के व्यवधान का प्रमाण देते हैं। धन्य है दयानन्दजी को और उनकी बुद्धि को ; जिन्हे यह भी पता नहीं लगता कि किस अनुपपत्ति के उत्तर में क्या हम कहते हैं।

वा० विशेषण देने का फल क्या है ?

द० नवीन ब्राह्मणभाग की व्यावृत्ति (स०) क्या नवीन भी ब्राह्मणभाग है ?

वि० इतिहासस्यापि विशेषणं देयम् ।

द० दत्तमेव छान्दोग्यादौ सस्वरं पठति "विज्ञानं वावध्यानात् भूयो विज्ञानेन वा ऋग्वेदं विजानाति यजुर्वेदं सामवेदमाथर्वणं चतुर्थमितिहासपुराणः" ।

सभ्याः (सशिरः कम्पनम्) नैवं नैवं पाठः । इतिहासःपुराणमित्येव पाठः । तथा च नात्र पुराणस्य विशेषणत्वं सम्भवति ।

द० (गर्जन्) इतिहासपुराणः इत्येवमेवपाठः इति नो चेत् मत्पराजयः अन्यथा युष्माकं पराजय इति लिख्यताम् ।

वि० इतिहास का भी विशेषण देना चाहिये ।

द० उपनिषदों में इतिहास का भी विशेषण दिया है, यह कहकर "विज्ञानं" यह पढ़कर "अथर्वणं चतुर्थमितिहासपुराणः" यह पढ़ा, अर्थात् यहां पर पुराण यह इतिहास का विशेषण है ।

सभ्य० नहीं नहीं, "इतिहासः पुराणम्" यह पाठ है, और इतिहासः पुराणम' इस पाठ में विशेषण नहीं हो सकता क्योंकि, इतिहासः यह पुंल्लिङ्ग है और पुराणम यह नपुंसक लिङ्ग है यदि विशेषण होता तो पुराण यहां भी पुंल्लिङ्ग होता ।

द० (गर्जकर जोर से) "इतिहास पुराणः' यही पाठ है अर्थात् इतिहासः पुराणम यह पाठ नहीं है यदि इतिहासः पुराणम् यह पाठ निकल आवै तो हमारा पराजय, और यदि यह पाठ न निकले तो तुमलोगों का पराजय ऐसा लिखो । (स०) ठीक

है, यदि इतिहासः पुराणम् ऐसा पाठ हो तो विशेषण नहीं तो फिर पुराणों का प्रमाण निर्विवाद सिद्ध है, और पुराणों के प्रमाण होते ही श्राद्ध प्रतिमापूजन अवतार सब सिद्ध हैं। अस्तु। अब "इतिहासः पुराणम्" इस पाठ ही पर सारा दार मदार है, लीजिये इस पाठको देखिये बृहदारण्य उपनिषद में प्रसङ्ग भेद से कई जगह लिखा है। जिस बृहदारण्य उपनिषद को दयानन्दजी ने दश उपनिषदों को प्रमाण मानते हुए प्रमाण माना है. और जिस पाठ के लिये स्वामीजी अपना पराजय लिख कर मानने को तयार थे वहीं यह "इतिहासः पुराणम्" पाठ अपने अपने घर पर पुस्तकें खोल कर देख लीजिये और आग्रह छोड कर पुराण प्रमाण मान कर सच्चे सनातन धर्म को स्वीकार कीजिये। निष्पक्षपात से खूब शोचिये कि क्या किसी तरह भी पुराणम् यह विशेषण बन सकता है? जब विशेषण नहीं बन सकता तब मानिये कि निःसन्देह स्वामी दयानन्दजी का पराजय हुआ। सामाजिकों ने कपोल कल्पित जो काशी शास्त्रार्थ छपाया है उस में यह पाठ न दिखा कर कह दिया कि 'इतिहासः पुराणम्' यह उपनिषदों में पाठ ही नहीं है. अब देखिये बृहदारण्य के चतुर्थ अध्याय के प्रथम ब्राह्मण मे (बृ० ४ अ०) निर्णयसागर छाप के अट्ठावीस उपनिषदों के संग्रह वाले गुटका के (१९९ पत्र में) जनक और याज्ञवल्क्य के संवाद में आया है " का प्रज्ञता याज्ञवल्क्य ! वागेव सम्राडिति होवाच वाचा वै सम्राड्बन्धुः प्रज्ञायत ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्राण्यनुव्याख्यानानि व्याख्यानानि " इत्यादि, अब कहिये यहां इतिहासः यह पुलिङ्ग है पुराणं यह नपुंसक लिङ्ग है और विद्या यह स्त्रीलिङ्ग है यदि पुराण किसी का विशेषण होता तो

नपुंसक लिङ्ग नहीं हो सकता क्योंकि पुराण यह जहल्लिङ्ग शब्द है, अर्थात् यदि इतिहास का विशेषण होता तो पुंलिङ्ग होता और यदि विद्या का विशेषण होता तो स्त्रीलिङ्ग होता, इस से पुराण यह विशेष्य ही है तो अब कहिये "इतिहासः पुराणं" यह पाठ आपके आँखों के सामने है और अब भी क्या पुराणों के प्रमाण मानने में अथवा स्वामी दयानन्दजी के पराजय में कुछ संदेह है? अस्तु—दूसरी जगह उसी उपनिषद् में देखिये।

बृहदारण्य, ४ अ० ५ ब्रा० ११ मं०) (पत्र २१७) स यथार्द्रैधाग्नेरभ्याहितस्य पृथग्धूमा विनिश्चरन्त्येवं वा अरेऽस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्राणि अनुव्याख्यानानि व्याख्यानानि "इत्यादि' अब इतिहासः पुराणम्' यह पाठ है कि नहीं। और भी देखिये (बृ० २ अध्याय४ ब्रा० १० मं०) पत्र १७४) स यथार्द्रैधाग्नेरभ्याहितात्पृथग्धूमा विनिश्चरन्त्येवं वाअरेऽस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः" इत्यादि' कहिये सामाजिकों। आग्रह छोड कर देख लो इतिहासः पुराणं है कि नहीं "तीजे बात पतीजे" तीनों जगह इतिहासः पुराणम् यह पाठ है इस से अब निःसंदेह पुराण प्रमाण है। स्वामी दयानन्दजी ने जो कहा था कि 'इतिहासः पुराणम् ' यह पाठ हो तो हमारा पराजय नहीं तो तुम लोगों का यह जो लिखने को तैयार थे और यह पाठ तीन जगह मौजूद है तो अब मानना चाहिये कि स्वामीदयानन्दजी ने अपना पराजय लिख कर स्वीकार किया अस्तु अब "इतिहास पुराणम्" अथवा इतिहास पुराणः इस पाठ को मान भी लें तब भी पुराणम् यह विशेषण नहीं बन सकता क्योंकि यदि पुराण यह विशेषण होता तो

ता० (सहासमुच्चैः) एतावत्कालमपि त्वत्परा-

पुराण का पूर्वनिपात होना ' देखो विशेषण होने पर पुराण शब्द के पूर्वनिपात के लिये महर्षि पाणिनि जी का वचन है "पूर्वकालैकसर्वजरत्पुराणनवकेवलाः समानाधिकरणेन" २ अ० २ पाद सूत्र। इस सूत्र की उपपत्ति करते हुए भट्टोजिदीक्षित ने भी लिखा है कि "विशेष्यं विशेषणेनेति सिद्धे नियमार्थं सूत्रम्" अर्थात् पुराण शब्द जब किसी का विशेषण होगा तब निश्चय से पुराण शब्द का पूर्व प्रयोग ही होगा। और जब पुराण शब्द का पूर्व में प्रयोग नहीं है तब विशेषण भी नहीं हो सकता है जैसे पुराण मीमांसकाः ; पुराणपुरुषः इत्यादि में पुराण शब्द का पूर्व प्रयोग है इससे विशेषण हो सकता है, और प्रकृत (इस वेद) में ' इतिहास पुराणम् ' ऐसा पाठ है अर्थात् पुराण शब्द का पूर्व प्रयोग नहीं है इससे विशेषण नहीं हो सकता; तो यहां पुराण विशेष्य ही है, तो यहां यह अर्थ होता है कि इतिहास के सहित पुराण ' अर्थात् इतिहास भी प्रमाण है और पुराण भी प्रमाण है। महाशयों ! थोड़ासा परिश्रम करके बृहदारण्य उपनिषद् के पाठों को देखो और स्वामीजी के आग्रह के लिये पाणिनीय व्याकरण (ग्रामर) को देखो। निष्पक्षपात विचार करके सत्य सनातन धर्म को स्वीकार करो। अस्तु, स्वामी दयानन्दजी के इस वाक्य को सुनकर " इति नोचेत् मत्पराजयः अन्यथा युष्माकं पराजयः ' अर्थात् यदि ऐसा पाठ न हो तो हम हारें, और ऐसा (इतिहास पुराणम्) पाठ न हो तो तुम हारो ' पं० ताराचरणजी बोले।

ता० (हँसकर) क्या अब भी तुमारे पराजय होने में कुछ कसर है ? अर्थात् इतने बार निरुत्तर हुए फिर भी पराजय अव-

जयोऽवशिष्टः किम् ?

द० (अग्राह्यभावने) नहि युष्माभिः पराजितोऽहम्। जयाजये युष्माकमेव स्वकीयेच्छा।

ता० अद्यापि विचारयितुं प्रवृत्तश्चेत्कथय।

द० (उपहसति) कोथोय, कोथोय, हा हा हाः।

ता० (सकोपम्) किमेवं मुखव्रीडनं कुरुषे, त्वत्सदृशा मे बहवश्छात्राः सन्ति।

द० (प्रहस्य) वद वद। यथा बहवो मूर्खाः प्रत्यहमागत्यागत्य मां विविधकटून् वदन्तो गच्छन्ति तथा त्वमपि वद।

शिष्ट ही रहा ?

द० हम तो हारे नहीं तुम लोग अपनी इच्छा से जीतो या हारो।

ता० अब भी (कुछ आपके पराजय होने में कसर हो) विचार करना चाहते हो तो कहो ?

द० (मसखरी करके) कोथोय कोथोय इस तरह से बङ्गाली बोली की मसखरी करके जोर से हंसा।

ता० (क्रोध से) क्या इस तरह मुख बनाते हो; मसखरी करते हो। तुमारे ऐसे हमारे बहुत से विद्यार्थी हैं।

द० (हँसकर) कहो कहो जैसे रोज रोज हमारे पास बहुत से मूर्ख आकर कटुवाद कहते हैं वसो तरह तुम भी कहो।

सभ्याः-(विमृश्य) किमनेन लौकिकेन। क्षणमात्रेणैव समस्तकोलाहलो निवर्त्स्यति तत्प्रकृतम्-सर।

मा० (अत्युच्चैः सवागाडम्बरम्) शुक्लयजुर्वेदीयशतपथब्राह्मणे अश्वमेधप्रकरणे अष्टमेऽहनि इतिहासपाठः नवमेऽहनि पुराणपाठः श्रूयते पुराणानामप्रामाण्ये तत्र तत्पाठः कथं वेदविहितः?

द० तत्रान्यथैव व्याख्येयम्, पुस्तकमानय।

मा० गृहाण, "एवं पाठः" अथाष्टमेऽहन् एवमेवैतास्विष्टिषु संस्थितास्वेषैवावृदध्वर्य्यविति हवै होतरित्येवाध्वर्युर्मत्स्यः सामदो राजेत्याह, तस्यो

स० इस लौकिक कोलाहल से क्या प्रयोजन है। प्रकृत के तरफ ध्यान दो। अभी सब कोलाहल निवृत्त होता है।

मा० (बड़े जोर से बोले) शुक्ल यजुर्वेद के अश्वमेध प्रकरण में आठवें रोज इतिहास का पाठ और नवमें रोज पुराण का पाठ सुनने को लिखा है, यदि पुराण प्रमाण नहीं हैं तो पुराणों का पाठ सुनने के लिये वेद क्यों आज्ञा देता है। इस से सिद्ध हुआ कि पुराण प्रमाण हैं।

द० उस का अर्थ दूसरा होगा पुस्तक लाओ।

मा०-लीजिये यह कह कर पुस्तक देदी। वहां का पाठ ऊपर लिखा है। जिसका यह अर्थ है, कि अश्वमेध यज्ञ में आठवें रोज इष्टि इत्यादि के यथास्थित रहते अध्वर्यु होता इत्यादि को उपदेश देता है कि इतिहास वेद है अर्थात् वेद के

दके चराविशस्त इम आसत इति मत्स्याश्च मत्स्य हनश्चोपसमेता भवन्ति तानुपदिशतीतिहासो वेदः सोऽयमिति किञ्चिदितिहासमाचक्षीतैवमेवाध्वर्युः संप्रेष्यति न प्रक्रमां जुहोति। अथ नवमेऽहन् एवमेवैतास्विष्टिषु स ँस्थिता स्वेवैवावृदध्वर्य विति हवै होतरित्येवाध्वर्युस्ताक्ष्र्यो वै पश्यतो राजेत्याह तस्य वया ँसि च वयो विधिश्चोपसमेता भवन्ति तानुपदिशति पुराणं वेदः सोऽयमिति किञ्चित् पुराणमाचक्षीतैवमेवाध्वर्युः संप्रेष्यति न प्रक्रमां जुहोति"

द० तत्पत्रं गृहीत्वा बहुकालमावर्ज्य प्रत्यावर्ज्य

सदृश इतिहास भी प्रमाण है अनन्तर इतिहास को सुनाता है, और (उसरोज) हवन नहीं करता है। परम नवमे रोज इति इत्यादि के यथास्थित रहते अध्वर्यु होता इत्यादि को उपदेश देता है कि पुराण वेद है इसलिये वह पुराणों को सुनाता है और हवन (प्रसकूप्राम आहुति) नहीं करता है।(स०) समाजिकों! अब तो पुराण प्रमाण सिद्ध हुआ और पुराण सिद्ध होने से अवतार प्रतिमापूजा इत्यादि सब प्रमाण हैं यह निर्विवाद सिद्ध होगया।

द०–उस (जिस में उक्त पाठ था और जो पत्र माधवाचार्यजी ने दिया था) पत्र को बहुत देर तक लौटा पोटा कर देख कर मन से पराजय को मान कर चुप होगए। (स०) पत्र के उलटने से अर्थ तो उलटता ही नहीं, यदि वर्षों तक

च दृट्वा स्वगतं पश्यन्निव तूष्णीं स्थितः।

वि० हर हर महादेव! ब्रुवन् उत्थितः। सभाभङ्गः। करतालिध्वनिश्च।

इति श्रीकान्यकुब्ज भूदेवेन साहित्योपाध्यायपदवीं लब्धवता प्राप्तव्याकरणप्रतिष्ठापत्रकेण विद्यावारिधिरितिपदवीविभूषितेन पण्डितवर मथुराप्रसाददीक्षितेन विरचितः काशीशास्त्रार्थः समाप्तः।

स्वामीजी पत्र उलटा करें तो भी दूसरा अर्थ नहीं हो सकता है। समीक्षको! निराग्रही सामाजिको! यदि थोडा भी संस्कृत का परिज्ञान है तो देखलो और पुराणों को प्रमाण मानकर सत्य सनातनधर्म के मन्तव्यों को मान कर अपना उद्धार करो।

वि०-जब दयानन्दजी सर्वथा चुप हो गए और "मौनं स्वीकार लक्षणम्" मौन हो जाने से पुराणों को प्रमाण इन्होंने स्वीकार कर लिया। यह सब लोगों को मालुम होगया जिससे प्रतिमापूजा अवतार श्राद्ध इत्यादि सब प्रमाण सिद्ध हुए। तब विशुद्धानन्दजी हर हर महादेव! यह कर खडे हो गए सभा विसर्जित हुई और काशीस्थ विद्वानों का जय और दयानन्द जी का पराजय हुआ। इससे सब लोगों ने ताली बजाई।

* । इति शुभम्। *

पुस्तकों की सूचना ।

समासचिन्तामणि सहित कवितारहस्य ।

जिसको विद्यावारिधि साहित्योपाध्याय पण्डितवर मथुरा प्रसाद दीक्षितजी ने, बनाया है एकबार पढ़ जाने से समास करना तथा कविता बनाना आ जाता है ।

कीमत ।) और

नारायणबलिनिर्णय ।

जिसको पञ्जाब राजकुमारों के धर्मशिक्षक साहित्योपाध्याय विद्यावारिधि पण्डितवर मथुराप्रसाद दीक्षित जी ने किसके २ लिये नारायणबलि होना चाहिये यह निर्णय करके प्रकाशित किया है ।

कीमत =)

पुस्तक मिलने पता—

पं० मथुराप्रसाद दीक्षित

चीफ़कालेज लाहौर ।

अथवा

लखनऊ स्टीम प्रिंटिंग प्रेस बुकडिपो

कचौरी गली बनारस सिटी ।

एक अपूर्व पुस्तक।

एक अपूर्व पुस्तक:--

मांस-भक्षण के आदि प्रचारक

कौन थे ?

यह पुस्तक अज्ञानतिमिरभास्कर, श्रीमज्ज्ञानप्रदीपिका

आदि जैनियों की ४ पुस्तकों के जवाब में

लिखी गई है और उन्हीं के शब्दों

को लेकर उन्हीं को

लौटाया है ।

लेखक व प्रकाशक:--

मुं० मगन बिहारी लाल मुहक्किक

बा० नाथमल के प्रबन्ध से:—

आर्यभास्कर यन्त्रालय आगरा में छपा

प्रथमबार १०००] [मूल्य २)

समर्पण ।

सर्व सत्य-सनातन-वैदिक धर्म्म
के
अनुयायी तथा हितैषियों को
सेवा में
सादर समर्पित है ।

वैदिक धर्म्म का तुच्छ सेवकः—
मगनबिहारीलाल

अशुद्धाशुद्ध पत्र ।

पृष्ठ	कालम	अशुद्ध	शुद्ध
५	३	उतसर्पणी	अवसर्पिणी
७	१	जैन	जैनी
७	१५	तीर्थंकारों	तीर्थंकरों
८	१	मक्क-मदीना	मक्का-मदीना
९	१२	समसुख	सन्मुख
१०	११	जैनों	जैनियों
१०	११	मन्तव्य अनुसार	मन्तव्यानुसार
११	१५	स्वं	स्वयं
१४	३	रिषवदेव	ऋषभदेव
१४	१४	अनुराता	अति पुराना
१४	१३	जैनधर्म	जैनधर्मी
१४	१३	आर्यों	आर्यों
१६	११	मरने	मरने
१६	१२	मरुदेव्या	मरुदेव्या
१६	१२	नाभिजार्उं	नाभिनांत
१७	२	अर	और
९	९	अनादिता	अनादित:

पृष्ठ	लाइन	अशुद्ध	शुद्ध
२९	२	प्रचारक के प्रश्नों	प्रचारक अंक ९ तारीख़ १ सितम्बर १९११ के प्रश्नों
३०	९	अवत्सर्पणी	अवमर्पणी
३३	७	कुल कारों	कुलकरों
४०	१५	श्री रत्नकरंड .... सहारनपुर	श्री रत्नकरंड .... महारनपुर:—
४२	५	समर्थ	समर्थ
४३	७	सुपम	सुपमी
४३	१७	भक्षण कराय	भक्षण कराय पापी का नरक पहुंचाया
४४	१४	विषयानुक्रमणिका	जैनप्रचारक के अंक ९ ता० १ सितम्बर १९११ के उत्तर में
४५	६	उत्पर्पिणी	उत्सर्पिणी
४६	१०	सास्यक	सम्यक
४६	१०	दृष्ट	दृष्टि
४६	१६	असम्यक	असम्यक
४८	७	हिरण्यगर्भ	हिरण्यगर्भ

निवेदन।

सत्यासत्य विवेकी सज्जनगण !

आज इस पुस्तक को प्रकाशित करते हुए मुझे अपूर्व हर्ष हो रहा है। वास्तव में यह पुस्तक इस से बहुत पहिले निकल आनी चाहिये थी। परन्तु पुस्तक की तैयारी में अनेक विघ्न आपड़े पहिले तो यह कि मेरा स्वास्थ्य खराब होगया; दूसरे धन सम्बन्धी अड़चनें भी अनेक उपस्थित हुईं। पुस्तक की तैयारी में उसके लिये ग्रन्थों के संग्रह में, मेरा बहुत सा धन खर्च हो गया था। इस लिये कागज़ और छपाई के लिये धन का प्रबन्ध करने में विलम्ब हुआ। प्रेस में पुस्तक पहुंचने पर भी अनेक विघ्न आये। प्रेस ने अपनी सुविधा के अनुसार कार्य किया, और इस पुस्तक के छपने में विलम्ब होता गया। अस्तु ! अब यह पुस्तक आप लोगों के सामने है। आप सत्यासत्य का निर्णय करें।

—:o:—

भूमिका ।

प्रकाशक का निवेदन ।

पुस्तक रचने का कारण ।

---::0::---

बहुत छोटी उमर से मुझ को सत्यधर्म की तलाश थी जिस के लिये मुझे बहुत सी कठिनाइयों का सामना करते हुये वैदिकधर्म पर आकर ठोकर खानी पड़ी। वैदिकधर्म का अध्ययन करते हुए जैनग्रन्थ देखने का भी कुछ शौक पैदा हो गया जिस से जैनधर्म की बहुत सी बातें झूठी मालूम पड़ने लगीं और वैदिकधर्म पर विश्वास दृढ़ होने लगा। बहुत दिनों से मेरी अभिलाषा थी कि जैनधर्म का सार सर्वसामान्य के सन्मुख रक्खूं। परन्तु समय तथा धनाभाव से ऐसा न करने दिया परन्तु, जैनमुनि आत्माराम जी की बनाई हुई पुस्तक अज्ञान-तिमिरभास्कर तथा श्रीमज्ञानत्रिशिका इत्यादि पुस्तकों

में यह पढ़कर कि वैदिकधर्मावलम्बी प्राचीन काल में मांसाहारी थे मुझ से न रहा गया और इसी विषय को लेकर आप महानुभावों के सन्मुख उपस्थित हुआ यदि सर्वसामान्य ने इस पुस्तक को अपना कर मेरे उत्साह को बढ़ाया तो अति शीघ्र ही जैनधर्मी शेष बातों का भी रसास्वादन कराऊंगा।

पाठकों की सेवा में निवेदन है कि यद्यपि पुस्तक का आकार देखते हुये इस का मूल्य कुछ ज्यादा मालूम होता है परन्तु इस का मूल्य पुस्तक का आकार देखते हुए नहीं रक्खा गया बल्कि इस पुस्तक के तैय्यार करने के लिये जो सामान मंगाया गया था उस के व्यय के हिसाब से रक्खा गया है क्योंकि आजकल "जैनग्रन्थ" हम लोगों के लिये अलभ्य तथा बहुमूल्य हैं।

---::०::---

मांस-भक्षण के आदिप्रचारक

कौन थे ?

विश्वानिदेव सवितर्दुरितानि परासुव यद्भद्रं तन्न आसुव ॥ ३ ॥

मंत्रार्थ (सवितः) हे जगत् के प्रेरक (देव) परमात्मा (विश्वानि) सम्पूर्ण (दुरितानि) पापों को (परासुव) हम से दूर करो (यत्) जो (भद्रम्) कल्याण है (तत्) उन को (नः) हमारे प्रति (आसुव) प्रेरणा करो वा प्राप्त कराओ [यजु० ३० । ३]

अनादि सच्चा ईश्वर ।

वही ईश्वर प्रभू जगत् का सदा प्यारा हमारा है ।
वही वेदों का कर्त्ता है रचा जिसने पसारा है ॥
वही सद्धर्म बतलाता वही सन्मार्ग दिखलाता ।
वही मुक्ती का दाता है वही जगका विधाता है ॥

वही निर्गुण सगुण स्वामी वही भक्तोंका है हामी ।
उसी को वेद बतलाते वो आकारों से न्यारा है ॥
न आता गर्भ में हर्गिज़ न मरता और न गिरता है ।
वही सब ओर व्यापक है वही क्लेशों से न्यारा है ॥
वो देखे आँख बिन सबको न आँखें देखती उसको ।
वो बिन कानोंके सुनता है वही मालिक तुम्हारा है ॥
जगत् में देखलो प्यारो वही सर्वत्र व्यापक है ।
वो बर्गों में वो गुलमें है चमन उसका यह सारा है ॥
नहीं है दूर हर्गिज़ वो, वो रहता संग में सबके ।
न उसको देखते सब हैं मगर योगी निहारा है ॥

———:०:———

धरूं ओ३म् को पहिले मैं ध्यान में ।
दिये वेद जिसने ऋषी ज्ञान में ॥
करूं सबसे पहिले मैं ज़िकरे खुदा ।
जो रचने का कारण अनादि हुआ ॥
गुण उसके बयां किस तरह हो सकें ।
नहीं ताकत हर्गिज़ यह इनसान में ॥

निराकार निर्भय वो है निर्विकारी ।
परब्रह्म रक्षा करो तुम हमारी ॥

हुआ चार वेदों का प्रचार तुमसे ।
हुआ दुष्ट जीवों का उद्धार तुम से ॥

जगत् में है जीवों पै कृपा तुम्हारी ।
वरन कौन सक्ता है महिमा तुम्हारी ॥

तुम्हीं सच्चिदानन्द अक्रोष स्वामी ।
नमामी नमामी नमामी नमामी ॥

मु० जगनकिशोर साहब वकील
हुशन फीरोजाबाद

—:०:—

जैनग्रन्थ इस बात का प्रतिपादन करते हैं कि जैनमत अनादि है और इस भूमंडल पर सब से पहिले जैनमत का ही प्रचार था। जैनमत के सिवाय जितने मत मतान्तर हैं और जितनी विद्यायें दृष्टिगोचर होती हैं, वे जैनियों के मन्तव्यानुसार सब की सब आधुनिक हैं। अज्ञान तिमिरभास्कर के पृष्ठांक १९६ में जैनमत का पूर्व इतिहास इस तरह लिखा है कि श्री ऋषभदेव से पहिले

इस भरतखंड में अवसर्पिणीकाल में किसी मत का और सांसारिक विद्या का कोई पुस्तक नहीं था क्योंकि श्री ऋषभदेव से पहले ग्राम नगरादि नहीं थे उस समय के मनुष्य वनवासी और कल्पवृक्षों के फलों का आहार करते थे। इस जगत् में जो व्यवहार प्रजा के हितकारी है वे सब ऋषभदेव ही ने प्रचलाये हैं। आगे चलकर इसी ग्रन्थ में लिखा है कि "कितनीक मनकल्पित बातों को इकट्ठा करके भृगुजी ने मनुस्मृति बनाई है। मनुस्मृति बने बहुत काल नहीं हुआ है।,, इसके पश्चात् वह लिखते हैं कि "पश्चात् व्यासयाज्ञवल्क्यादिकों ने ऋग्, यजुर, साम और अथर्व आदि चार वेद बनाये।,, जैनियों के इस लेख से विदित होता है कि वह मनुस्मृति को वेदों से पहिले की पुस्तक मानते हैं। और वेदों को मनुस्मृती के बाद बना हुआ मानते हैं और जब कि जैनियों के मन्तव्यानुसार मनुस्मृती को बने बहुत दिन नहीं हुये तो वेद जिनको कि मनुस्मृती के बाद का बना हुआ मानते हैं बने हुये बहुत ही थोड़ा अरसा होना चाहिये। हमारे ऋषि मुनियों के मांसाहार का पता जैनी लोग मनुस्मृति और वेदादि पुस्तकों से ही देते हैं। अब हमें देखना चाहिये।

कि संसार के सब से प्राचीन जैन ग्रन्थ मांसाहार के विषय में क्या वर्णन करते हैं। जैन ग्रन्थ अतसर्पणी के छठे काल का वर्णन करते हुये लिखते हैं कि उतसर्पणी के छटे काल में मनुष्य इक्कीस हज़ार वर्ष तक मांस भक्षण करते हैं और चूंकि जैनमत अनादि है इस कारण जो मनुष्य उस काल में इस भूमंडल पर निवास करते होंगे वे सब के सब जैन होंगे (क्योंकि जैनमन्तव्यानुसार अन्य सब मत आधुनिक हैं) इस से सिद्ध हुआ कि आज कल के जैनियों के पूर्व पुरुष सब मांसाहारी थे और जिन्होंने पूरे इक्कीस हज़ार वर्ष तक मांसभक्षण किया था व यह भी लिखते हैं कि उत्सर्पिणी के छठे काल में इक्कीस हज़ार वर्ष तक धर्म्म कर्म्म नहीं रहता। विवाह शादी का भी दस्तूर जाता रहता है। इन्सान (उस समय के जैनी लोग) डंगरों की तरह बर्ताव करते हैं। जिनाकारी ही से उस वक्त औलाद पैदा होती है इससे सिद्ध होता है कि आज कल के जैनी लोग जो अपने आप को अहिंसक और श्रेष्ठ कह-

खाने का दावा रखते हैं उन्ही मांसाहारियों की औ-लादों में से हैं।

पद्म पुराण में मनुष्य-भक्षी राजा सौदास का वर्णन है। यह राजा भी जैनी था। वह मांस के बिना नहीं रह सकता था एक समय अष्टानिका पर्व के दिन थे। राजा ने अपने रसोईदार को मांस लाने की आज्ञा दी। रसोईदार ने उत्तर दिया कि महाराज यह अष्टानिका के दिन हैं। यह वस्तु अलभ्य है। (इस से मालूम होता है कि अष्टानिका आदि व्रतों के सिवाय अन्य दिनों में छूट से मांस की बिक्री होती होगी) निदान जब रसोइये ने देखा कि राजा किसी प्रकार मांस के बिना नहीं रह सकता तो वह एक मृतक बालक को वस्त्र में लपेट कर ले आया और उस का मांस पका कर राजा को खिलाया राजा को वह मांस ऐसा स्वादिष्ट लगा कि इसके बाद अनेक बालकों को रसोइया से मरवा कर और पकवा कर खा गया।

यहां पर हम अपने पाठकों को स्मरण दिलाते हैं

कि जैन संसार के अन्य सम्पूर्ण मतों को आधुनिक मा-
नते हैं। इससे स्पष्ट प्रकट होता है कि राजा [illegible]
के समय में जो लोग मांसाहारी थे वे सब के सब जैनी
थे। क्योंकि जैनमत के सिवाय उस समय भूमण्डल पर
कोई दूसरा मत नहीं था। रत्नकंड-श्रावकाचार्य्य में लिखा
है कि श्री महावीर स्वामीको केवल ज्ञान होनेके पश्चात्
पेचिश (अतिसार) का रोग हुआ था। जब छः महीने
तक इस रोग को आराम नहीं हुआ तब उन्होंने अपने
शिष्य से कहकर किसी सेठ के यहां से एक [illegible] का
पका हुआ मांस मंगाकर खाया तो उससे उनको आराम
हुआ तत्वनिर्णय प्रसाद में स्वपक्षी की जगह कूकड़ या
कबूतर लिखा है। जो हो, जैनों के २४ वें तीर्थंकर श्री
अरहन्त जिन देव ने अपने प्राणों के लोभ से मांस भ-
क्षण खाया। चाहे वह किसी पक्षी का हो। और वह
केवल ज्ञान होने पीछे। यह इनके तीर्थंकारों का हाल
है जिनको वे अपना ईश्वर मानते हैं और वह भी
किसी सेठ के यहां से मंगवाया था। जिससे मालूम
होता है कि उस समय जैनियों में मांस-भक्षण बुरा

नहीं समझा जाता था। मक्का-मदीना और जैपुर आदि नगरों में कबूतरों का मारना बहुत बुरा समझा जाता है। और मांसाहारी लोग भी उनका मांस नहीं खाते हैं। प्रत्युत उनकी रक्षा करना और उनको दाना आदि डालना पुन्य समझते हैं। परन्तु धन्य है जैनियों को जिनके तीर्थंकर और दूसरे सेठ जैन कबूतर तक को भी नहीं छोड़ते थे। और फिर भी अपने को अहिंसा व्रत धारण करने वाले मानते हैं।

इटावे के पं० रामदयालु शर्मा ने "भूमण्डल के जैनियों से प्रश्न" नाम की पुस्तक सन् १९१३ में छपवाई थी। उसमें जैन तत्वादर्श के हवाले से लिखा है कि यदि जैनियों को उल्लू आदि पक्षी या पशुओं का मांस तथा कलेजा या अन्य अंगों पांग की आवश्यकता हो तो भीलों से न लें, किन्तु अन्य दूकानदारों से मोल ले लेवें। इससे विदित होता है कि जैन लोग भीलों से मंगाने में पाप समझते हैं किन्तु दुकानदारों से लेने में पशु-हिंसा के भागी होना अपने को नहीं मानते। यही महाशय अपनी प्रश्न माला में जैन पद्म पुराण दिगम्बर-

री पृष्ठ १५८ के हवाले से लिखते हैं कि—अहिदेव और महिदेव इन दोनों जैन मतावलम्बियों के यहां नित्य प्रति मछलियाँ पका करती थीं । वे जैनी मछलियाँ अवश्य भक्षण करते होंगे ।

हम पहिले लिख आये हैं । कि जैन लोग हमारे वेदादि शास्त्रों को प्राचीन नहीं मानते । वे हमारे ऋषि-मुनियों पर अर्वाचीन ग्रन्थों के आधार से मांसाहारी होने का कलङ्क लगाते हैं (परन्तु अब हम जैनियों के मन्तव्यानुसार ही संसार के सब से प्राचीन आदि मत अर्थात् जैन मत के ग्रन्थों में मांस भक्षी मनुष्यों के इतने उदाहरण पाते हैं तो इनसे सिद्ध होता है कि संसार के सम्मुख मांस-भक्षण की निर्दय प्रथा को यदि किसी ने पेश किया है तो वे जैनी ही हो सकते हैं) क्योंकि वह मानते हैं कि जैन मत संसार का सब से प्राचीन मत है और उसके अनुयायी जैनी भूमण्डल के निवासियों में सब से प्राचीन हैं । और जैनमत के ग्रन्थ सबसे प्राचीन ग्रन्थ हैं । तो सब से प्राचीन मत के ग्रन्थ सब से प्राचीन मनुष्यों में सब से प्राचीन काल से

मांस भक्षण की प्रथा का उदाहरण संसार के आगे रखते हैं। तो हम निःसंकोच कह सकते हैं कि मांस भक्षण के आदि प्रचारक जैनियों के अतिरिक्त और दूसरे नहीं हो सकते। अब हमारे पाठक गण समझ गये होंगे कि वेद और स्मृतियों के ऋषियों ने मांस भक्षण की शिक्षा यदि कहीं से प्राप्त की भी होगी, तो वह जैनियों से की होगी (अतएव वह मांस-भक्षण की विद्या में जैनियों के चेले हो सकते हैं, न कि किसीके गुरू) और जैन ग्रन्थों में मनुष्य तक के मांस-भक्षण के उदाहरण मिलते हैं। अतएव मांस-भक्षण की विद्या में जैन ग्रन्थ वेदों से बढ़कर हैं। पाठक महाशयो, यह मैंने जैनों के मन्तव्य अनुसार ही लिखा है। इस पुस्तक को पढ़कर आपको अच्छे प्रकार ज्ञात हो जायगा कि जैनियों के आक्षेप कितने निःसार और कपोल कल्पित हैं जो उन्होंने हमारे सनातन वैदिक-धर्म पर किये हैं।

यदि यह अल्प पुस्तक हमारे पाठक गणोंको स्वीकृत हुई तो शीघ्र ही इसका दूसरा खंड प्रकाशित किया जायगा। वेदों में मांस भक्षण का कहीं भी विधान नहीं है और

न हमारे ऋषि-मुनि मांसाहारी थे। मैं इसी सिद्धान्त का पक्ष पाती हूं यह पुस्तक मैंने किसी का चित्त दुखाने के लिये नहीं लिखी है। और न किसी पर मिथ्या-कलंक लगाने के ग़रज़ से। यदि कोई जैनी अन्यथा सिद्धि करेगा अथवा मेरे अर्थों को असत्य सिद्धि कर देगा तो उसी क्षण में वैसा मानने को तैयार हूं। मैंने जो कुछ लिखा है वह तहक़ीक़ की दृष्टि से लिखा है।

पाठकों को विदित हो कि जैनियों ने "अज्ञान तिमिर-भास्कर, भीम-ज्ञान-त्रिशिका,, "तत्व निर्णय प्रसाद,, "जैनतत्वादर्श,, आदि ग्रन्थों में हमारे ऋषि मुनियों पर अनेक कपोल कल्पित दोष लगाये हैं, जैसे कि कुत्ते का, गधे का, गौ का, बैलका, मांस खाना व यज्ञ में हवन करना इत्यादि और जिस अश्लील भाषा में अशिष्टता से जैनियों ने उन ऋषि महर्षियों का वर्णन किया है। उसे हमारे पाठक स्वयं इनके ग्रन्थोंमें देख लें। मैंने यह पुस्तक इन्हीं ग्रन्थों के उत्तर स्वरूप लिखी है। इसमें जैनियों के किसी देव देवी या आचार्य्य के लिये

कोई अनुचित शब्द का उपयोग नहीं किया गया। यदि किस पर भी कोई जैनी महाशय मुझसे रुष्ट हो जायं तो इस में मेरा तनिक भी दोष नहीं।

मगनबिहारी लाल

---:०:---

श्री अज्ञानतिमिर भास्कर, श्री जैन आत्मानन्द सभा भावनगर वीर संवत् २४३२ विक्रम संवत् १९६२ आत्म सम्वत् ११

भावनगर।

श्री "विद्या विजय,, प्रिंटिंग प्रेसमां शाह पुरुषोत्तमदास गीताभाइए मुद्रांकित कर्युं.

पृष्ठ १० वां [ऋषियों का मांसाहार]।

प्राचीन काल में जो ब्राह्मण थे तिनको ऋषि कहते थे। जिनमें का नाम महर्षि, राजर्षि, ब्रह्मर्षि ऐसे ऐसे जुदे २ नाम थे, ये सर्व ऋषि अनेक प्रकार के जानवरों का मांस खाते थे। ये बात इनके बनाये ग्रन्थ से मालू-

न होती है, वर्त्तमान में म्लेच्छ यवन प्रमुख मांस खाते हैं परन्तु पूर्वले ऋषि इनसे भी अधिक मांसाहारी थे।

——::o::——

जैनी—प्राचीनकाल में ब्राह्मण थे।

मुहक्किक—यह आपका लेख मिथ्या है कि प्राचीन काल में ब्राह्मण थे जैन शास्त्रों के अवलोकन करने से ज्ञात होता है कि तीन वर्ण थे क्षत्रिय, वैश्य, और शूद्र।

अब इसलिये हम आप के जैन गजट अलीगढ़ का संक्षेप लेख लिखते हैं और जहां प्रकरण आवेगा। शास्त्रों के प्रमाण सहित लिखेंगे।

जैन गजट वर्ष २० अंक २४ अलीगढ़ मिती वैशाख शुक्ला ५ वीर सं० २४४१ पृष्ठ ४ खुली चिट्ठी के उत्तर में लिखा है कि:—

(४) आप ने जो हमें (भरत को) चतुर्थ वर्ण की रचना करने के उपलक्ष्य में सुधारक की पदवी दी उसके लिये आप धन्यवाद के पात्र हैं। हमारा अभिप्राय आप जानते ही होंगे। कि कोई एक वर्ण ऐसा अवश्य

होना चाहिये जो आप धर्म साधन करता हुआ गृहस्थों के धर्म साधन में सहायक हो ।

इस लेख से विदित हुआ कि ब्राह्मण वर्ण रिषभदेव के पुत्र भरत ने स्थापित किया तो यह प्राचीन ब्राह्मण ही जैन ऋषि हुये आप के लेखानुसार उन्होंने मांस खाया होगा ।

(२) प्राचीन काल में जैनधर्म था इस का प्रमाण जैनियों के लेख से सूक्ष्म लिखा जाता है । आगामी लेख में विस्तार पूर्वक लेख लिखा जायगा । और इस की छानबीन करने के पश्चात् उस का वर्णन होगा (जै० ग० सु० पृ० ४-(५)--आप जैन-धर्म की नीव--डग-मगाने और उस के अन्त होने का भय बार २ सर्व साधारण को दिखाते हैं सो यह आप की भूल है जैन धर्म तो अनादि अनन्त अनुराणा है न उसकी नीव हिल सकती और न कभी वह नाश हो सकता है इतना अवश्य है कि आप सरीखे जैन धर्म त ा उसके आसों पर व्यर्थ ही दौड़ पड़ने वाले

पूर्ण मिथ्यात्वी होकर जैन धर्म रूपी शेर की स्वघा ओढ़ गर्जना कर के विचारे भोले भाले जीवों को धर्म-पतित कर उनकी शिकार द्वारा श्रद्धावानों की संख्या घटाने में तत्पर जैन जाति के भार भूत हो रहे हैं।

(तीसरा प्रमाण—) तत्त्वनिर्णयप्रसाद, श्रीमद्विजयानन्दसूरि [आत्माराम जी] विरचित आर० सी० बंसल एण्ड कम्पनी आगरा के यंत्रालय में सिर्फ टायटिल पेज छपा कर प्रकाशित किया वी० सं० २४२८ ई० सं० १९०२ वि० सं० १९५८ आ० सं० ६।

मोक्ष मार्ग प्रकाशक श्री जैन ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय बम्बई वीर सं० २४३८ नवम्बर सन् १९११ ईस्वी कि पृष्ठ ५०८ त० प्र०— कि० पृष्ठ २०१ मो० मा० प्र०— बहुरि ऋग्वेदविषै ऐसा कहा है कि:—

ओ३म् लोक श्री प्रथिष्ठान् चतुर्विंशतितीर्थंकरान् ऋषभादिवर्द्धमानांतानसिद्धातानशरणंप्रपद्यामहे।

त० नि० प्रा० द्वात्रिंशत्स्तम्भः। पृष्ठ ५११ का संक्षेप आशय—कुछ जैन मत के प्रमाण से सिद्ध होता है कि

जैन मत वेदों से पहिले का है वेद में जैनतीर्थंकरादिकों के लेख होने से मो० मा० प्र० पृष्ठ २०२ में से अनुकरण—

यहां जैन तीर्थंकरनि के जे नाम हैं तिन का पूजन कह्या। बहुरि यहां यह भाष्य जो इनिके पीछे वेद रचना भई है ऐसें अन्य मतनिकी साक्षीतें भी जिन-मत की उत्तमता की और प्राचीनता दृढ़ भई। (चौथा प्रमाण) मो० म० प्र० पृष्ठ २०१में बहुरि मनुस्मृति वि-षय ऐसा कहा है—

कुलादि बीजं सर्वेषां प्रथमो विमल वाहनः।
चक्षुष्मान् यशस्वी वाभिचंद्रोऽथ प्रसेनजित। १।
मरुदेवीच नाभिश्च भरते कुल सत्तमाः।
अष्टमो मरुदेव्यां तु नाभेजार्त उरुक्रमः। २।
दर्शयनवर्त्मं वीराणा सुरासुरनमस्कृतः।
नीति त्रितंयकर्त्ता यो युगादौ प्रथमोजिनः। ३।

यहां विमल वाहनादिक मनु कहे सो जैन विषै कुल वर्णन के ए नाम कहे हैं और यहां प्रथम जिन युगकी

आदि विषै मार्ग का दर्शक अर सुरासुरकरि पूजित कह्या सो ऐसैं ही है तो जैनमत युग की आदि ही ते है अर प्रमाण भूत कैसे न कहिये।

(पांचवां प्र०) जैन प्रदीप २५ नोम्बर १९१२ ई० वीर सं० २४३९ जोतीप्रसाद आडीटर जैन प्रदीप देवबन्द तिजारती प्रेस मेरठ में बशीरउद्दीन प्रिन्टर ने छप वाया)

(हमारी हालत सफा ८)-

तवारीख़ के पढ़ने से यह मालूम होता कि ज़माने माविक में तमाम दुनियां का अगर कोई एक मज़हब था तो वह एक जैनधर्म था दुनियां को इस धर्म का ऐतक़ात था हर चार जानिब इस का ही डंका बजता था चक्रवर्ती राजाओं ने जिनके राज्य के बराबर इस ज़माने में किसी राजा का राज नहीं है इस जैन मत को माना है।

छः वां प्र०) जै० ग० मिती वैशाख शुक्ला ५ वीर २४४१ पृष्ठ ४-(२)-आपने जो हमारे (यानी भरतको)

म्लेछ क्षेत्रके राजाओंकी कन्यायोंके पाणिग्रहण करने का उदाहरण रख कर तदनुसार ही प्रवर्त्तने का इशारा किया तथा यह भी बतलाया कि जिस प्रकार आप के जमाने में चतुर्वर्ण में बेटी-रोटी व्यवहार था वैसा अब होने लगे और हमको यदि धोबी नाई की कन्या रत्न अथवा बिधवा रत्न प्राप्त हो जाय तो भी हम धन्य भाग मानने को तयार हैं। सो ठीक है बेटा आप को ख्याल होना चाहिये कि उस जमाने में चतुर्वर्ण जैनी था इस से द्विज वर्ण में बेटी—रोटी व्यवहार से कोई हानि धर्म कर्म सम्बन्धी नहीं होती थी। पुनः हमने जो म्लेछ-क्षेत्र के राजाओं की कन्या बिवाही थीं उनको आप मुसलमानों ईसाइयों अथवा भंगी चमारों की न सम-झिये यद्यपि उनके वर्ण भेद नहीं था तथापि खान पान रहन-सहन शुद्ध था इसी कारण उन से उत्पन्न हुए पुत्र और उन के साथ आये पुरुष इस क्षेत्र में मनुव्रत पालन कर मोक्ष जाते थे।

(सातवां प्रमाण) जिनेन्द्र मत दर्पण प्रथम भाग —

(पृष्ठ १०)—अब देखिये कि ऋषभ कब पैदा हुए। सृष्टि के शुरू में ही (पृष्ठ १४)—जैनधर्म एक ऐसा प्राचीन मत है कि जिस की उत्पत्ति तथा इतिहासों का पता लगाना एक बहुत ही दुर्लभ बात है।

पाठकवृन्दो, मैंने यह लेख पुस्तक में जैनियों के आदि पुराणादि ग्रन्थों व जैनगज़ट के प्रमाणों के आधार पर लिखे हैं। जैनियों ने जिन कपोल कल्पित मन्त्र व श्लोकों का ऋग्वेद व मनुस्मृति में होना बताया है उसका मिथ्यात्व दिखाया गया है। जैनमत की स्वरूप से अनादिता व प्राचीनता जैनियों के मन्तव्यानुसार ही लिखी है। इस को आप स्वयं विचारपूर्वक पढ़ेंगे।

लोका लोक का वर्णन।

जैन पद्मपुराण दिगम्बरी पृष्ट ३३ ज्ञानचन्द्र जैनी लाहौर।

गौतम स्वामी कहे हैं कि हे राजा श्रेणिक अनन्त प्रदेशी जो अलोकाकाश इस के मध्य तीन वात वलान कर वेष्टित तीन लोक तिष्ठे हैं तीन लोक के मध्य यह मध्य लोक है इस में असंख्यात द्वीप और समुद्र हैं उन के बीच लवण समुद्र कर वेढ़ा लक्षयोजन प्रमाण यह जम्बू द्वीप है उस के मध्य सुमेरु पर्वत है सो मूल विषे वज्रमणि (हीरा) मई है और ऊपर समस्त सुवर्ण मई है और अनेक रत्नों कर संयुक्त है संध्या समय रक्तता को धरे जे मेघन के समूह उन के समान सुरङ्ग ऊंचा शिखर है सो शिखर के और सौधर्म्म स्वर्ग के बीच में एक बाल की अणी का अन्तर (फासला) है सुमेरु पर्वत निन्यानवें हज़ार योजन तो ऊंचा है और एक हज़ार योजन कन्द (जड़) है और पृथिवी विषे तो दश हज़ार योजन चौड़ा है और शिखर विषे एक हज़ार योजन चौड़ा है मानो मध्य

लोक के नापने का दण्ड ही है जम्बू द्वीप विषे एक देवकुरु एक उत्तर कुरु हैं और भरत आदि सप्त क्षेत्र हैं षटकुलाचलन (पर्वतों) कर जिन का विभाग है जम्बू (जामन) और शाल्मली (सिम्बल) यह दोय वृक्ष हैं और जम्बू द्वीप विषे चौंतीस विजियार्ध पर्वत हैं एक एक विजियार्ध विषे एक सौ दस विद्याधरन की नगरी हैं। एक एक नगरी को कोटि कोटि ग्राम लगे हैं और जम्बू द्वीप विषे बत्तीस विदेह एक भरत एक ऐरावत यह चौंतीस क्षेत्र हैं एक एक क्षेत्र विषे एक एक राजधानी है और जम्बू द्वीप विषे गङ्गा आदिक चतुर्दश (१४) महानदी हैं और छह भोगभूमि हैं एक एक विजियार्ध पर्वत विषे दोय दोय गुफा हैं सो चौंतीस विजियार्ध में अड़सठ गुफा हैं षट कुलाचलों विषे और विजियार्ध परवतों विषे तथा वक्षार पर्वतों विषे सर्वत्र भगवान के अकृत्रिम चैत्यालय हैं। और जम्बू वृक्ष और शल्मली वृक्ष विषे भगवान के अकृत्रिम चैत्यालय हैं कैसे हैं अकृत्रिम चैत्यालय रत्नन की ज्योति कर शोभायमान हैं

जम्बू द्वीप की दक्षिण दिशा की ओर राक्षस द्वीप है और ऐरावत क्षेत्र की उत्तर दिशा विषे गंधर्व नामा देश है और पूर्व बिदेह की पूर्व दिशा विषे वरुण द्वीप है और पच्छिम विदेह की पच्छिम दिशा विषे किन्नर द्वीप है वे चारों ही जिन मन्दिरों कर मण्डित है।

कालचक्र का वर्णन।

जैन पद्मपुराण दिगम्बरी पृष्ठ ३४ से ३७ तक।

जैसे एक मास विषे शुक्लपक्ष और कृष्णपक्ष यह दोय पक्ष होय हैं तैसे एक कल्प विषे अवसर्पणी और उत्सर्पणी दोनों काल प्रवृते हैं सो अवसर्पणी काल विषे प्रथम ही सुखमा सुखमा काल की प्रवृत्ति होय है, फिर दूसरा सुखमा, तीसरा सुखमा दुःखमा, चौथा दुःखमा सुखमा, पांचवा दुःखमा और छठा दुःखमा दुःखमा, प्रवृते हैं तिस के पीछे उत्सर्पणी काल प्रवृते हैं उस की आदि विषे प्रथम ही छटा काल दुःखमा दुःखमा प्रवृते हैं फिर पांचवा दुःखमा फिर चौथा दुःखमा सुखमा फिर

तीसरा सुखमा दुःखमा फिर दूसरा सुखमा फिर पहला सुखमा सुखमा । इसी प्रकार अरहट की घड़ी समान अवसर्पणी के पीछे उत्सर्पणी और उत्सर्पणी के पीछे अवसर्पणी सदा यह कालचक्र फिरता रहता है परन्तु इस काल की पलटना केवल भरत और ऐरावत क्षेत्र विषे ही फिरे हैं. इसलिये इन में ही आयु कायादिक की हानि वृद्धि होय है और महा विदेह क्षेत्रादि विषे तथा स्वर्ग पाताल विषे और भोग भूमियादिक विषे तथा सर्व द्वीप समुद्रादिक विषे कालचक्र फिरता नहीं इसलिये उन में रीति पलटे नहीं एक ही रीति रहे है । देवलोक विषे तो सुखमा सुखमा जो पहला काल सदा उस की रीति रहे है और उत्कृष्ट भोग भूमि विषे भी सुख सुखमा काल की रीत रहे है और मध्य भोगभूमि विषे सुखमा कहिये दूजा काल उसकी रीति रहे है और जघन्य भोग भूमि विषे सुखमादुखमा जो तीसरा काल उसकी रीति रहे है और महा विदेह क्षेत्रों विषे दुःखमा सुखमा जो चौथा काल उस की रीति रहे है और अढाई द्वीप परे अन्त के आधे स्वयम्भू रमण द्वीप पर्यन्त बीच के असं-

ख्यात द्वीप समुद्र विषे जघन्य भोगभूमि सदा तीसरे काल की रीति रहे है और अन्त के आधे द्वीप विषे तथा अन्त के स्वयम्भू रमण समुद्र विषे तथा चारों कोण विषे दुखमा कहिये पंचम काल उस की रीति सदा रहे है और नरक विषे दुखमा दुखमा कहिये छठा काल उसकी रीति रहे है और भरत ऐरायत क्षेत्रों विषे छहों काल प्रवृते है जब पहिला सुखमा सुखमा काल ही प्रवृते है तब यहां देव कुरु उत्तर कुरु भोगभूमि की रचना होय है कल्प वृक्षों कर मण्डित भूमि सुखदाई शोभे है और उड़ते सूर्य्य समान मनुष्य की कांति होय है सर्व लक्षण पूर्ण लोक शोभे हैं स्त्री पुरुष युगल ही उपजे हैं और लारही मरे हैं स्त्री पुरुष न विषे अत्यन्त प्रीत होय है मरकर देव गति पावै हैं भूमि काल के प्रभाव से रत्न सुवर्णमयी और कल्पवृक्ष दशजाति के सर्व ही मन वांछित पूर्ण करे हैं जहां चार चार अंगुल के महा सुगंध महामिष्ट अत्यन्त कोमल तृण उनकर भूमि आच्छादित है सर्व ऋतु के फल फूलन कर वृक्ष शोभे हैं और जहां हाथी घोड़े गाय भैंस आदि अनेक जाति के

पशु सुख सोरहे हैं और मनुष्य कल्पवृक्षों करि उत्पन्न औ मष्ट मनोहर आहार सो करे हैं और जहां सिंहादिक भी हिंसक नहीं मांस का आहार नहीं योग्य आहार करे हैं और जहां वापी सुवर्ण रत्न के सिवानन (पोड़ी) कर संयुक्त कमलों कर शोभित दुग्ध दही घी मिष्टान्न की भरी अत्यन्त शोभा को धरे हैं और पहाड़ अत्यंत ऊंचे नाना प्रकार रत्न की किरणों कर मनोज्ञ सर्व प्राणियों को सुख के देने हारे पांच प्रकार के वर्णको धरे विराजे हैं और जहां नदी जलचरादि जंतु रहित महा रमणीक दुग्ध (दूध) घी मिष्टान्न जलकी भरी अत्यंत स्वाद संयुक्त प्रवाह रूप वहे हैं रत्नन की ज्योति कर शोभायमान हैं तट जिनके। जहां बेइन्द्री तेइन्द्री चौइन्द्री असैनी पंचेन्द्री तथा जलचरादि नहीं जहां थल चर नभचर गर्भज तिर्यञ्च हैं सो तिर्यञ्च भी युगल ही उपजे हैं वहां शीत उष्ण वर्षा नहीं तीव्र पवन नहीं शीतल मंद सुगंध पवन चले है और किसी भी प्रकार का भय नहीं सदा अद्भुत उत्साह ही प्रवर्ते है और ज्योतिरांग जातिके कल्प वृक्षों की ज्योति कर चांद सूर्य्य नक्षत्र नहीं भासे हैं दश ही

जाति के कल्प वृक्ष सर्व ही इन्द्रियों के सुख स्वाद के देने हारे शोभे हैं जहां अशन (खाना) पान (पीना) शयन (सोना) आसन (बैठना) वस्त्र आभूषण सुगन्धादिक सर्व कल्प वृक्षों से ही उपजे हैं और भाजन (वर्तन) तथा वादित्रादि (बाजे) महा मनोहर सर्व ही कल्पवृक्षों से उपजे हैं यह कल्प वृक्ष वनस्पति काय नहीं और देवाधिष्ठित भी नहीं केवल पृथिवी काय रूप सार वस्तु हैं तहां मनुष्यों के युगल स्वर्ग लोकविषै जैसे देव रमै तैसे रमै हैं।

—:०:—

६— काल के नाम।

'जैन बाल गुटका' प्रथम भाग जिसको बा० ज्ञानचन्द्र जैनी ने बना कर छपाया सन् १८९० ई० लाहौर पृष्ठ ३४

१ सुखम सुखमा, २ सुखमा ३ सुखम दुखमा, ४ दुखम सुखमा ५ दुखमा ६ दुखम दुखमा।

—::०::—

काल की अवधि ।

प्रथम काल चार कोटा कोटि सागर का होय है। दूसरा ३ कोटा कोटि सागर का, तीसरा २ कोटा कोटि सागर का, चौथा ४२ हजार वर्ष घाट १ कोटा कोटि सागर का, पंचम २१ हज़ार वर्ष का, छटा २१ हज़ार वर्ष का होय है ।

नोट—प्रथम काल में महान सुख होता है दूसरे में सुख होता है दुःख नहीं परन्तु जैसा सुख प्रथम में होता है वैसा नहीं उससे कुछ कम होता है तीसरे में सुख है परन्तु किसी किसी को कुछ लेश मात्र दुःख भी होता है चौथे में दुख और सुख दोनों होते हैं पुण्यवानों को सुख होता है और पुण्य हीनों को दुःख होताहै बल्कि बाजवक्त पुण्यवानों को भी दुःख होजाता है पांचवें में दुख ही है सुख नहीं सुख नाम उसका है जिसे दुःख न होवे सो पंचम काल के जीवों को किसी को कुछ दुख है किसी को कुछ दुख है जिस प्रकार कोई दुखी पुरुष जब सो जाता है उसे अपने दुःख का स्मरण नहीं रहता इसी

प्रकार जब इस पंचम काल के जीव किसी विषे में रत हो जाते हैं तो जो दुःख उनके अन्तष्करण में है उसे भूल अपने तईं सुख माने हैं जब उनको फ़िर दुःख याद आवे हैं। वह फिर दुःख मानते हैं इस लिये पंचम काल में दुःख ही है सुख नहीं छटे काल में महादुःख है।

विषयानुक्रमणिका।

जैन प्रचारक के प्रश्नों का उत्तर जो रायबहादुर सेठ मेवाराम जी खुर्जावाले के शिष्य ने दिये हैं। पृष्ठ (३२—४३)

—::o::—

पद्म-पुराण।

उत्सर्पणी काल के आदि विषे प्रथम ही छठा काल हुखमा दुखमा प्रवर्ते है।

(प्रश्न १) उत्सर्पणी के छटे काल में विवाह की रीति रहती है या नहीं? अगर नहीं रहती तो ज़माने के इन्सान व्यभिचारी यानी ज़िनाकार होते हैं या नहीं?

(उत्तर) उत्सर्पणी के छटे काल में उत्तम भोग भूमि की रचना होती है इस लिये वहां विवाह की रीति नहीं है।

(प्रश्न २) प्रलय के बाद जो उत्सर्पणी का पहिला काल होता है इस में भी छटे काल जैसी

अवस्था होती है या नहीं यानी उत्सर्पणी के पहले काल में विवाह की रीति होती है या नहीं? अगर नहीं होती तो उस ज़माने के इन्सान व्यभिचारी यानी ज़िनाकार होते हैं या नहीं?

(उत्तर) उत्सर्पणी के पहिले काल में मनुष्य मृत्तिका आदि खाते हैं और अवसर्पणी के छठवें काल में वे मांस भक्षण करते हैं इस लिये अवत्सर्पणी के छठे से उत्सर्पणी का पहिला काल श्रेष्ठ है। उत्सर्पणी के पहिले काल में विवाह का निषेध त्रिलोक सारजी से स्पष्ट नहीं पाया जाता।

(प्रश्न ३) उत्सर्पणी के दूसरे काल में विवाह की रीति होती है या नहीं?

(उत्तर) उत्सर्पणी के दूसरे काल में विवाह की रीति होती है।

(प्रश्न ४) उत्सर्पणी के दूसरे काल में कुलकरों की

उत्पत्ति होती है या नहीं ? और क्या जब इस काल के एक हज़ार वर्ष बाक़ी रह जाते हैं तब कुलकर पैदा होते हैं ? और वह कुलकर पके वा दीगरे एक हज़ार वर्ष के अन्दर हो चुकते हैं ।

(उत्तर) उत्सर्पणी के दूसरे काल के अन्त में कुलकरों की उत्पत्ति होती है और वे सब एक हज़ार वर्ष में हो चुकते हैं ।

(प्रश्न ५) कुलकरों के होने से पहिले बिवाह की रीति होती है या नहीं ? और अगर नहीं होती तो क्या सब लोग व्यभिचारी होते हैं ? और अगर व्यभिचारी होते हैं तो क्या कुलकर भी उन्हीं व्यभिचारियों की औलाद से होते हैं ?

(उत्तर) कुलकरों की उत्पत्ति के पहिले बिवाह की रीति जारी होती है या नहीं, इस विषय में शास्त्र का प्रमाण देखने में नहीं आया ।

(प्रश्न ६) उत्सर्पणी के दूसरे काल के ख़तम होने पर

जब कि तीसरा काल (जिसको दूसरे सिल-सिले से चौथा काल भी कहते हैं) शुरू होता है तब तीर्थंकर भगवान पैदा होते हैं या नहीं ? और वह तीर्थंकर क्या उन्हीं लोगों की औलाद दर औलाद से नहीं होते जो एक हज़ार वर्ष पहिले ज़िनाकारी से पैदा होते थे, खुलासा यह है कि मज़मून हस्ब ज़ैल सहीह है या नहीं ?

"उत्सर्पिणी के छटे काल में २१ हज़ार वर्ष तक धर्म कर्म नहीं रहता है। विवाह शादी का भी दस्तूर जाता रहता है इन्सान ढंगरों की तरह बर्ताव करते हैं। और ज़िनाकारी से ही उस वक्त औलाद पैदा होती है इसके बाद उत्सर्पणी का पहिला काल आता है वह भी २१ हज़ार वर्ष का होता है और उसमें भी यही हालत रहती है फिर उत्सर्पिणी का दूसरा काल आता है इसका ज़माना भी २१ हज़ार वर्ष का

होता है। इस काल में २० हज़ार वर्ष तक तो पहिले की तरह जिनाकारी से ही औलाद पैदा होती रहती है। आख़ीर के एक हजार वर्ष में चौदह कुलकर होते हैं जो विवाह शादी वगैरह के तरीके बनाते हैं एक हज़ार वर्ष के बाद तीसरे काल में उन्हीं कुलकारों की औलाद में तीर्थंकर भगवान होते हैं यानी जो लोग ६२ हज़ार वर्ष तक बराबर जिनाकारों की औलाद दर औलाद होते चले आये थे उन्हीं की औलाद में एक हज़ार वर्ष बाद तीर्थंकर पैदा होते हैं।

उत्तर) उत्सर्पणी के तीसरे काल की आदि में तीर्थंकर पैदा होते हैं आपने उत्सर्पणी का छटा काल जो २१ हज़ार वर्ष का लिखा है सो मिथ्या है क्योंकि वह तीन पल्य का है और उसमें उत्तम भोग भूमि की रचना है

(प्रश्न ७) काल चक्र को आप मानते हैं या नहीं? और यह भी आप मानते हैं या नहीं ? कि चौथे काल में धर्म की तरक्की होती है २४ तीर्थंकर पैदा होते हैं और छटे काल में धर्म्म बिलकुल जाता रहता है

(उत्तर) काल चक्र को हम मानते हैं अवसर्पिणी के चौथे काल में धर्म्म वृद्धि और २४ तीर्थंकरों का पैदा होना तथा अवसर्पिणी के छटे काल में धर्म का नाश होना भी हम मानते हैं।

(प्रश्न ८) स्वामी दयानन्द सरस्वती और उनके चेला आर्य्यसमाजी लोग यह मानते हैं कि प्रलय हो जाने पर कोई आदमी बाकी नहीं रहता है और उसके बाद जब फिर सृष्टि होती है तब बगैर मा बाप के ही इन्सान पैदा हो जाते हैं, क्या आर्य्य समाजियों के इस मस्ले को आप गलत और नामुमकिन नहीं मानते हैं

(उत्तर) आर्य्यसमाजियों का मसला जैन शास्त्रों के विरुद्ध है।

(प्रश्न ९) क्या आप यह नहीं मानते हैं कि जैन धर्म को इस ही वजह से फ़ख़ हासिल है कि इसमें ऐसी २ नामुमकिन बातें नहीं हैं जैसी कि आर्य्यसमाजी मानते हैं मसलन् बग़ैर माँ बाप के इन्सान का पैदा हो जाना।

(उत्तर) बग़ैर माँ बाप के इन्सान पैदा नहीं होता

(प्रश्न १०) २४ तीर्थंकर गणधर और दीगर इन्सान जो मोक्ष जाते हैं वह सब अमूमन चौथे काल में होते हैं यह आप मानते हैं या नहीं? अगर मानते हैं तो क्या वह सब इन्सान जो चौथे काल में मोक्ष जाते हैं उन्हीं इन्सानों की औलाद दर औलाद नहीं होते जो छटे काल में महा पापी होते हैं और बिवाह के बिदून ही ज़िनाकारी से औलाद पैदा करते हैं।

(उत्तर) अवसर्पिणी के चौथे काल में तीर्थंकर गण-
धरादि हो सक्ते हैं ।

(प्रश्न ११) अगर उनकी औलाद दर औलाद नहीं
होते हैं तो क्या चौथे काल के धर्मात्मा
पुरुष वगैर मा बाप के पैदा होते हैं और
क्या इनके मा बापों के मा बाप नहीं
होते हैं और इसी तरह माँ बाप का
सिलसिला [illegible] २ वह सिलसिला छटे
काल [illegible] महापापी पुरुषों तक नहीं पहु-
चता है ?

(उत्तर) इस का उत्तर ऊपर दिया जा चुका है ।

(प्रश्न १२) क्या यह [illegible] झूठ है कि अवसर्पिणी के
पहिले दूसरे और तीसरे काल में विवाह
की [illegible] और विवाह
[illegible] नसे यानी मा-
[illegible] जाता है और
[illegible] रहती है ।

(उत्तर) अवसर्पणी के पहिले, दूसरे तीसरे काल में विवाह की रीति नहीं होती यह सहीह है। भोगभूमि में स्त्री पुरुष दोनों एक ही माता के द्वारा उत्पन्न होने पर भी वहिन भाई नहीं कहला सके क्योंकि बिना विवाह ही वे एक दूसरे के नियोगी हैं और कर्म भूमि की अपेक्षा से प्रवर्तित वहिन भाई का व्यवहार भोगभूमि में घटित नहीं हो सक्ता कारण कि भोगभूमि और कर्म भूमि के प्रायः सभी नियम जुदे जुदे हैं यदि एक काल व क्षेत्र जनित व्यवहार को दूसरे काल व क्षेत्र में घटित किया जावेगा और नियोगी विधि न मानी जावेगी तो १६ वें स्वर्ग तक के प्रायः सभी देव देवी व्यभिचारी सिद्ध हो जावेंगे।

प्रश्न १३) क्या यह बात झूंठ है कि इन्हीं लोगों की औलाद में जो एक माजाई वहिन भाई के आपस के भोग से पैदा होते रहते हैं यानी युगालिया भोग भूमिया आदमियों की औ-

लाद से ही तीसरे काल के अख़ीर में १४ कुल-
कर पैदा होते हैं और आख़िरी कुल-कर
विवाह की रीति चलाते हैं और आ-
ख़िरी कुल कर की औलाद आदि तीर्थंकर
होते हैं ।

(उत्तर) भोग भूमिया माजाई बहिन के साथ भोग
करते हैं यह आप का मानना ग़लत है क्यों
कि वह उस की नियोगिनी है ।

महानुभावो ! मैंने एक पंक्ति पद्मपुराण की लिखी
है और दूसरे जैन प्रचारक के उन प्रश्नों का उत्तर
दिया है जो रायबहादुर सेठ मेवाराम जी खुजां वाले
के शिष्य ने "विषयानुक्रमणिका,, में दिये हैं कि
व्यभिचार से संतान की उत्पत्ति और छटेकाल में मांस-
भक्षण का विधान यह जैनियों के मन्तव्यानुसार लिखा
है । इसको आप स्वयं ही निष्पक्ष होकर पढ़ेंगे ।
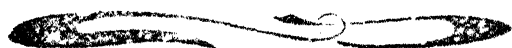
श्री तत्वनिर्णयप्रसाद।

सफा ५५२ और ५५३ पृष्ठ—आजी—चन्दलालएण्ड कम्पनी आगरा के
यन्त्रालय में सिर्फ टाइटिल पेज छपा कर प्रकाशित किया है।
वीर सम्वत् २४२८ ई० सं० १९०२।

तत्त्वार्थ सूत्र की सर्वार्थ सिद्धि भाषा टीका के प्रारंभ में ही ऐसा लेख लिखा है कि, गौतमस्वामी गणधर का प्रश्नोत्तर का प्रसंग ल्याय शिथिलाचार पोषण के हेतु दृष्टांत युक्ति बनाय प्रवृति करी, तिन सूत्रनि के आचारांगादि नाम धरे तिन में केतेइक कथन किये केवली कवलाहार करै/ स्त्री कूं मोक्ष होय/ स्त्री तीर्थंकर भया/ परीग्रहसहित कूं मोक्ष होय,/ साधु उपकरण वस्त्र पात्र आदि चौदह राखे तथा रोगग्लान आदि वेदनाकरी पीड़ित साधु होय तो मद्य, मांस सहित का आहार करै तो दोष नहीं,/ एक साधु को मोदक काभोजन करता ही आत्मनिन्दा करी तब केवल ज्ञान उपज्या/ एक साधु

रोगी गुरु को कांधे ले चल्या आखड़ता चाल्या गुरु लाठी की दई तब आत्मनिन्दा करी ताको केवल ज्ञान उपज्या तब गुरु वाके पग पड्या/ मरु देवी को हस्ती परी चढ़े ही केवल ज्ञान उपज्या/ तथा श्री वर्द्धमान स्वामी ब्राह्मणी के गर्भ में आये तब इंद्र वहां ते काढि सिद्धार्थ राजा की राणी के गर्भ में थापे, तथा तिन कूं केवल उपजे पीछे गोसाला नाम गरुड्या कूं दिख्यादई सो वाने तप बहुत किया वाके ज्ञान वध्या रिद्धि फुरी तब भगवान् सूं बाद किया । तब बाद में हाम्या सो भगवान् सूं कषाय करि तेज लेश्या चलाय सो भगवान् के पेचक का रोग हुआ । तब भगवान के खेद बहुत हुआ तब साधा ने कही एक राजा की राणी विलाय के निमित्त कूकड़ा कबूतर मारि भुतलक्या है सो वे महारेताई ल्यावो तब यहु रोग मिट जासी तब एक साधु वह ल्याया. भगवान् खाया. तब रोग मिट्या ॥ श्रीरत्नकरंड श्रावकाचार ॥ बाबू सूर्य्यभानु वकील देवबन्द जिला सहारनपुर

पृष्ठ ७ आहार छह प्रकार हैं ॥ कर्म आहार ॥ १ ॥ नोकर्मआहार ॥ २ ॥ कवलाहार ॥ ३ ॥ लेपआहार

॥ ४ ॥ उजाआहार ॥ ५ ॥ मानसिक आहार ॥ ६ ॥ ऐसे छह प्रकार हैं ॥ भगवान् अरहंत के तो अन्य जीवन के असंभव ऐसे शुभ सूक्ष्म नो कर्म वर्गणा का ग्रहण सो ही आहार है। अर नारकीन के कर्मका भोगना सो ही आहार है। अर चार प्रकार के देवनके मानसिक आहार है मन में वांच्छा होते ही कंठ में ते अमृत भरै है ताकर तृप्तता है मनुष्य अर पशु वन के कवलाहार है। अर पक्षीन के अंडे में तिष्ठतेन के माता का उदर की उष्मा रूप उजा-हार है। अर एकेंद्रिय पृथिव्यादिकन के लेप आहार है। पृथिव्यादिकन का स्पर्श ही आहार है बहुरि भोग भूम के औदारिक देह के (२) धारक (२० पृष्ट ८) मनुष्यनि का शरीर तीन कोस प्रमाण अरु भोजन आवला प्रमाण तीन दिन के अंतर गये लेय है। याते कवलाहार ही देह की स्थिति का कारण नहीं है। अर जो आहार कपनाते कवलाहार की ही कल्पना करो हो। तो संयोगी पनाते मन के मानने का अरु प्राण मानने ते पंच इंद्रियनका अर शुक्ल लेश्याते कषाय हू का प्रसंग आवेगा ॥ अर एकादश परीसह जिनके है, ऐसे

कहना तो उपचारमात्र है वेदनीय कर्म विद्यमान हैं यातें कहा है। परंतु जैसे मंत्र औषधि आदिक के प्रभाव करिजाकी विष शक्ति नष्ट भई ऐसा विष मारने कूं समर्थ नहीं तैसे शक्तिरहित आसाता वेदनीय क्षुधा उपजावनेकूं समर्थ नहीं है। मणिमंत्र औषधि विद्या ऋद्धादिकनिका अचिंत्यप्रभाव है (श्वेताम्बरनि के कल्पित सूत्र तिन में अनेक कल्पित असंभव रचना रची है)

समीक्षा मुहक्कक ।

मनुष्य का शरीर तीन कोस का प्रमाण अर भोजन आंवलातीन दिन के अंतर गये लेय है इत्यादि कल्पित सूत्र तिन में अनेक कल्पित रचना रची हैं अर जो मनुष्य हम के सारांश को नीचे ऊपर मिला कर और आशय निकालना चाहते हैं वह सिद्ध नहीं हो सकता।

(३) र० पृ० ८] कोऊ एक गोसाला नाम गरोह्या महावीर स्वामी के निकट दीक्षित होय विद्या का मद कर महावीर स्वामी सूं विवाद करने कूं समोसरण में जाय विवाद किया तहां विवाद में हारि गया तदि क्रोध कर भगवान ऊपर ते जो लेश्या कोऊ ऋद्धि

अग्निमय प्रज्वलित चलाई तिस कर समोसरण में दोय मुनि सिंहासन नीचे दग्ध भये ॥ अर उस तेजस ऋद्धि तें उपजी अग्निमय ज्वाला भगवान ऊपर भी जाय पहुंची भगवान कूं उपसर्ग भारी भया ॥ तिस अग्नि की गर्म बाधा तें भगवान के आव रुधिर का पेचस अतीसार भया सो छह महीना रहा पाछै केवल ज्ञान तें जान कै शिष्य कूं कह कोऊ सेठ का सुपक्व जीव का पका मांस कूं मंगाय भक्षण कर व्याधि मेटी ।

[(४) र० का पृ० ८] जैन मत की शिक्षा (आर्य्य-मुसाफ़िर जिल्द नौ अपरैल सन् १९०७ ई० नं० सफ़ा ५५७ नम्बर १७ जैनमत की तालीम है कि महावीर तीर्थंकर ने वास्ते सेहत जिस्मानी ॥ पक्षी का पका मांस खाया

[(५) र० का पृ० ९] तथा कोऊ हरिक्षेत्र का निवासी मनुष्य जा का दोय कोस ऊंचा काय तिस कूं कोऊ पूर्व जन्म का बैरी देव हरि ल्याया ॥ अर दोय कोस की देह को छोटा करकै भरतक्षेत्र में ल्याय मथुरा नगर का राज देय अर मांस भक्षण कराय ॥ तासूं हरि वंस की उत्पत्ति कहैं हैं ।

जैनमत की शिक्षा या तालीम आर्य्यमुसाफ़िर जिल्द नौ अपरैल सन् १९०७ नम्बर ७ सफ़ा ५५८ ।

(नं० १८) जैनमत की तालीम है कि हरीक्षेत्र के एक जंगली को कि जिस का दो कोस का जिस्म था एक जैनी देवता ने मथुरा में लाकर अव्वल तो जिस्म छोटा किया बाद में उस के मुंह में गोश्त भर कर उस का मुंह खराब कर दिया । रत्नकंड श्रावकाचार सफा ९ ।

(छः वां प्रमाण र० श्रा० पृ० १०) तथा गंगादेवी से पचपन हजार वर्ष पर्यंत भरत चक्री ने काम भोग किया कहैं हैं तथा भोग भूमि के युगल मल मूत्र धारण करैं हैं अर मरजांय तदि तीन कोस के मुरदे के शरीर कूं देवता उठाय भेरुंडादिक पक्षीन को खुवाय देय हैं जादव आदिक समस्त क्षत्रियनि कूं मांस भक्षी कहैं हैं ॥

(७वां प्र०) विषयानुक्रमणिका पण्डित सेठ मेवाराम जी साहब का शिष्य. वारूमल गार्गेय उत्तरदाता खुर्जा पृष्ठ ३२ व ३३ ।

(प्रश्न १) उत्सर्पिणी के छटे काल में विवाह की

रीति रहती है या नहीं ? अगर नहीं रहती तो ज़माने के इन्सान व्यभिचारी यानी ज़िनाकार होते हैं या नहीं

(उत्तर) उत्सर्पिणी के छटे काल में उत्तम भोग भूमि की रचना होती है इसलिये वहां विवाह की रीति नहीं है।

(प्रश्न २) प्रलय के बाद जो उत्सर्पिणी का पहिला काल होता है इस में भी छटे काल जैसी अवस्था होती है या नहीं यानी उत्सर्पिणी के पहिले काल में विवाह की रीति होती है या नहीं अगर नहीं होती तो उस ज़माने के इन्सान व्यभिचारी यानी ज़िनाकार होते हैं या नहीं।

(उत्तर) उत्सर्पिणी के पहिले काल में मनुष्य मृत्ति का आदि खाते हैं और अवसर्पिणी के छटे काल में वे मांस भक्षण करते हैं इसलिये अवसर्पिणी के छटे से उत्सर्पिणी का पहिला काल श्रेष्ठ है उत्सर्पिणी के पहिले काल में विवाह का निषेध त्रिलोकसार जी से स्पष्ट नहीं पाया जाता यदि विवाह का अभावमान लिया जावे तो भी वे लोग व्यभिचारी नहीं कहला सकते क्योंकि

व्यभिचारी शब्द सापेक्ष है अर्थात् विवाह विधि से जब स्वस्त्री परस्त्री का भेद हो जाता है तभी उसकी प्रवृत्ति होती है ।

(८वां प्र०) (देहली में सभा और आवश्यक सूचना) जै० ग० वर्ष १९ अंक ५ मिती मार्गशिर शुक्ला ४ वीर सं० २४४० पृष्ठ ८ ।

पं० गोपालदास जी बरैया ने जैन धर्म प्रवर्द्धिनी सभा देहली में मिती कार्तिक शुक्ला ३ ता० १-११-१३ की रात्रि को आम जल्से में अपने व्याख्यान में प्रगट किया कि सम्यक दृष्टि भी अरुचि पूर्वक मांस खा सकता है और उसके सम्युक्त में कोई दूषण नहीं आ सकता अर्थात् मांस खाने वाले के भी सम्यक्त की सत्ता मौजूद रहती है समर्थन में आपने कहा जिसके कुल में मांसाहार करते आये हो ऐसे पुरुष को सम्यक्त उत्पन्न हो और मांस के बिना निर्वाह न होसके तो वह मांस खावे तो कोई दूषण नहीं फिर आगम प्रमाण यह दिया कि अव्रत असम्यक दृष्टि चतुर्थ गुण स्थान वर्ती के सम्यक्त का घातक मिथ्यत्व प्रकृति और स्वरूपाचरण चारित्र और सम्यक्त का घातक

अनन्तानुबन्धी चतुष्क कषाय का उपसम होने से प्रथ-मौपशम सम्यक्त होय है और संयमाचारित्र का अप्रत्या-ख्याना वरण कषाय के उदय होने से कोई भी व्रत नहीं और चारों ही गति में सम्यक्त की उत्पत्ति है तथा हिं-सक तिर्यंच सिंहादिक जिन का मांस ही आहार है उन के सम्यक्त है और जो मांस का त्याग कहिये तो व्रत हो जायगे सो नहीं इत्यादि प्रकार पं० जी ने अपने पक्ष को खूब ही दृढ़ किया। और कहा कि जिस को संशय हो हम से चरचा करै पुनः सभा विसरजन होने के पश्चात् जितने कहने के अधिकारी थे सब ही ने पं० जी से कहा कि यह व्याख्यान देना योग्य न था पं० जी ने यही उत्तर दिया कि हमने जो कहा सब सिद्धान्ता-नुकूल है अब दाबा दूबी का समय नहीं है हम दूसकर कथन नहीं करेंगे हम किसी के भिक्षुक नहीं है चिरकाल से दबा हुआ सिद्धान्त अब हमने प्रकट किया है इसके प्रकटाने से संकोच नही करेंगे ॥

(९ वां प्र०) अथ पद्मपुराण भाषा, बादू ज्ञान-

चन्द्र जैनी लाहौर निवासी ने छपवाया पृष्ठ ४२८ से ४३२ तक का लेखः—

११३ मनुष्य भक्षी राजा सौदास का वर्णन
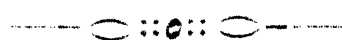
अथानन्तर सुकौशल की राणी विचित्र माला उसके सम्पूर्ण समय पर सुन्दर लक्षणों कर मंडित पुत्र होता भया जब पुत्र गर्भ में आया तब ही से माता सुवर्ण की कांति को धरती भई इस लिये पुत्र का नाम हिरण्यगर्भ पृथिवी विषे प्रसिद्ध भया सो हिरण्यगर्भ ऐसा राजा भया मानों अपने गुणों कर फिर ऋषभदेव का समय प्रकट किया सो राजा हरि की पुत्री अमृतवती महा-मनोहर उसने परणी. राजा अपने मित्र बांधवों कर सं-युक्त पूर्णद्रव्य के स्वामी मानों स्वर्ण के पर्वत हैं सर्व शास्त्र के पारगामी देवों समान उत्कृष्ट भोग भोगते भये एक समय राजा उदार है चित जिनका दर्पण में मुख देखते थे सो भ्रमर समान श्याम केशों के मध्य एक सुफेद केश देखा तब चित में विचारते भये कि यह काल

का दूत आया बलात्कार यह जरा शक्ति कांतिकी नाश करण हारी इसकर मेरे अंग उपांग शिथिल होवेंगे यह चन्दन के वृक्ष समान मेरी काया अब जरा रूप अग्नि कर जले अंगार तुल्य होयगी यह जरा छिद्र हेरे ही है सो समय पाय पिशाचनी की न्याईं मेरे शरीर में प्रवेश कर बाधा करेगी और काल रूपसिंह चिरकाल से मेरे भक्षण का अभिलाषी था सो अब मेरे देह को बला-त्कार से भषेगा धन्य है वह पुरुष जो कर्म भूमिको पाय कर तरुण अवस्था विषे व्रत रूप जहाज विषे चढ़कर भवसागर को तिरे ऐसा चितवन कर राणी अमृतवती का पुत्र जो नघोष उसे ही राज विषे थाम कर विमल मुनि के निकट दिगंबरी दिक्षा धरी यह नघोष माता के गर्भ में आया तबही से कोई पाप का बचन न कहे इस लिये नघोष कहाये पृथिवी विषे प्रसिद्ध है गुण जिन के तिन गुणों के पुंज तिनके सिंहिका नाम राणी उसे अयोध्या विषे राख उत्तर दिशा के सामंतो को जीतने चढ़े तब राजा को दूर गया जान दक्षिण दिशा के राजा बड़ी सेना के स्वामी अयोध्या लेयवे को आए

तब राणी सिंहि का महाप्रतापिनी बड़ी फौजकर चढ़ी सो सर्व बैरियों को रण विषेजीतकर अयोध्या दृढ़ थाना राख आप अनेक सामंतों को ले दक्षिणदिशा जीतवे को गई कैसी हैं राणी शास्त्र विद्या और शस्त्र विद्या का किया है अभ्यास जिसने प्रताप कर दक्षिण दिशाके सामंतों को जीत कर जय शब्द कर पूरित पीछे अयोध्या आई. और राजा नघोस उत्तर दिशाको जीत कर आए सो स्त्री का पराक्रम सुन कोप को प्राप्त भए. मन में विचारी जे कुलवंती स्त्री अखण्डित शील की पालनहारी हैं तिनमें एती धीठता न चाहिये ऐसा निश्चय कर राणी सिंहिका से उदासचित्त भए. यह पतिव्रता महाशीलवन्ती पवित्र है चेष्टा जिस की पट-राणी के पद से दूर करी सो महा दरिद्रता को प्राप्त भई ॥ अथानन्तर राजा के महादाह ज्वर का विकार उपजा सो सर्व वैद्य यत्न करें पर तिनकी औषधि न लागे तब राणी सिंहिका राजा को रोगग्रस्त जान कर व्याकुलचित्त भई और अपनी शुद्धता के अर्थ यह पतिव्रता पुरोहित मंत्री सामन्त सबन को बुलाय पुरोहितके हाथ

अपने हाथ का जल दीया, और कही कि यदि मैं मन वचन काय कर पतिव्रता हूं तो इस जल कर सीचा राजा दाह ज्वर कर रहित होवे, तब जलसे सींचते ही राजा का ज्वर मिट गया और हिम विषे मग्न जैसा शीतल होय तैसा शीतल होय गया मुखसे ऐसे मनोहर शब्द कहता भया जैसे वीणा के शब्द होवें और आकाश विषे यह शब्द होते भये कि यह राणी सिंहिका पतिव्रता महाशीलवन्ती धन्य है धन्य है और आकाश से पुष्प वर्षा भई तब राजा ने राणी को महाशीलवन्ती जान फिर पट राणी का पद दीया और बहुत दिन निःकंटक राज किया फिर अपने बड़ों के चरित चित्त विषे धारि संसार की माया से निस्पृह होय सिंहका राणी का पुत्र जो सौदास उसे राज्य देय आप धीर वीर मुनि व्रत धरे. जो कार्य पर परायइन के वड़े करते आये हैं सो किया सौदास राज करे सो मांस आहारी भया इन के वंश में किसी ने यह आहार न किया यह दुराचारी अष्टान्ह का के दिवस में भी अभक्ष्य आहार न तजता भया एक दिन रसोईदार से कहता भया कि

मेरे मांस भक्षण का अभिलाष उपजा है तब तिस ने कही हे महाराज ये अष्टानिका के दिन हैं सर्व लोक भगवान की पूजा और व्रत नियम विषे तत्पर हैं पृथिवी विषे धर्म का उद्योग होय रहा है इन दिनों में ये वस्तु अलभ्य है. तब राजा ने कही इस वस्तु विना मेरा मन रहे नहीं इसलिये जिस उपाय कर यह वस्तु मिले सो कर तब रसोईदार यह राजा की दशा देख नगर के बाहिर गया एक मूवा हुवा बालक देखा उसी दिन वह मूवा था सो उसी वस्त्र में लपेट कर ले आया स्वादु वस्तुवों कर उसे मिलाय पकाय राजा को भोजन दीया सो राजा भक्षण कर प्रसन्न भया और रसोईदार से एकान्त में पूछता भया कि हे भद्र यह मांस तू कहां से लाया अब तक ऐसा मांस मैंने भक्षण न किया तब रसोईदार अभयदान मांग यथावत कहता भया तब राजा कहता भया ऐसा ही मांस सदा लाया कर तब यह रसोईदार बालकों को लाडू बांटता भया तिन लड्डुवों के लालच से बालक निरन्तर आवें सो बालक लाडू लेकर जावें तब जो पीछे रह जाय उसे यह रसोईदार मार राजा

को भक्षण करावे निरन्तर बालक नगर में छीजने लगे तब यह वृत्तान्त लोगों ने जान रसोईदार सहित राजा को देश से निकाल दिया) और इस की राणी कनकप्रभा उस का पुत्र सिंहरथ उसे राज्य दिया तब यह सर्वत्र अनादर हुवा महादुखी पृथिवी विषे भ्रमण करे जे मृतक बालक मसान विषे लोग डार आवें तिन को भखे जैसे सिंह मनुष्यों को भक्षण करे तैसे यह भक्षण करे इसलिये इस का नाम सिंह सौदास पृथिवी विषे प्रसिद्ध भया फिर यह दक्षिण दिशा गया वहां मुनि का दर्शन कर धर्म श्रवण कर श्रावक के व्रत धारता भया फिर एक महापुर नगर वहां का राजा मूवा उस के पुत्र नहीं था तब सब ने यह विचार किया कि जिसे पाटबन्ध हस्ती जाय कांधे चढ़ाय लावे सो राजा होवे तब इसे कांधे चढ़ाय हस्ती ले गया तब इस को राज्य दिया यह न्याय संयुक्त राज करे और पुत्र के निकट दूत भेजा कि तू मेरी आज्ञा मान तब उस ने लिखा कि तू महानिन्द्य है मैं तुझे नमस्कार न करूं तब यह पुत्र पर चढ़ कर गया इसे आवता सुन लोग भागने लगे कि यह मनुष्यों

को खायगा पुत्र के और इस के महायुद्ध भया सो पुत्र को युद्ध विषै जीत दोनों ठौर का राज्य पुत्र को देकर आप महावैराग्य को प्राप्त होय तपके अर्थ बन में गया।

अथानन्तर इसके पुत्र सिंहरथ के ब्रह्मरथ पुत्र भया उसके चतुर्मुख उसके हेमरथ उसके सत्यरथ उसके पृथूरथ उसके पयोरथ उसके दृढरथ उसके सूर्य्यरथ उसके मांधाता उसके वीरसेन उसके पृथ्वीमन्यु उसके कमल-वन्धु दीप्ति कर मानो सूर्य्य ही है समस्त मर्याद विषै प्रवीण उसके रविमन्यु उसके वसन्ततिलक उसके कुवेर-दत्त उसके कुन्थु भक्त सो महा कीर्तिका धारी उसके शत रथ उसके द्विरिदरथ उसके सिंहदमन उसके हिरण-यकशिपु उसके पुञ्जस्थल उसके ककुस्थल उसके रघु महा-पराक्रमी यह इक्ष्वाक वंश श्री ऋषभदेव से प्रवरता सो वंश की महिमा हे श्रेणिक तुझे कहीं ऋषभदेव के वंश में श्रीराम पर्यंत अनेक बड़े २ राजा भए ते मुनिव्रत धार मोक्ष गए के एक अहमिन्द्र भए के एक स्वर्ग में प्राप्त भए।

(१० वां प्र०) भूमण्डल के जैनियों से प्रश्न, पं० रामदयाल शर्मा सर्वेयर इटावा निवासी कृत बलदेव प्रसाद लेट पटवारी इटावा निवासी ने प्रकाशित किया सं० १९१३ ई० (पृ० ३) अती प्रतिष्ठत घराने जैनियों का वृत्तान्त । शिवदास (सौदास) अति प्रतिष्ठित घराने का जैनी था जिसने हजारों मनुष्य के बच्चे खाये थे (जैन पद्म पुराण दिगम्बरी पृष्ठ ४२१) (११ वां प्र० जैनतत्वादर्श ग्रन्थ. पृष्ठ ३६१: प्रथम दंतकुवाणिज्य सो हाथी का दांत उल्लूके नख जीभ कलेजा पक्षीयोंका रोम तथा गाय का चमड़ा (पशुओं का मांस) हरण के सींग बारासिंगे के सींग कुस जिस्मे रेसम रंगते हैं इत्यादिक जो त्रस जीव का अंगोपांग बेचना है सो सर्व दंतकुवाणिज्य है जब इन वस्तुओं के लेने वास्ते आगर में जावे तब भिल्लादिक लोक तत्काल हाथी गेंडा प्रमुख जीवों की हिंसा में प्रवर्त्त होते हैं तहां जाने से अपणा परिणाम भी मलिन होजाते हैं इस वास्ते जे कर वस्तु लेनी पड़े तब व्यापारी के पास सें लेवे परन्तु आगर में जाकर

न लेवे (१२ वां प्र०) भूमण्डल के जैनियों से प्रश्न सफ़ा १३—यदि जैनियों को उल्लू आदि पक्षी या पशुओं का मांस तथा कलेजा या अन्य आंगोपांग की आवश्यकता होतो भीलों से न लें किन्तु अन्य दुकानदारों से लेलेवें जैन तत्त्वादर्श पृष्ठ ३६१। क्या दुकानदारों से मोल लेने से हिंसा भागी जैनी होंगे या नहीं और भीलों से लेने में क्या हानि है। (१३ वां प्र०) तनाज़ फितनें अंगेज़ सन् १९१३ ई० श्री आ० सं० १७ श्री वी० सं० २४३९ प्रेस लाहोर पृष्ठ १४—२६ जुलाई सन् १९१२ को श्री लब्धी विजे महाराज का लैक्चर हुआ जीव दया के बारे में चन्द आदमियों में यानी जैनियों में खुद ही चीन बर्चीन होकर बोले वो हमारे गुरु नहीं हैं और उन के शास्त्रों में मांस का विधान है (१४ वां प्र०) भूमंडल के जैनियों से प्रश्न पृष्ठ ३ (२) अर्हिदेव और महिदेव इन दोनों जैनमतावलम्बियों के यहां नित्य प्रत्य मछलियां पका करती थीं (देखो जैन पद्म पुराण दिगम्बर पृष्ठ ७५८) कहिये यह मछलियां किस लिये पका करती थीं।

पाठक अब आप सत्यासत्य निर्णय बुद्धि से स्वयं विचारिये कि मांस भक्षण के आदि प्रचारक जैनी थे या नहीं ?

॥ इत्यलम् ॥

---:o:---

मुहक्किक की लहरें ।

ओ३म् का ध्यान करो यही है पूर्ण भलाई ।
ऋषि मुनियों की रीति सदा से यही चली आई ।
दिल लगाओ हर घड़ी परमात्मा के ध्यान में ।
भूलना लाज़िम नहीं है जान जब तक जान में ।
विजय हो जार्ज पंचम की दुआ ईश्वर से करते हैं ।
कि जिनके राज में हमदिल का अरमाँ राज़ करते हैं

सम्भव है कि मेरे इस लेख में भ्रम वश कोई भूल रह गई हो यदि कोई साहब इसे बताने की कृपा करेंगे । तो मैं सहर्ष मानलूंगा । क्योंकि यह पुस्तक किसी का जी दुखाने के लिये कदापि नहीं लिखी गई सब बातें सद्भाव पूर्वक लिखी हैं अतएव मुझे सत्य के ग्रहण करने में कुछ भी पसोपेश न होगा ।

जैनियों से प्रश्न

—————:०:—————

समस्त जैन धर्मावलम्बियों को विदित हो कि मोक्षमार्ग प्रकाश नामक जैन पुस्तक में जो प्रमाण वेदादि शास्त्रों से जैनमत की प्राचीनता सिद्ध करने में लिखे हैं उसमें अधिकांश मन्त्र तथा श्लोकों का पता ही नहीं मिलता और शेष का अर्थ बिगाड़ दिया है। अस्तु जो सज्जन निम्न मन्त्रों को वेदादि शास्त्रों में दिखलावेंगे उनको ५००) पारितोषिक दिया जायगा।

(१) मोक्षमार्ग प्रकाश सन् १९११ प्रकाशक जैन ग्रन्थ-रत्नाकर कार्यालय बम्बई पृष्ठ २०१ पंक्ति ५ से।

कुलादि-बीजं सर्वेषां प्रथमो विमलवाहनः।
चक्षुष्मान् यशस्वी चाभिचंद्रोऽथ प्रसेनजित् ॥ १ ॥
मरुदेवीच नाभिश्च भरते कुलसत्तमाः। अष्टमो
मरुदेव्यां तु नाभेर्जात उरुक्रमः ॥ २ ॥

दर्शयन् वर्त्म वीराणां सुरासुरनमस्कृतः।
नीति त्रितयकर्त्ता यो युगादौ प्रथमो जिनः
॥ ३ ॥ मनुस्मृति।

"ॐ त्रैलोक्यप्रतिष्ठितान् चतुर्विंशतितीर्थंकरान् ऋषभाद्यावर्द्धमानान्तान् सिद्धान् शरणं प्रपद्ये ।
ॐ पवित्र नग्नमुपवि प्रसामहे एषां नग्ना (नग्नये) जातिर्येषां वीरा,, इत्यादि ऋग्वेद ।

ॐ नमो अर्हन्तो ऋषभो ॐ ऋषभ पवित्रं पुरहूतमध्वरं यज्ञेषु नग्न परमं माहसस्तुतं वरं शत्रुं जयंतं पशुरिंद्रमाहुतिरिति स्वाहा । ॐ त्रातारमिंद्रं ऋषभ वदन्ति अमृतारमिंद्रं हुवे सुगतं सुपार्श्वमिंद्रं हवे शक्रमजितं तद्वर्द्धमानपुरहूतमिंद्रमाहुरिति स्वाहा । ॐ नग्नं सुधीरं दिग्वाससं ब्रह्मगर्भं सनातनं उपैमि वीरं पुरुषमर्हंतमादित्यवर्णं तमसः पुरस्तात् स्वाहा: ......दीर्घायुस्त्वायबलायुर्वा शुभजातायः ॐ रक्ष रक्ष अरिष्टनेमिः स्वाहा । वामदेव शान्त्यर्थं मनुविधीयते सोऽस्माकं अरिष्टनेमिः स्वाहा । यजुर्वेदः ।

(२) मोक्षमार्ग प्रकाश परिशिष्ट भाग पृष्ठ ४८९ सगृहीत कुंवर दिग्विजय सिंह ने निम्न मन्त्र दिये हैं ।

अर्हन्बिभर्षि सायकानि धन्वार्हन्निष्कं यजत विश्वरूपम् । अर्हन्निदं दय से विश्वं भवभुवन वा ओजीयो रुद्र त्वदस्ति ॥ ऋ०अ०२सू०३३मं०१०

वाजस्य नु प्रसव आबभूवेमा च विश्वा भुव-
नानि सर्वतः।

सनेमि राजा परियाति विद्वान् प्रजां पुष्टिं वर्ध-
यमानो अस्मे स्वाहा। (यजुर्वेद अध्याय ९ मं० २५)
आतिथ्यरूपं मासरं महावीरस्य नग्नहुः। रूप-
मुपसदामेतत्तिस्रो रात्रीः सुरा सुता ॥ (यजु०
अ० १९ मंत्र १४)

अर्हन शब्द के अर्थ अरहन्त देव के किस प्राचीन भाष्यकार ने या ब्राह्मण ग्रन्थों में ग्रहण किये हैं तथा इन मंत्र में अर्हन् ३ दफे क्यों आया। सनेमि शब्द एक पद है वैसा ही पद पाठ तथा कुल प्राचीन भाष्यों में है। इस के दो खंड सनेमि किस व्याकरण से किये हैं और महावीरस्य शब्द के अर्थ महावीर तीर्थंकर किस प्राचीन ग्रन्थों से लिखे हैं। इन मन्त्रों का देवता ऋषि छन्द भी बतलाइये। यदि अर्हन् पद के आजाने से तीर्थंकर का ग्रहण होता है तो "ईशा वास्य" मन्त्र में ईशा आजाने से ईसामसीह का ग्रहण क्यों नहीं होता।

(३) जैन गजट संख्या ३०, ३१ ता० २१-२२ जून सन्

१९१५ ई० अरिष्टनेमि शब्द का अर्थ नेमनाथ २२ वां तीर्थंकर का नाम निरुक्त निघंटु-ब्राह्मण ग्रन्थ एवं रावण, महीधर, उवट, सायणाचार्य, नीलकंठ, उदयप्रकाश या किसी अंगरेजी अनुवाद से सिद्ध कर दिखलाना चाहिये तथा इस मंत्र का देवता छंद प्रकरण इत्यादि दिखलाना चाहिये ।

मैंने उपर्युक्त लिखे जैनियों से प्रश्न किये लेकिन मुमालिक के जैनियों मेंसे किसी ने भी इसका उत्तर अभी तक नहीं दिया इस लिये सत्यासत्य के निर्णय करने के लिये इसको प्रकाशित करता हूं ।

(४) तीर्थंकर शब्द किसी वेदादि व ब्राह्मण ग्रन्थों में दिखलाना चाहिये ।

(नोट) पंडित मक्खनलाल जी शास्त्री जैनी मौजे टेहू परगना एत्मादपुर के कथनानुसार इत्यादि में ६०० सौ वर्ष की और अन्य जगह उससे अधिक वर्ष की अनेक प्रतियां वेदों की मौजूद हैं परन्तु किसी प्रति में प्रश्न सं० १ के मंत्र नहीं मिले जो सज्जन उपरोक्त प्रश्नों का उत्तर एक महीने के अन्दर देंगे उनको ५००) दिये जावेंगे प्रश्नों के उत्तर लिखे हुये भेजने चाहियें—जबानी उत्तर माननीय न होगा ।

"आस्तिकता का प्रमाण,,

मैं श्री अग्नि ऋषि, श्री वायु ऋषि, श्री आदित्य-ऋषि, श्री अंगराऋषि, श्री ब्रह्मा ऋषि से लेकर जितने अन्य ऋषि मुनि व महात्मा लोग जैसे महात्मा ज़रदुश्त हज़रत ईसा, स्वामी शंकराचार्य्य जी, हज़रत मुहम्मद, गुरु नानक, स्वामी दयानन्द सरस्वती जी इत्यादि जिन्होंने इस भारतवर्ष तथा अन्य मुल्कों में एक अद्वितीय अनादि दयाल परमात्मा का उपदेश किया है, आदर पूर्वक मानता हूं ।

—:-:०:-:—

प्रार्थना ।

प्रिय पाठक ! परमात्मा को कोटानि कोट धन्यवाद देने के पश्चात् हम अपनी न्याय शीला वृटिश गवर्नमेण्ट को अनेकानेक धन्यवाद देते हैं कि जिसके सुशासन काल में सिंह, गाय एक घाट पानी पीते हैं और प्रत्येक मनुष्य अपने स्वधर्म का भली प्रकार पालन करते हुये उस पर अपने बिचारों को प्रकट करते हैं हम अपने श्री महाराजाधिराज श्री जार्ज पंचम जो कि न्याय और धर्म के वश इस महायुद्ध में सम्मिलित हुये हैं, के लिये ईश्वर से बार २ यही प्रार्थना करते हैं कि वो इस युद्ध में हर प्रकार से विजयी हों ।